

न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय श्री यशोविजयजी कृत

जैन-तर्क भाषा

(हिन्दी विवेचन)

पुन्य स्मरण

इस ग्रंथ की रचना करने में जिनकी महती कृपा, अनुपम आशी: और अमृत - भरी दृष्टिसे मुझे प्रेरणा मिली है, उन गुरुदेव पू. प्रशान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय

जितमृगाङ्कसूरीश्वरजी

म. सा. के

पावन चरणों में कोटिश: प्रणाम ।

खेद है - जिनकी प्रेरणा इस ग्रंथ की रचना और प्रकाशन में मूल कारण है - उनके जीवन काल में इस ग्रंथ का प्रकाशन नहीं हो सका ।

- आ. वि. रत्नभूषणसूरि

मू.रु.२००/-

महामहोपाध्याय न्यायाचार्य श्रीमद् यशोविजयजी कृत

जैन तर्क भाषा

हिन्दी-विवेचना

पंडितप्रवर ईश्वरचन्द्र शर्मा

संपादक

मुनि रत्नभूषण विजय
मुनि हेमभूषण विजय

संस्करणः—प्रथम

वीर सम्वत् २५०३

विक्रम सम्वत् २०३३

प्रकाशकः

गिरीश ह. भणशाली

अरविंद म० पारेख

मूल्य रु. २००/—

मुद्रकः—

ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस-पींडवाडा

रत्ना प्रिंटिंग प्रेस—बेलगाम

रामानन्द प्रिंटिंग प्रेस

अहमदाबाद

अभ्यर्थना

इस ग्रन्थ की विवेचना के विषय में सुझाव देने के लिये तर्क प्रेमी तर्कज्ञाता सज्जन विद्वानों से नम्र अभ्यर्थना है। इन सज्जनों को विवेचनाकार के साथ अथवा संपादक के साथ संपर्क करना चाहिये।

प्रकाशक—



विषयानुक्रमणिका :—

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१	प्रकाशक का निवेदन	१
२	भूमिका	३
३	आरम्भिक निवेदन	११
४	यशोविजय वाचकाष्टक	२२
५	प्रस्तावना	२३
६	शुद्धि पत्रक	३५
	प्रमाण परिच्छेद	१से४०८
७	प्रमाण का सामान्य लक्षण	१
८	अर्थग्रहण शक्तिरूप प्रमाण लक्षण का निराकरण	२१
९	प्रमाण के दो भेदों का निरूपण	२७
१०	प्रत्यक्ष के दो भेदों का निरूपण	३६
११	सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेदों का स्वरूप	४२
१२	मतिज्ञान के भेदों का स्वरूप	४६
१३	व्यञ्जनावग्रह के चार भेद और मन और चक्षु की अप्राप्यकारिता	५२
१४	अर्थावग्रह का निरूपण	७०
१५	ईहा, अपाय और धारणा का स्वरूप	९०
१६	मति ज्ञान के भेद—प्रभेद	११०

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१७	श्रुतज्ञान का निरूपण	११३
१८	पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद	१२३
१९	अवधिज्ञान का स्वरूप	१२३
२०	मनः पर्यवज्ञान का स्वरूप	१२८
२१	केवलज्ञान का निरूपण	१३२
२२	केवली के कवलाहार की सिद्धि	१३७
२३	परोक्ष प्रमाण के भेद	१४३
२४	स्मरण का स्वरूप	१४३
२५	प्रत्यभिज्ञान का निरूपण	१५३
२६	तर्क का "	१८५
२७	अनुमान प्रमाण का "	२१५
२८	स्वार्थानुमान का स्वरूप	२१५
२९	हेतु का त्रिलक्षण "	२१६
३०	साध्य का "	२३७
३१	धर्मी की प्रसिद्धि का निरूपण	२४९
३२	प्रमाण प्रसिद्ध आदि धर्मियों का निरूपण	२५०
३३	परार्थ अनुमान का स्वरूप	२७७
३४	'प्रतिवादी के द्वारा आगम से स्वीकृत अर्थ का हेतु रूप में कथन परार्थानुमान है' इसका खंडन	२८५

३५	हेतु प्रयोग के दो भेद	२९५
३६	हेतु के भेद	३०३
३७	विधिरूप हेतु का निरूपण	३०३
३८	निषेधरूप हेतु का "	३२०
३९	हेत्वाभासों का "	३२८
४०	असिद्ध हेत्वाभास का "	३२८
४१	विरुद्ध " "	३३५
४२	अनैकान्तिक " "	३३७
४३	अकिंचित्कर हेत्वाभास का निषेध	३४६
४४	कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम का निषेध	३५१
४५	आगम प्रमाण का निरूपण	३५६
४६	सप्तभंगी का स्वरूप	३६८
४७	सप्तभंगी के सकलादेश और विकलादेश स्वभावों का निरूपण	३९३

नय परिच्छेदः—

४८	नय का लक्षण		१
४९	नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नामक दो भेद		५
५०	नैगम नय का	स्वरूप	७
५१	संग्रह नय का	"	१३
५२	व्यवहार नय का	"	१५
	ऋजुसूत्र नय का	"	१६

५३	शब्द नय का स्वरूप	१७
५४	समभिरूढनय का "	१९
५५	एवंभूत नय का "	२०
५६	अर्थ नय और शब्द नय का "	२५
५७	व्यवहार और निश्चयनय का "	२८
५८	ज्ञान नय और क्रिया नय का "	२९
५९	नयों के न्यूनाधिक विषय	३४
६०	नयाभासों का निरूपण	४७
६१	नयाभास और संग्रहाभास का स्वरूप	४८
६२	व्यवहाराभास का "	५३
६३	ऋजुसूत्राभास का "	५६
६४	शब्दाभास का "	६१
६५	समभिरूढाभास का "	६२
६६	एवंभूताभास का "	६२
६७	अर्थनयाभास आदि का निरूपण	६३

—:निक्षेप परिच्छेद:—

६८	निक्षेप का लक्षण	१
६९	निक्षेप का फल	४
७०	निक्षेपों का भेद	५
७१	नाम निक्षेप का स्वरूप	५
७२	स्थापना " "	९

७३	द्रव्य निक्षेप का स्वरूप	११
७४	भाव " "	१८
७५	नामादि निक्षेपों का परस्पर भेद	१९
७६	निक्षेपों का नयों के साथ योग	४१
७७	ऋजुसूत्र के अनुसार चारों नयों का स्वीकार	४६
७८	संग्रह और व्यवहार स्थापना नहीं मानते– इस मत का खंडन	५०
७९	जीव के विषय में निक्षेप का निरूपण	५८
८०	ग्रन्थकार कृत प्रशस्ति	७१
८१	विवेचनाकार की मनः कामना	७२

પ.પૂ. કુશળ પ્રવચનકાર શાસન પ્રભાવક
મુનિરાજ શ્રી કલ્પરત્ન વિજયજી મ.સાની શુભ પ્રેરણાથી
ના જ્ઞાનનિધિમાંથી
જૈન તર્ક ભાષા સવિવેચન ગ્રંથની ૧૫૦ નકલનો
લાભ લેવામાં આવ્યો છે. જેની અનુમોદના કરીએ છીએ.
સહકાર માટે આભાર.

समर्पण



इस विराट विश्व में इधर–उधर भटकते हुए एक युवक का जिन्होंने असीम करुणा कर के उद्धार किया–

जिनके प्रशान्तस्वभाव–करुणापूर्णमन–गुरुसमर्पितभाव स्वाध्यायमग्नता–अप्रमत्तता आदि अनेक गुणों को आज भी कई लोग प्रतिदिन याद करते हैं—

जिनकी प्रेरणा और मार्गदर्शनसे हो इस ग्रन्थ के विवेचन संपादन और मुद्रण आदि कार्य संपन्न हो सके हैं:–

उन गुरुवर पू. आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय जितमृगांकसूरीश्वरजी के चरणों में—

अपना यह प्रथम संपादित ग्रंथ भक्तिभावसे समर्पित करता हूँ सदा के लिये गुरुकृपाकांक्षी विनम्र शिशु—

मुनि रत्नभूषणविजय

प. पू. प्रशान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद्

विजय जितमृगांकसूरीश्वरजी



श्री (बम्बई) वडाला जैन संघ की
ओर से आपके पावन चरणों में
— कोटिशः वन्दना —

❀ प्रकाशक का निवेदन ❀

कोई भी कार्य कारणों के समुदाय के बिना सिद्ध नहीं होता। कोई कारण मुख्य होता है और कोई कारण सहकारी होता है कार्य की सिद्धि के लिये दोनों प्रकार के कारणों का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। टीकाकार पंडितप्रवर श्री ईश्वरचंद्रजी शर्म्मा ने अति परिश्रम से टीका की रचना की है। उनकी रचना में बम्बई-भूलेश्वर स्थित-शेठ मोतीशा लालबाग जैन चेरीटीझ के ट्रस्टी गण और वहां के ज्ञानभंडार के कार्यकर्ताओं ने अनुपम सहायता की है। इसलिये हम उनके आभारी हैं। प्रकाशन का कार्य बम्बई-वडाला जैनसंघ के अपूर्व सहकार से हो सका है अतः हम उनका भी आभार मानते हैं। टीकाकारने टीका तो की ही है, परन्तु आरंभिक निवेदन भी लिख दिया है। इसके लिये हम टीकाकार का अनुग्रह मानते हैं।

समय पर प्रस्तावना लिख देने के लिये हम पूज्यपाद विद्वद्वर्य आचार्यभगवंत श्रीमद् विजयमुक्तिचंद्रसूरीश्वरजी महाराज के चरणों में कोटिशः वन्दना करते हैं। पूज्यपाद स्वाध्यायरक्त आचार्यदेव श्रीमद् विजय जितमृगाँकसूरीश्वरजी महाराज के शिष्यरत्नों पूज्यमुनिराजश्री रत्नभूषणविजयजी महाराज और पूज्यमुनिराज श्री हेमभूषणविजयजी महाराज ने अत्यंत उपयोग के साथ संपादन और संशोधन का कार्य किया है इसके लिये हम दोनों मुनिवरों की अनेक बार वंदना करते हैं।

परमपूज्य व्याख्यान वाचस्पति महाराष्ट्र देशोद्धारक आचार्यदेव श्रीमद्विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराज का असीम अनुग्रह न होता तो इस ग्रथ के प्रकाशन करने का सौभाग्य हमको नहीं प्राप्त हो सकता था। यह सब पूज्य-पाद आचार्यदेव की परमकृपा का ही फल है अतः हम उनके पावन चरणों में अनंतशः वन्दना करते हैं।

यत्न करने पर भी मुद्रण में कुछ अशुद्धियां रह गई हैं उनके लिये शुद्धिपत्र दिया गया हैं। पाठक उसके अनुसार शुद्ध करके वाचन करें, यह नम्र प्रार्थना है।

इस हिन्दी टीका का गुजराती भाषा में अनुवाद कराके प्रकाशित करने की हमारी इच्छा है। जो लोग गुजराती अनुवाद प्रकाशित करने में आर्थिक सहकार देकर लाभ उठाना चाहते हों उनसे संपर्क करने के लिये नम्र अनुरोध किया जाता है।

पिंडवाडा (राजस्थान) ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस और देवास (म० प्र०) रत्ना प्रिंटिंग प्रेस के व्यवस्थापकों ने बडे यत्न के साथ ग्रंथ का मुद्रण किया है इस लिये उनके भी हम आभारी हैं पुस्तक का बन्धन (बाइन्डींग) अहमदाबाद निवासी विक्रमकुमार अमृतलाल दलाल ने अत्यंत ध्यान से कराया है। अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

९१ कृष्णगली,
स्वदेशी मार्केट बम्बई-२
५२/५४ मीन्टरोड
तीसरा तल कोट बम्बई-१
वि. सं. २०३१ वै. कृ. ११
गुरुवार दिनांक ५-६-७५

श्री संघ के सेवक—
अरविंद मणीलाल पारेख
गिरीशचंद्र हरकीशनदास
भणशाली

❀ भूमिका ❀

मुनि रत्नभूषणविजय और मुनि हेमभूषण विजय

यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। इस अनादि अनंत ससार में समस्त जीव चार गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं और अपने किये हुए कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। अनंत उपकारी श्री तीर्थंकर देव अपने चरम भवमें सब सांसारिक सुख का त्याग कर के संयम धारण करते हैं। इसके अनन्तर घोर तपस्या करते हुए अनेक प्रकार के उपसर्गों और परिषहों को समभाव से सहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से भावित होकर चार घातिकर्मों का क्षय करते हैं और केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। इसके अनन्तर देव रचित समवसरण में विराजमान होकर समस्त जीवों के उद्धार के लिये धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं और धर्मोपदेश देते हैं। उनके उपदेश को सुनकर भव्य जीव संयमके अभिलाषी बनते हैं और प्रव्रज्या को प्राप्त करते हैं इन सयमी जीवों में जो विशिष्ट योग्यता से संपन्न होते हैं उनको भगवान तीर्थंकर गणधर पद पर प्रतिष्ठित करते हैं गणधरों के उत्तर में भगवान 'उप्पेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का उच्चारण करते हैं त्रिपदीका आश्रय लेकर भगवान गणधरदेव द्वादशांगी की रचना करते हैं इसलिये जैन शास्त्रों में द्वादशांगी मुख्य-रूप से प्रमाणभूत मानी जाती है।

चेतन और अचेतन तत्त्वों के विषय में गंभीर विचार भारत में चिरकाल-से चले आ रहे हैं। विचारक अनेक प्रकार

के रहे हैं कुछ विचारक लोग वेद और वेद के अनुगामी शास्त्रों को मानने वाले थे और कुछ विचारक वेद का आश्रय न लेकर स्वतंत्ररूप से तत्त्वों का विचार करते रहे हैं। वैदिक विचारकों में सबका मत एक नहीं है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि मतों के प्रतिष्ठापक वेद को प्रभाणभूत मानते थे पर तत्त्वों के विषय में उनके मत परस्पर भिन्न हैं। वैदिकों के समान अवैदिक विचारक भी अति प्राचीन कालसे तत्त्वों की मीसांसा करते रहे हैं। जैन और बौद्धों ने तत्त्वों का जो विचार किया है, उसमें उन्होंने वेद का आश्रय नहीं लिया।

भिन्न भिन्न मतों के आचार्यों ने अपने अपने प्राचीन आगमों के उपदेश को प्रमाणों से सिद्ध करने के लिये तर्क से परिपूर्ण अनेक ग्रन्थों की रचना की है। एक ओर वैदिक विद्वान वेद का आश्रय लेकर आत्मा आदिके स्वरूप का प्रकाशन प्रमाणों द्वारा करते थे और दूसरी ओर जैन आचार्य द्वादशांगों में आत्मा आदिके जिस स्वरूप का प्रतिपादन है उसको युक्ति द्वारा सिद्ध प्रकाशित करने के लिये ग्रन्थों की रचना करते रहे हैं।

जैन और जैनेतर तत्त्वज्ञान में मुख्य फल मोक्ष माना जाता रहा है। तत्त्वज्ञानी राग द्वेष आदि का विनाश करके कर्मों को क्षीण कर देते हैं और अंत में मोक्षको प्राप्त करते हैं। चेतन तत्त्व को स्वीकार करने वाले समस्त आचार्यों का मत आत्मा और मोक्षके विषयमें समान है। परन्तु आत्मा का स्वरूप और मोक्ष का स्वरूप किस प्रकार का है इस विषय-में मत विभिन्न हैं। जैनों ने अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर आत्मा आदि तत्त्वों का निरूपण किया है। वही अबाधित रूप से तर्क द्वारा प्रतिपादित होता है।

तर्क का विचार–

भिन्न भिन्न दर्शनके आचार्यों ने तत्त्वों का जो स्वरूप प्रकाशित किया है उसमें भेद है। इस भेद के कारण आस्तिक सम्प्रदायों के तर्क शास्त्रों में प्रमाणों के स्वरूप को युक्त सिद्ध करने के लिये गंभीर विचार किया गया है इस विचार के कारण तर्क प्रधान ग्रन्थों की रचना हुई।

जन तर्ककी विशिष्टता––

ध्यान रहे-जैनेतर तार्किक एकांतवादी हैं और जैन अनेकान्त को स्वीकार करते हैं। इस मूलभूत भेदके कारण जैनों का तत्त्वज्ञान अन्य सम्प्रदायों के तत्त्वज्ञान से भिन्न हो गया। वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को मूल में रखकर जैनों ने विचार किया है इसलिये उन्होंने अन्य मतों का सर्वथा निषेध नहीं किया। वस्तु का जो स्वरूप अन्य मतके आचार्यों ने प्रकाशित किया है उसको भी उन्होंने किसी अपेक्षा से उचित कहा है। अपेक्षा के भेद से वस्तु के अनेक धर्मात्मक स्वरूप को प्रकाशित करना अनेकान्तका प्रधान स्वरूप है। अनेकान्त स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण जैन विद्वानों के तर्क पक्षपात अथवा हठ से रहित हो गये हैं। इस वस्तु को याकिनीमहत्तारासूनु १४४४ ग्रंथरत्नों के रचयिता सूरिपुरंदर प्राचीन आचार्यदेव श्रीमद्धरिभद्रसूरीश्वरजी ने निम्न शब्दों में कहा है––

पक्षपातो न मे वीरे–न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य–तस्य कार्यः परिग्रहः॥

एकान्तवाद के कारण अन्य सम्प्रदायों के मत में वस्तु का स्वरूप यथार्थ नहीं रहा और अनेकान्तवाद के कारण जैनमत में वस्तु का स्वरूप यथार्थ रहा है। यही जैन मत की लोकोत्तरता है। अनेकान्त के स्वरूप को न समझने के कारण अनेक अन्य सम्प्रदायों के बड़े बड़े आचार्योंने भी असंगत रीतिसे जैन तत्त्व ज्ञान का प्रत्याख्यान किया यह अत्यंत खेद की बात है।

प्रासंगिक—

गंभीर तर्क प्रधान ग्रंथों में प्रवेश कराने के लिये सरल-रूपसे वस्तु स्वरूप के प्रकाशक आरंभिक ग्रंथोंकी रचना सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है। न्याय और वैशेषिक मत को लेकर तर्क संग्रह और न्याय सिद्धान्तमुक्तावली आदि की रचना हुई है। जैनों ने गंभीर तर्क में प्रवेश के लिये प्रमाणनयतत्त्वालोक-प्रमेयरत्नकोष आदिकी रचना की। अर्वाचीन काल में ईसा की १७ वीं शती में कुमततिमिर-भास्कर-न्यायाचार्य-न्यायविशारद महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने "जैन तर्क भाषा" नामसे आरभिक जिज्ञासुओं के लिये रचना की। इसमें जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार तत्त्वज्ञान के साधन प्रमाण-नय और निक्षेपों का प्रतिपादन है। परमपूज्य-महामहोपाध्याय श्री ने जिस स्वरूप को प्रकाशित किया है वह सरलतासे समझ में आ जाय इस लिये हिन्दी भाषा में टीका की रचना की गई है। प्रमाणों का जो स्वरूप जैन तत्त्वज्ञान में है वह सरलतासे प्रतीत हो जाय इस वस्तु को ध्यान में रखकर यह टीका की गई है। इस टीका में जहां शब्दों का अर्थ है वहां विवेचना

भी है। मूलमें जो कुछ कहा गया है वह युक्ति सिद्ध है इस वस्तु को प्रकट करने के लिये जहां तक हो सका है वहां तक विवेचना को सरल रखने का यत्न टीकाकारने किया है।

चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी स्थापित श्री संघ चार प्रकार का है, १–साधु २–साध्वी ३–श्रावक और ४–श्राविका। वर्तमानकाल में श्रावक और श्राविका गण में जैन तर्क के अभ्यासी हैं पर उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। साधु और साध्वी गण में तर्क का अभ्यास प्राय होता रहता है। आरंभ में बहुत अभ्यासियों को तर्क की प्रक्रिया कठिन प्रतीत होती है। विभिन्न काल के ग्रन्थकारों ने तर्क का स्वरूप विभिन्न रूपसे प्रकट किया है। नव्य न्याय की शैली के आविर्भाव से पहले ग्रंथों में तर्क का स्वरूप गंभीर होने पर भी अत्यंत कठिन नहीं था। नव्य न्यायकी रीतिका समावेश होने पर उसमें दुरूहता आ गई। गुर्जरभाषामें भी सिद्धान्त के रहस्य को सरल रीतिसे प्रतिपादित करने वाले महामहोपाध्यायजी ने ग्रन्थों की रचना नव्यन्याय की रीति से की। जैन तर्क भाषा में भी नव्यन्याय का अंश आ गया है। इस आंशिक कठिनताको दूर करने के लिये भी इस टीका में सावधान होकर यत्न किया गया है।

तर्क की उपयोगिता––

आगमों का ज्ञान भी तर्क से परिपूर्ण है, उसको समझने के लिये भी तर्क की प्रक्रिया का ज्ञान अति आवश्यक है। आगम के अभ्यासी लोगों को भी तर्कभाषा की इस सरल टीका से सहायता मिल सकती है। गंभीर होनेके कारण तर्क ग्रन्थों के अभ्यास की इच्छा लोगों में कम पाई जाती

है। तर्क गंभीर तो है ही, परन्तु अत्यंत उपयोगी भी है इस लिये सभी तत्त्व ज्ञान के प्रेमियों को तर्क भाषा की सरल टीका के द्वारा तत्त्वज्ञान का लाभ प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।

प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशन—

विक्रम संवत् २०२७ में हमारा चातुर्मास पूज्यपाद परमशासनप्रभावक गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराज की पुनीत आज्ञा से पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यासजी श्रीमद्मृगांकविजयजी गणिवर (सप्रति आचार्यदेव श्रीमद् विजय जितमृगांक सूरीश्वरजी म) के साथ हुआ। इस चतुर्मास में हम दोनों ने "जैन तर्क भाषा" का अध्ययन पंडितप्रवर श्री ईश्वरचंद्रजी से किया। इस अवसर पर इस ग्रंथ की सरल टीका अत्यंत आवश्यक है—यह हमको प्रतीत हुआ। हमने यह विचार वहां के कार्यकर्ताओं के सामने रक्खा। उन लोगों ने इस विचार का स्वागत किया और प्रत्येक प्रकार का सहकार दिया। इस कारण इस टीका की रचना हुई। इस टीका के साथ जैन तर्क भाषा का प्रकाशन तर्क के अभ्यासियों के लिये अतीव उपयोगी सिद्ध होगा इस विचार से बम्बई-वडाला श्रीजैन संघ के श्राद्धवर्य श्री चम्पालालजी ललवाणी ने इसके प्रकाशन के लिये संघ की ओर से आवश्यक सहकार दिया। इस कारण इसका प्रकाशन सरल हो गया।

प्रस्तुत ग्रंथ संपादन—मुद्रण—आदि—

ग्रंथके संपादन का कार्य किनके द्वारा किया जाय? यह विचार चल रहा था। कल्याणबंधु माननीय पू. मुनिवरोंने हम

दोनों को ही इस कार्य के करने के लिये प्रेरित किया। माननीय पू० मुनिजनों की आज्ञा को हम दोनों ने शिरोधार्य किया। संपादन के विषय में अनभिज्ञ होने पर भी हम दोनों ने इस कार्य को हाथ में लिया और मुद्रण का कार्य होने लगा। मुद्रणालय पिंडवाडा (राजस्थान) में है और हम दोनों यहां बम्बई में पूज्यपाद गुरुदेव के साथ हैं। इस कारण प्रकाशन में अधिक विलंब हुआ है।

यद्यपि टीकाकारने जैन सिद्धान्त को ध्यान में रखकर अनुवाद और विवेचना की है तो भी किसी भी प्रकार की न्यूनता न रह जाय इस लिये टीका को अवलोकन के लिये पूज्यपाद विद्वद्वर्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय मुक्तिचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज और पूज्य विद्वान मुनिराज श्री चन्द्रगुप्तविजयजी महाराज के पास भेज दिया। अनुग्रह करके इन दोनों पूज्यों ने टीकाका पर्यालोचन किया और उपयोगी सुझाव दिये, जिनका हमने परिपालन किया। इस ग्रथकी प्रस्तावना के लिये हमने पूज्यपाद शासन प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजयमुक्तिचंद्रसूरीश्वरजी महाराज से प्रार्थना की और उन्होंने संस्कृत में प्रस्तावना लिखकर हमको अनुगृहीत किया। प्रस्तावना साथ में ही मुद्रित है।

प्रस्तावना के लेखक पूज्य आचार्य प्रवरश्री ने और टीकाकारने भी ग्रथकार का सक्षिप्त चरित्र दिया है, उससे ग्रथकार का कुछ परिचय अभ्यासियों को मिल सकेगा। ग्रंथ का सामान्य परिचय भी प्रस्तावना के द्वारा जिज्ञासु सुजनों को मिल जायगा।

उपसंहार—

पूज्यपाद परमशासनप्रभावक सिद्धान्तप्ररूपणैकदत्तचित्त शासनरक्षानिपुण आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय रामचंद्र-

सूरीश्वरजी महाराज की और उनके पट्टालंकार-हमारे परम-तारक गुरुदेव प्रशांतमूर्त्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजयजितमृगाँक-सूरीश्वरजी महाराज की असीम कृपासे यह संपादन कार्य हो सका है। हम दोनों की शक्ति नहीं थी, पर उपरोक्त पूज्य-परमतारक गुरुदेवों के अनुग्रह से ही यह कार्य पूर्ण हुआ है। अतः हम दोनों पूज्यपाद आचार्य भगवंतों के चरणों में कोटिशः वन्दना करते हैं।

इस प्रकाशन में तीर्थंकर परमात्मा के वचन का विरोध किसी प्रकार का भी न आ जाय-इस वस्तु के लिये हम दोनों ने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। परन्तु छद्मस्थ दशा के प्रमाद के कारण यदि कोई क्षति रह गई हो तो हम दोनों का उसके लिये 'मिच्छामि दुक्कडं' है। जिन सज्जनों को इसमें कोई त्रुटि प्रतीत हो वे हमको उसके बतलाने का कष्ट करें।

इस ग्रंथ का अभ्यास कर के तत्त्वज्ञान के अभिलाषी लोग तत्त्वज्ञान को प्राप्त करें और धर्म मार्ग में अग्रसर बनकर कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर परमपद को प्राप्त करें यही हमारी मंगल अभिलाषा है।

वि. स. २०३१
वैशाख कृष्णा एकादशी
बृहस्पतिवार
दिनांक ५-६-१९७५
श्रीपालनगर-जैन
उपाश्रय-बालकेश्वर-
बम्बई-४०००००६

पूज्यपाद प्रशांतमूर्ति परमगुरुदेव
आचार्यदेव श्रीमद्विजयजितमृगाँक-
सूरीश्वरजी म. के चरणसेवक-
मुनि रत्नभूषणविजय
मुनि हेमभूषणविजय

ग्रंथकार के निबंध

— ईश्वरचन्द्र शर्मा —

[ग्रंथकार का संक्षिप्त जीवन चरित्र]

उपाध्याय श्री यशोविजयजी के समकालिक श्री कान्ति विजयजी गणीने उपाध्यायजी के जीवन का जो वर्णन 'सुजशवेली भास' नामक ग्रंथ में किया है, उसके अनुसार उपाध्यायजी गुजरात के 'कनोडु' नाम के ग्राम में उत्पन्न हुए थे। 'नारायण' नाम के व्यापारी उनके पिता थे। माता का नाम 'सोभाग दे' था। उनका पहला नाम 'जसवन्त' था। 'पद्मसिंह' नाम का उनका भाई था। पं. श्री 'नयविजयजी' से वि० सं० १६८८ में दोनों भाइयों ने दीक्षा ली।

दीक्षा होने पर जसवन्त का नाम 'मुनि यशोविजय' और पद्मसिंह का 'मुनि पद्मविजय' रक्खा गया। उपाध्याय जी तर्क भाषा के परिच्छेदों के अन्त में 'पण्डित श्री पद्मविजय गणि सहोदरेण' कहकर श्री पद्मविजयजी का निर्देश करते हैं। उपाध्यायजी 'न्यायविशारद' पदवी से विभूषित थे। श्री विजय देवसूरि के शिष्य श्रीविजयप्रभसूरिजी ने उनको वि० सं० १७१८ में उपाध्याय पद दिया है। उन्होंने सौ ग्रन्थों की रचना का उल्लेख स्वयं किया है। वि० सं० १७४३ में 'डभोई' गांव में उनका देहत्याग हुआ। डभोई में उनकी पादुका अभी तक है।

[दार्शनिक विचारधारा का महत्त्व और ग्रंथकार की विद्वत्ता।]

तार्किक शिरोमणि पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी गणिवरने संस्कृत-प्राकृत-गुजराती और मारवाडी भाषाओं में रचना की है। उनकी रचनाओं के विषय अधिक संख्या में दर्शनों के संबन्धी हैं। काव्य में भी उनकी रचना बहुत उत्कृष्ट है।

उपाध्यायजी के आविर्भाव से पहले ही दार्शनिक विद्वानों में नव्य न्याय का आदर अत्यंत अधिक हो चुका था चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के गंगेश ने 'न्यायतत्त्व चिंतामणि' नामक ग्रन्थ में नव्य न्याय का व्यवस्थित रूप से विस्तृत निरूपण किया। इसके अनन्तर प्रधानरूप से इस ग्रन्थ की व्याख्याओं के द्वारा नव्य न्याय का अद्भुत विस्तार हुआ। जब तक नव्य न्याय की शैली से दार्शनिक विषय का प्रतिपादन न हो तब तक उसका महत्त्व इस काल के पंडितो में प्रतिष्ठित नहीं होता था। उपाध्यायजो ने चौदहवीं शताब्दो से लेकर सत्रहवीं शताब्दो तक के नवीन नैयायिकों ने न्याय के जिन प्रधान तत्त्वों का प्रतिपादन किया था उनका जैन न्याय को अपेक्षा से विस्तृत निरूपण किया है। उपाध्यायजो के अतिरिक्त किसी अन्य विद्वान के द्वारा नव्य न्याय की शैली से जैन दार्शनिक तत्वों का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। उपाध्यायजो के जो दार्शनिक ग्रन्थ इस समय मिलते हैं, वे इस विषय का साक्षात्कार करा देते हैं।

उनके ग्रन्थों में जिन अति प्रसिद्ध बंगाली नवीन नैयायिकों का उल्लेख है वे दो हैं। एक है-चिन्तामणि की प्रसिद्ध दीधिति व्याख्या के प्रणेता रघुनाथ शिरोमणि और दूसरे

अनेक न्याय ग्रन्थों के कर्ता मथुरानाथ। जगदीश और गदाधर दीधितिकार के परवर्ती काल में अति प्रसिद्ध हैं, पर उनका नाम मुझे उपाध्यायजी के ग्रन्थों में नहीं दिखाई दिया। इसके अनेक कारण हो सकते हैं ।

[तर्क भाषा तथा तर्क और न्याय शब्दका अर्थ]

उपाध्यायजी ने अपनी तर्क भाषा में जन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित, अर्थ परीक्षा के तीन प्रधान साधनों का निरूपण किया है। प्राचीनकाल में प्रमाणों द्वारा प्रमेय की परीक्षा करनेवाले शास्त्रों को न्याय शब्द से कहा जाता था। महर्षि अक्षपाद के न्यायसूत्र प्रसिद्ध हैं। न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र की व्याख्या में वात्स्यायन कहते हैं-'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:। प्रमाणों में हेतु. अर्थ परीक्षा का प्रधान उपाय है। मुख्यरूप से जिस शास्त्र में हेतुओं द्वारा अर्थ की परीक्षा की जाती थी, उसको न्याय कहा जाता था। ऋषि अक्षपाद के सूत्र न्याय सूत्र कहे जाते हैं। इनके अनुसार तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों के नामों में न्याय शब्द का प्रयोग है। न्याय भाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायमञ्जरी, आदि नाम इस प्रकार के हैं। बौद्धों के न्याय बिन्दु, न्याय मुख आदि और जैनों के न्यायावतार आदि ग्रन्थों में भी न्याय-शब्द है। हेतु से ही नहीं प्रत्यक्ष और शब्द के द्वारा भी अर्थपरीक्षा होती है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं, इसलिये मुख्यरूप से हेतु पर आश्रित न्यायशास्त्र को प्राचीनकाल में प्रमाण-शब्द से भी कहते थे। जो विद्वान प्राचीनकाल में व्याकरण-मीमाँसा-और न्यायशास्त्र के विद्वान होते थे, वे 'पदवाक्य-प्रमाण पारावारपारीण' बिरुद से अलङ्कृत होते थे। इस बिरुद का

'पद' शब्द व्याकरण का, 'वाक्य' शब्द मीमांसा का और 'प्रमाण' शब्द न्याय का बोधक है। बौद्धों के तर्क-प्रधान ग्रन्थों के नाम प्रमाण शब्द से युक्त हैं। आचार्य दिङ्-नाग का प्रमाण समुच्चय और आचार्य धर्मकीर्ति का प्रमाण वार्तिक प्रसिद्ध है।

ध्यान रहे-परमाणु, आत्मा आदि अतीन्द्रिय अर्थों के स्वरूप के निर्णय के लिये प्रयुक्त हेतुओं को जिस प्रकार न्याय कहा जाता था इस प्रकार वाक्य का अर्थ कराने के लिये जिन हेतुओं का प्रयोग होता था उनको भी न्याय नाम से कहा जाता था।

ऋचा आदि मंत्रों के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों का अर्थ निश्चित करने के लिये ऋषि जैमिनि ने मीमांसा में जिन युक्तियों का प्रतिपादन किया है उनके लिये न्याय शब्द प्रसिद्ध है। आपस्तम्ब सूत्र (११-४-८-१३) में तथा (११-६-१४-१३) में न्याय शब्द पूर्व मीमांसा के अर्थ में है। इन्हीं न्यायों का प्रतिपादक होने के कारण माधव रचित प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम है-'जैमिनीय न्याय माला'। इसी प्रकार न्याय कणिका, न्याय रत्नमाला-आदि पूर्व मीमांसा के ग्रंथों में भी न्याय शब्द है।

(१) प्रमाण शब्द के समान न्याय के लिये तर्क शब्द का भी प्रयोग प्रचलित था। न्याय में हेतु अनुमान मुख्य है। इसलिये अनुमान को तर्क भी कहा जाता था। ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास अतीन्द्रिय अर्थ के निर्णय में अनुमान को असमर्थ सिद्ध करने के लिये कहते हैं-'तर्काप्रतिष्ठानात्'।

(२) इसी प्रकार-पदार्थों के कुछ धर्म, हेतुओं द्वारा प्रतिपादित नहीं हो सकते, इस तत्त्व को त्रिपिटक के वाक्य भी कहते हैं। त्रिपिटक का वाक्य है 'अतक्कावचरा धम्मा' (अतर्कावचरा धर्माः)

(३) अमर कोशकार ने भी न्याय शास्त्र के प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी को तर्कविद्या का वाचक कहा है। आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः। (अमर० १-६-५१) इसकी सुधा व्याख्या में भानुजी दीक्षित कहते हैं एतौ द्वौ क्रमात्तर्कविद्यायां न्यायरूपायां अर्थशास्त्रे च वर्तेते।

(४) अर्वाचीन काल में न्याय शास्त्र के लिये तर्क पद का प्रयोग पाया जाता है। उपाध्यायजी के पूर्ववर्ती बौद्ध विद्वान मोक्षाकर गुप्त ने बौद्ध मत के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान का निरूपण करने के लिये तर्क भाषा नामक ग्रथ की रचना की है। बौद्ध न्याय में भी तर्क-अनुमान मुख्य है। प्रत्यक्ष का स्वरूप भी तर्क द्वारा निश्चित होता है। इसलिये प्रत्यक्ष अनुमान दोनों का प्रतिपादक होने पर भी ग्रन्थ का नाम तर्कभाषा है। मोक्षाकर गुप्त बौद्ध इतिहास के ज्ञाताओं के अनुसार ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में थे। मोक्षाकर गुप्त का 'तर्क भाषा' ग्रन्थ सक्षेप से प्रमाणों का निरूपण करता है।

(५) जैमिनीय पूर्व मीमांसा भी न्याय कहा जाता है और तर्क का न्याय के अर्थ में प्रयोग है इसलिये पूर्व मीमांसा के लिये भी तर्क पद का प्रयोग हुआ है। व्याकरण, मीमांसा, न्याय में अप्रतिहत ज्ञान को प्रकाशित करते हुए दसवीं सदी के उदयन कहते हैं:—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
न हि तरणिरुदीते दिक् पराधीन वृत्तिः।।

इस पद्य में तर्क से पूर्व मीमांसा को कहा गया है ।

(६) बारहवीं शताब्दी के कलिकाल सर्वज्ञ प्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य अनेकार्थ सग्रह में कहते हैं-तर्को वितर्के कांक्षा-यामूह कर्मविशेषयोः (कांड २, श्लोक ९। इस की व्याख्या अनेकार्थकैरवाकर कौमुदी में कहा है--तर्कप्रतिपादकशास्त्र-मपि तर्कः । यथा यस्तर्क कर्कश विचार पदप्रचारः ।

(७) ईसा की चौदहवीं शताब्दी के गंगेश नवीन न्याय के मुख्य प्रवर्तक हैं। उनके पुत्र प्रसिद्ध विद्वान वर्धमान ने भी उदयनाचार्य के द्वारा प्रणीत न्याय कुसुमाञ्जलि की प्रकाश नामक व्याख्या के आरम्भ में कहा है-

न्यायाम्भोजपतङ्गाय, मीमांसापारदृश्वने ।
गगेश्वराय गुरवे, पित्रेऽत्र भवते नमः ।।

और अन्त में कहा है-

यस्तर्कतंत्र शतपत्रसहस्ररश्मि-
गंगेश्वरः सुकुविकैवरकाननेन्दुः ।
तस्यात्मजोऽतिविषमं कुसुमाञ्जलिं तं,
प्राकाशयत् कृति मुदे बुध वधमानः ।।

यहां पर आरम्भ के पद्य में जिस को न्याय पद से कहा है उसीको अन्त में तर्कशास्त्र कहा है ।

(८) ईसा की तेरहवीं शताब्दी के केशवमिश्र ने गौतमीय और कणादीय न्याय का संक्षेप में ज्ञान कराने के लिये तर्क भाषा की रचना की। इसके आरम्भिक श्लोक में ग्रन्थकार तर्क को न्याय कहते हैं। आरम्भ का पद्य है-

बालोऽपि यो न्याय नये प्रवेश-
मल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्वित तर्कभाषा,

प्रकाश्यते तस्य कृते मयेषा ॥

यहां पर तर्क पद से न्याय को कहा गया है।

केशव मिश्र की तर्क भाषा के अनन्तर अन्नंभट्ट ने न्याय-सिद्धांत में प्रवेश के अभिलाषियों के लिये तर्क-संग्रह की रचना की। इस तर्क संग्रह की एक पुरानी प्रति ई. स. १७९२ में लिखी हुई मिली है। अतः अन्नम्भट्ट ई. सन् की सत्रहवीं शताब्दी में थे।

यद्यपि प्राचीन अर्वाचीन विद्वानों ने तर्क पद का न्याय शास्त्र के अर्थ में प्रयोग किया है तो भी तर्क संग्रह की स्वोपज्ञ दीपिका व्याख्या में अन्नंभट्ट ने तर्क पद का अथ द्रव्य आदि पदार्थ किया है। वे कहते हैं–तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः द्रव्यादिपदार्थाः, तेषां संग्रहः संक्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियत इत्यथः।

परन्तु यदि तर्क पद का प्रयोग न्यायशास्त्रमें माना जाय और न्याय शास्त्र के प्रतिपादित अर्थों का संक्षेप से प्रतिपादन होने के कारण ग्रन्थ को तर्क संग्रह कहा जाय तो अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती। योग के बलसे तर्क पद को द्रव्यादि पदार्थों का वाचक न मानकर रूढि के बल से तर्क को न्याय का वाचक मानना उचित प्रतीत होता है।

[प्रस्तुत ग्रंथ.....]

न्याय सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ के लिये वैदिक विद्वान केशवमिश्र-अन्नंभट्ट आदि और बौद्ध मोक्षाकर गुप्त के समान उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार अर्थ परीक्षा के साधनों का लघु रूप में प्रकाशन करने के लिये जिस ग्रन्थ का निर्माण किया उसमें तर्क पद का व्यवहार किया और चिर-प्रचलित तर्कभाषा नाम रक्खा।

वैदक और बौद्ध विद्वान अवान्तर मत भेदों के होने पर भी प्रमाणों को अर्थ के ज्ञान का साधन मानते थे। इसलिये उन्होंने अपने परीक्षा प्रधान ग्रन्थों के नामों में प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है। जैन तर्क के अनुसार प्रमाण और नय दोनों, अर्थ के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। जैन विद्वानों ने वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये जिन ग्रन्थों का निर्माण किया है, उनमें से कुछ में प्रमाण और नय दोनों पदों का प्रयोग है। ग्यारहवीं शताब्दी के वादी देवसूरि के प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम है-प्रमाणनयतत्त्वालोक।

पू० उपाध्यायजी से पूर्व काल में नयचक्र के कर्ता श्री माइल्लधवल ने तर्क शब्द से प्रमाण-नय और निक्षेप को कहा है। नयचक्र में गाथा है- [पृ० ६५ गा० १६७-]

णिक्खेव-णय-पमाणं, दव्वं सुद्ध एव जो अप्पा।
तक्कंपवयण णाम, अज्झप्पं होई हु तिवग्गं॥

इनसे पूर्व भट्ट अकलंक ने भी लघीयस्त्रय संग्रह में युक्ति शब्द से प्रमाण, नय और निक्षेप को कहा है। प्रमाण, नय और निक्षेप का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं:-

ज्ञानं प्रमाणमात्मादे-रुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥
[तीसरा प्रवचन प्रवेश, छट्ठा परिच्छेद, श्लोक दूसरा]

यहां पर स्पष्ट ही युक्ति के द्वारा जीवादि पदार्थों के यथार्थ ज्ञानका प्रतिपादन कहा गया है। इस पद्य की व्याख्या में अभयचद्रसूरि युक्ति शब्द के द्वारा प्रमाण-नय और निक्षेपों का प्रतिपादन कहते हैं। युक्ति और तर्क में कोई भेद नहीं है।

उपाध्यायजी ने तर्कभाषा के तर्क पद से जैन तर्क के अनुसार अर्थ परीक्षा के मुख्य साधन प्रमाण–नय–और निक्षेप–तीनों को लिया। प्रमाण और नयों को जैन विद्वान चिरकाल से अर्थके तत्त्वज्ञान का साधन मानते आ रहे हैं। तत्त्वार्थ सूत्रका सूत्र है–प्रमाणनयैरधिगमः।

निक्षेप को जैन तार्किकों ने उतनी प्रधानता नहीं दी थी। पर उपाध्यायजी ने निक्षेप को तक के अन्दर लिया। उपाध्यायजी भी अन्नभट्ट के समान ई० स० सत्रहवीं शताब्दी के हैं। संभवतः सुदूर दक्षिण में होने के कारण तर्क संग्रह का उस समय तक भारत के अन्य प्रान्तों में प्रचार नहीं हुआ था।

तर्क भाषा की व्याख्या––

उपाध्यायजी की तर्कभाषा की व्याख्या संस्कृत और हिन्दी में हो चुकी है। श्री विजय नेमिसूरीश्वरजी के शिष्य श्री विजयोदयसूरीश्वरजी की संस्कृत में 'रत्नप्रभा' टीका विक्रमाब्द २००७ में मुद्रित हो चुकी है।

पं० सुखलालजी की 'तात्पर्य संग्रहा' नामक संस्कृत वृत्ति विक्रमाब्द १९९४ में छप चुकी है।

पं० शोभाचन्द्र भारिल्लजी के द्वारा रचित हिन्दी अनुवाद सन् १९६४ में प्रकाशित हो चुका है।

ये सभी व्याख्यायें उपयोगी हैं और तर्कभाषा के अर्थ को समझने में सहायक हैं।

प्रासंगिक–प्रस्तुत विवेचना और उपसंहार—

वि० सं० २०२७ में शेठ मोतीशा लालबाग जैन उपाश्रय [भूलेश्वर-बम्बई-४] मे आचार्य श्री विजय जितमृगाङ्क सूरीश्वरजी (उसकाल में पंन्यास श्री मृगाङ्कविजयजीगणिवर) केशिष्य मुनि रत्नभूषणविजय और मुनिहेमभूषणविजय को उपाध्यायजी की तर्कभाषा के अध्यापन का मुझे सुअवसर मिला। अध्ययन के अवसर पर प्रायः मुनिप्रवर तर्कभाषा की इस प्रकार की व्याख्या का निर्माण करने के लिये प्रेरित करते थे। जिससे अभ्यासी जन पदों के अर्थ के साथ युक्ति क्रम को भी स्पष्टरूप से जान सकें। उनकी इस प्रेरणा को ध्यान में रखकर मैंने व्याख्या में पहले सामान्य रूप से हिन्दी में अनुवाद दिया है। फिर हेतुओं को स्पष्ट करने का यत्न किया है स्पष्ट करने के लिये विशेष ध्यान देने से प्रायः पुनरुक्ति व्याख्या में दिखाई देगी। मैंने उपयोगी समझकर इसका आश्रय लिया है। उपाध्यायजीने जिन हेतुओं को सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया है, उनका सरलता के साथ उपपादन करने में विस्तार अनिवार्य रूप से हुआ है। जहां तक हो सका, अभ्यासी जन के लिये अनावश्यक शंका और परिहार से बचता रहा हूँ।

अध्यापन के अवसर पर मुनिवरों ने मेरा ध्यान कभी कभी उपाध्यायजी के पदों में अभिप्रेत अर्थ की ओर दिलाया। नाम आदि निक्षेपों के साथ नयों की योजना का निरूपण करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है:—

किञ्च इन्द्रादिसज्ञामात्रं तदर्थरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारणत्वाविशेषात् कुतो नाम स्थापने नेच्छेत् ?'

यहां पर कुतोनाम स्थापने के स्थान में कुतो नाम द्रव्य–स्थापने –पाठ होना चाहिये । इस स्थल का पूर्वापर संदर्भ इसी रीति से उपपन्न हो सकता है लिपिकार के प्रमाद से अथवा किसी अन्य कारण से द्रव्य–पद यहां पर छुटा हुआ प्रतीत होता है।

उपाध्यायजी ने कहीं कहीं पर जैन आगमों की कथा आदि का सूचन किया है उन अर्थों को जानने में मुनिवरों ने मेरी सहायता की है।

३०४/बी, बांगडवाडी
वी. पी. रोड बम्बई–४
वि. सं. २०२९
आश्विन शुक्ला दशमी
रविवार

विचारक जन सेवक–
ईश्वरचन्द्र शर्मा

卐 यशोविजयवाचक 卐

[अष्टक]

● यः भाति विदुषामग्र्यः धन्यो मुनिषु यः परः ।
स यशोविजयः सद्यः स्तुतिमार्गेऽधिरोहतु ॥१॥

● शोभनं तं तपोगच्छ-नभोमण्डलमण्डनम् ।
महद्भिर्वन्दितं वन्दे, यशोविजयवाचकम् ॥२॥

● विद्यया नाशिता येनाऽविद्या विद्वद्जगत्स्वपि ।
स्तम्भतीर्थे वरे विद्या-गुरुर्विस्मयमापितः ॥३॥

● जगत् यस्मै नमस्कारं, करोति योगतस्त्रिधा ।
चमत्कारि-चरित्राय, तस्मै मेऽस्तु नमो नमः ॥४॥

● यतो विद्यासरित् साधु वृन्दसन्निधिमागता ।
वहत्यद्याप्यखण्डेन, प्रवाहेणातिनिर्मला ॥५॥

● वादिदर्पमहासर्प-मयूरस्य यशस्विनः ।
कः समर्थो गुणांशानां, वर्णनेऽपि प्रयत्नतः ॥६॥

● चन्द्रांशुनिर्मले यस्य, चरित्रसरसि स्वयम् ।
विलसन्ति विनोदेन, गुणहंसा अह निंशम् ॥७॥

● कल्याणदानकल्पद्रो ! मुक्तिमार्गप्रभाकर ।
कल्याणं मे कुरु श्रीमद्-यशोविजयवाचक ! ॥८॥

प्रस्तावना

[पू. आ. देव. श्रीमद् विजयमुक्तिचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजाः]

सुनिश्चितमेतत् षड्दर्शनसूक्ष्मातिसूक्ष्मपदार्थज्ञानवेदिनां स्व-पर पक्षप्रतिपक्षमण्डन-खण्डननिश्चितपदार्थानामधिगतसरस्वतीवरदानानां पण्डितानां यत् स्वपक्षसाधक-परपक्षबाधकप्रमाणपरिष्कृतग्रन्थग्रथनं कस्यापि मध्यस्थपण्डितस्य स्वपरोपकाराय भवति ।

मानाधीना मेयसिद्धिरिति वचनं सर्ववादिसंमतम् । अत एव "**प्रमाणनयैरधिगम**" इति वाचकवर्यास्तत्त्वार्थसूत्र आहुः । जैनतर्कभाषानाम्नो ग्रन्थस्यानन्तरफलं प्रमाणनययथार्थपरिज्ञानं परम्परफलञ्च मोक्षः ।

ग्रन्थकारस्य परिचयः-

कः संख्यावान् न जानाति परमगुरुपरिपूजित-पतितपावनजैनशासने परमशासनप्रभावकं वादिमतंगजकेसरिणं काशीनगरस्थजैनेतरपण्डितप्रदत्त **'न्यायविशारद-न्यायाचार्य'** बिरुदसंयुतं यशोविजयमुपाध्यायपदपूतम् । तथापि न वर्ततेऽस्थानेऽत्र शासनसंरक्षकस्य तस्य महापुरुषस्य सामा-

न्यपरिचयः । विरचिता अनेन महापुरुषेण गीर्वाणगिरि सिद्धान्त-साहित्य-न्याय-कर्मकाण्डादिविषयेष्वसाधारणपाण्डित्येन शतशो ग्रन्था गूर्जरगिरि च स्वल्पशेमुषीशालिनामुपकाराय सिद्धान्तसारात्मकस्तुत्यादिरूपेण । प्रस्तुतजैनतर्कभाषाग्रन्थस्य रचयितारः स्ववंशाम्बरेंदव एते महापुरुषा वसुगजरसचन्द्राङ्किते (१९८८) विक्रमसंवत्सरे गूर्जरदेशे कनोडानगरे जन्म प्राप्नुवन् । एतेषां मातुर्नाम 'सौभाग्यदे' इति, पितुर्नाम 'नारायण' इति, भ्राता च 'पद्मदत्ताभिधानः । जननीजनकदत्तोत्तमसंस्कारेण बाल्यकाल एव धर्मभावनाभावितान्तःकरणा एते महापुरुषाः सद्गुरुसहवासेन संयमसाम्राज्यपरिभोगिणस्संजाताः । बाल्यावस्थायां साधुकठिनचर्यां पालयन्त एतेऽभ्यासदत्तचित्ता अनुक्रमेण काश्यां प्राचीननव्यन्याययोः प्रभुत्वमगाधपरिश्रमेण प्राप्तवन्तः । एतत् स्वयं स्वप्रणीतद्वात्रिंशिकायाः प्रशस्त्यामुल्लिखन्ति—"**प्रकाशार्थं पृथ्व्यास्तरणिरुदयाद्रेरिह यथा, यथा वा पाथोभृत् सकलजगदर्थं जलनिधेः । तथा वाराणस्याः सविधमभजन् ये मम कृते, सतीर्थ्यास्ते तेषां नयविजययविज्ञा विजयिनः**" ।

एकदा दाक्षिणात्यन्यायनिपुणो दक्षिणगूर्जरादिदेशस्थपण्डितविजयोन्मत्तः कश्चित्पण्डितः काशीस्थकोविदान् विजेतुमायासीत् । तदानीं स्वगुरूणां सकलपण्डितानाश्चा-

देशमधिगम्य वाचकवर्यास्तेन सार्धं स्याद्वाद-प्रमाण-नय-स्थापितयुक्तिभंगभंङ्गीभिर्वादं विधाय निराकुर्वंस्तम् । अत एवासाधारणशेमुषीं समीक्ष्य वाराणसीविद्वद्वर्या अदुः श्रीमद्भ्यो न्यायशास्त्रपारदृश्वभ्यो 'न्यायविशारद' इति बिरुदम् ।

पण्डितप्रवरजनदत्तविजयपताका न्यायविशारदा व्यहरन्नेकदोपगङ्गम् । तत्र चित्तालादकस्थानं संप्रेक्ष्येहाश्चक्रुराराधयितुं कविजनमस्तकमुकुटसन्निभां भारतिं भारतीम् । एकविंशतिं दिनानामजपन् गुरुदत्तसरस्वतीमन्त्रमुपगङ्गम् । जपप्रभावेण सरस्वती तत्समक्षं साक्षाद्भूय दत्तवती कवित्वशक्तिं श्रीमद्भ्यः । एतच्च न्यायखण्डखाद्ये प्रारम्भे प्रतिपादितं श्रीमद्भिः स्वयम् ; यथा—

"एँकारजापवरमाप्यकवित्वविद्यं,
वाञ्छासुरद्रुमुपगङ्गमभङ्गरङ्गम् ।
सूक्तैर्विकाशकुसुमैस्तव वीर शम्भो—
रम्भोजयोश्चरणयोर्वितनोमि पूजाम्" ॥

अपरञ्चास्य ग्रंथस्यैव प्रमाणेन तद्रचितग्रन्थानां शतं सिद्ध्यति । तच्चेदम्—

"पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधै-
र्न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ।

शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान्" ॥

यद्यप्यस्यां प्रशस्त्यां किं विषयका एते शतं ग्रन्था इति स्पष्टतया नोल्लिखितं, तथापि न ते जैनप्रक्रियाप्ररूपकाः सरला भवेयुः, किन्त्वश्यमेव न्यायविषयका गम्भीरा असाधारणप्रतिभाप्रदर्शकाः । यतः तत्समकालीन-गदाधरादिपण्डितै रचिता व्युत्पत्तिवाद-शक्तिवादाद्यनेकन्यायग्रन्था इवैते यदि न स्युस्तर्हि कथमन्यदर्शनवासितान्तःकरणपण्डितवर्यास्तेभ्य उपाध्यायमहोदयेभ्यो 'न्यायाचार्य' बिरुदं दद्युरिति कल्पयेऽहम् ।

प्राप्तसरस्वतीवरदानासाधारणक्षयोपशमपराजिता-नेकपण्डितवर्या वाचकेन्द्रा अनुक्रमेण दिल्ली-आग्रादिभूमिं धर्मोपदेशेन पवित्रीकुर्वन्तोऽलञ्चक्रिरे स्वचरणारविन्दैर्मरुदेशम् । तत्रापूर्वां शासनप्रभावनां कृत्वानेकभावुकजनान् प्रतिबोध्य वाचकवर्याः सुरलोकसदृशं भ्राजमानमनेकाद्भुतजिनमन्दिरमण्डितं धार्मिकजनपवित्रितं गूर्जरदेशं शोभयामासुः ।

तदानीमासीत् समस्तागमलोपकानां दिगम्बराणां जिनप्रतिमालंबनप्रतिषेधकर्तृणां ढुंढकानाञ्च मतप्राचुर्यम् । अतस्तन्मतानुयायिभिः सह वादं विधाय विजयपताकां

संप्राप्याकार्षुः तानधोमुखान् । अत एव तन्मतनिरसनार्थमात्मार्थिनां सम्यक्त्वदाढर्यार्थं चानेकग्रन्थानरचयन् । यथा दिगम्बरानपाकर्तुं ज्ञानार्णवाध्यात्ममतपरीक्षा-दिग्पटचोराशीबोल-इत्यादिग्रन्थान् रचयाञ्चक्रुः, तथैव स्वोपज्ञटीकासमन्वितप्रतिमाशतकग्रन्थं विरच्याधरीचक्रुः दुःषमान्धकारप्रदीपायमानजिनवचनसिद्धप्रतिमाप्रतिषेधकानां दर्पम् ।

अपरञ्च रहस्यपदलाञ्छिता अष्टोत्तरशतं ग्रन्था निर्मिताः समस्तशेमुषीशालिजनग्रहगणांशुमालिभिः श्रीमद्भिः । वृत्तमेतदवगम्यते तद्वचनैरेव यथा–"**भाषाविशुद्ध्यर्थं रहस्यपदाङ्किततया चिकीर्षिताष्टोत्तरशतग्रन्थान्तर्गतप्रमारहस्य-स्याद्वादरहस्यादिसजातीयं भाषारहस्यप्रकरणमिदमारभ्यते**" इति भाषारहस्यप्रारम्भे ।

इदानीमप्येतद्ग्रन्थावगाहनतत्परा विद्यार्थिनः शास्त्रपारावारतलावगाहनावाप्तविशिष्टबोधरत्नानामुपाध्यायमहोदयानां कृत्स्नविषयव्यापकं महत्त्वरूयापकं पाण्डित्यं परिलोकयन्तो बुद्धिविषयकमपूर्वमाश्चर्यमनुभवन्ति स्वयञ्च तर्कशक्तिसमन्विताः समर्थविद्वांसो भवन्ति ।

एवं गुरुभक्तिप्रभावेण रचितानेकग्रन्थः प्राप्तदेशनाकौशल्यो वाचकेन्द्रो वादैर्वादिवृन्दं विजित्य विभिन्नदेशस्थाञ्जनान् धर्माराधनतत्परान्कृत्वा संस्थाप्यास्यां जगद्-

रङ्गशालायां शासनास्तित्वपर्यन्तं स्वकीयकीर्तिस्तम्भं च वैक्रम १७४३ तमे वर्षे शासनप्रभावकाणां मुनीश्वराणां मुनिचन्द्रसूरीश्वराणां जन्मभूमौ दर्भावतीपुर्यां (डभोइ) संत्यज्यौदारिकशरीरममरत्वं प्रपेदे ।

– ग्रन्थपरिचयः –

यद्यपि नातिकठिनोऽयं ग्रन्थस्तथाप्येतस्या अवसर्पिण्याः पंचमारे मन्दमेधसामैदंयुगीनानां बालजीवानां सुखावबोधायेयं हिन्दीभाषाटीकातीवोपकारिणी । अतः फलेग्रहिर्मुद्रणादिप्रयासोऽस्याष्टीकायाः । यथार्थं वर्ततेऽस्य ग्रन्थस्य नाम "**जैनतर्क भाषा**" इति । यतो यथार्थज्ञानसाधनानि प्रमाण-नय-निक्षेपा एवास्मिन् ग्रन्थे प्रतिपाद्यन्ते । यद्यपि "**तर्क्यन्ते प्रमितिविषयीक्रियन्त इति तर्काः**" इति व्युत्पत्त्या तर्कशब्दः प्रमाणप्रमेयवाचकस्तथापि प्रमासाधनमपि "**तर्कः**" इत्युच्यते गौतमीयादिग्रन्थेषु । स एवार्थोऽत्र ग्राह्यः ।

विंशतिं यावत्पत्राणामस्मिन् ग्रन्थे "**स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्**" इति लक्षणं कथयित्वा तल्लक्षणमन्यमाना ये ये दर्शनकारा विद्यन्ते तेषां मतखण्डनं प्रबलयुक्त्या प्रतिपादयति । बाह्यार्थनिषेधवादिनः शङ्कराचार्यादयः क्षणिकज्ञानाद्वैतवादिनश्च प्रमाणं स्वव्यवसायि

मन्यन्ते ये च नैयायिकादयस्तत्परव्यवसायि स्वीकुर्वन्ति तेषां मतान्येकान्तप्रतिपादकत्वेन निष्कलङ्कज्ञानकलितजिनेन्द्रप्रणीते जन्तुजात-हितावहे पौर्वापर्यविरोधकलंकविकले सार्वशासने दुर्नयरूपत्वेन दृष्यन्ते ।

पत्रविंशतेरनन्तरं द्वाचत्वारिंशदुत्तरशतपत्रपर्यन्तं सांव्यवहारिक पारमार्थिकप्रत्यक्षं प्रतिपाद्य, सांव्यवहारिकप्रत्यक्षे चक्षुर्मनसी विहाय शेषेन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहादिभेदं निरूप्य चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वं संसाध्य मतिज्ञानस्य मुख्यावान्तरभेदौ प्रतिपादयति । तदनन्तरं श्रुतज्ञानादिचतुष्टयज्ञानस्वरूपं भेदप्रभेदयुतमाक्षेपपरिहारपूर्वकं सविस्तरं विवेचयति । केवलज्ञाननिरूपणकाले दिगम्बरस्य केवलिकवलभुक्तिनिषेधप्रतिपादकपूर्वपक्षं स्थापयित्वा तद्भुक्तिसिद्धिं चतुरचेतश्चमत्कारकारिणीभिर्युक्तिभिर्दर्शयति ।

प्रत्यक्षज्ञानस्वरूपमेवं प्रतिपाद्य परोक्षज्ञानप्रतिपादनकाले स्मरण प्रत्यभिज्ञा-तर्कानुमानागमस्वरूपान् परोक्षभेदान् सविस्तरं वर्णयति । एतदेव प्रतिपादयति ग्रन्थकारस्त्रिचत्वारिंशदुत्तरशततमे पत्रे "**अथ परोक्षमुच्यते' 'अस्पष्टं परोक्षम्' 'तच्च स्मरणप्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागमभेदतः पञ्चप्रकारम्**" ।

स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिरूपणकाले तयोरप्रामाण्यं मन्यमानस्य बौद्धस्य मीमांसकस्य च सविस्तरखण्डनपूर्वकं

तत्प्रामाण्यं दार्ढ्येन पञ्चाशीत्युत्तरशततमपत्रपर्यन्तं निरूपयति । तदनन्तरं चतुर्दशोत्तरशतद्वयपत्रपर्यन्तं तर्कस्याहार्यज्ञानत्वेन स्वरूपेणाप्रामाण्यं मन्यमानस्य नैयायिकस्य विकल्परूपत्वेन मिथ्याज्ञानप्ररूपकस्य बौद्धस्य च मतखण्डनं कृत्वा त्रिकालव्याप्तिग्रहरूपस्य तस्य स्वतः प्रामाण्यं प्रतिपादयति । पञ्चदशोत्तरद्विशततमपत्राद् ग्रन्थप्रथमभागपर्यन्तमनुमाननिरूपणम् । २१५ तमे पत्रे "**तच्च द्विविधं स्वार्थं परार्थं च**" । अग्रे त्रिलक्षणादिहेतुं खण्डयित्वान्यन्यथानुपपत्तिस्वरूपो हेतुः स्वसाध्यसाधनाय समर्थ इत्येवं सविस्तरं प्रतिपादयति । तदनन्तरं स्वार्थपरार्थानुमानान्तर्व्याप्ति-बहिर्व्याप्ति-हेतु-हेत्वाभास--पक्षधर्मत्वादिस्वरूपमनुमानं विवेचयति ।

ग्रन्थद्वितीयभाग आगमप्रमाणविवेचनं सविस्तरं दृश्यते । "**आप्त वचनमागमः । यथा-स्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः**" इत्येवं ग्रन्थेऽस्मिन्प्रारम्भ एव प्रतिपादितम् । आगमप्रमाणे क्वचिद्वस्तुनः प्राधान्येन समस्तधर्मप्रतिपादनम् , क्वचिद् वस्तुन एकांशप्रतिपादनम् । यत्र प्राधान्येन वस्तुनः समस्तधर्म-प्रतिपादनं विद्यते तत्प्रमाणवाक्यम् । यत्रैकदेशप्रतिपादनं प्राधान्येन विद्यते तन्नयवाक्यम् । प्रमाणनयौ ज्ञानशब्दाभ्यां द्विस्वरूपौ । यः प्राधान्येन सकलधर्मप्रतिपादकाभि-

प्रायविशेषः स प्रमाणज्ञानस्वरूपः । यः प्राधान्येनैकधर्म-प्रतिपादकाभिप्रायविशेषः स नयज्ञानस्वरूपः । अत्र तु वचन-स्वरूपागमप्रमाणं विचार्यते । तदाहुर्देवसूरयो **"नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तरभिप्रायविशेषो नयः । स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः ।"** उल्लेखस्तु नयस्य सदिति, दुर्नयस्य सदेवेति । तदाहुः कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरयोऽपि **"सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनय-प्रमाणैः"** ।

जिनागमे कुत्रापि प्रमाणनयविचारो न विद्यत इत्येवं केचिद्वदन्ति ते तु भगवदागमानभिज्ञा एव । यथागमे **"इमाणं भंते रयणपभापुढवी किं सासया असासया ? गोयमा । सिय सासया सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ ! गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए असासया"** । अत्र द्रव्यास्तिक-नयेन रत्नप्रभापृथ्व्याः शाश्वतत्वं प्रोक्तं पर्यायास्तिकनयेना-शाश्वतत्वं चोक्तम् ।

निक्षेपाणां विचारः इत्थंकृतः । आद्यास्त्रयो नया नामस्थापनाद्रव्यरूपं निक्षेपत्रयं मन्यन्ते । शेषाश्चत्वारो नया भावनिक्षेपमेव केवलं मन्यन्ते । घटपदार्थस्य चत्वारो निक्षेपा उदाह्रियन्ते । तत्र यस्य कस्यचिद्वस्तुनो घट इति

नाम क्रियते स नामघटः । घट इति नामापि नामघटः । यत्किमपि वस्तु घटाकारं घटाकाररहितं वाऽयं घट इत्येवं स्थाप्यते स स्थापनाघटः । यद्-मृद्द्रव्यं घटरूपेण परिणंस्यति, अनुभूतघटपरिणामं वा तन्मृद्द्रव्यं घटकारणत्वा घटोऽयमित्येवं निक्षिप्यमाणं द्रव्यघटः । यस्य वस्तुनो यदसाधारणस्वरूपं तत्तस्य भाव इति । पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थो घटोयमित्येवं सङ्केतितो भावघट इति भावनिक्षेपः ।

नामनिक्षेपाभ्युपगन्तृनैगमनयविशेषमते शब्दार्थयोस्तादात्म्यमेव सम्बन्ध इत्यर्थस्य नामरूपतेति ।

"अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति वचनप्रामाण्यादेकशब्दवाच्यत्वेन शब्दार्थयोस्तादात्म्यमिति घट-इति नामापि घट एव, तुल्यपरिणामत्वेन घटरूपार्थेन समं घटपरिणामसमपरिणामस्य वस्तुनोऽभेदेन घटाकारोऽपि घट एव मुख्यार्थस्याभावादेव तत्र तत्प्रतिकृतित्वम् । परिणाम-परिणामिभावसम्बन्धस्यात्यन्तभेदेऽनुपपत्त्या मृत्पण्डादिद्रव्यघटोऽपि घट एव । पृथुबुध्नोदराद्याकारस्य कम्बुग्रीवादिमतो भावघटस्य घटत्वं सर्वानुमतमेवेत्येवं चत्वारो निक्षेपा नयसंमताः । यदाहुरनुयोगद्वारसूत्रकाराः "**जत्थ य जं जाणिज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि य न जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खिवे तत्थ**" इति वचन-

प्रामाण्यान्निरुक्तनिक्षेपचतुष्टयस्य सर्ववस्तुव्यापित्वमवसेयम् ।

एवं नयनिक्षेपविषये सप्तभंगी विषये च ग्रन्थकारेणातिविशदतया पदार्थपृथक्करणं कृतं तत्सर्वं समालोचनीयं सुधिया स्याद्वादपरिकर्मितधिया धीधनेन ।

पूज्यपाद-व्याख्यानवाचस्पति-परमशासनप्रभावकाचार्यदेवानां श्रीमतां विजयरामचंद्रसूरीश्वराणां पट्टालंकारपूज्यपाद--प्रशांतमूर्त्याचार्यदेवश्रीमद्विजयजितमृगाँकसूरीश्वराणां शिष्यरत्नाभ्यां मुनि रत्नभूषण-हेमभूषणविजयाभ्यां ग्रन्थस्यास्याध्ययनकाले ग्रन्थोऽयमनुवादयितुं विवेचयितुश्चाभिलषितः, कालान्तरेण पंडितवर्येश्वरचन्द्रमहोदयेन अस्य ग्रन्थस्य हिन्दीभाषानुवादेन विवेचनया च तयोर्द्वयोरभिलाषोऽपूर्यत ।

विलोकयन्तां साद्यन्तमिमां टीकां सुविचारचातुरीपूर्वं सर्वे स्वच्छमानसा विदांवरिष्ठाः । मधुरतरप्रमाणनयनिक्षेपामृतरसमयस्य सुरगुरुसुधामधरीकुर्वाणस्यैतद्ग्रन्थस्य पानेन बुधास्तृप्यन्तु । आत्मसात्कुर्वन्तु महानुभावाः पदार्थसूक्ष्मतत्त्वावगाहनविचारकरणचतुरास्सदसद्विवेककारणं भवभयनाशनं यथार्थज्ञानम् । सफलीकुर्वतामेतद्ग्रन्थस्य रचयितुर्विवेनाकर्तुश्च परिश्रमम् । प्राप्नुवन्तु ते यथार्थज्ञानफलां

दुःखमयसंसारक्षयनिबन्धानां पारमेश्वरीं प्रव्रज्याम्, सकल-कर्मक्षयस्वरूपमजरामरपदमनन्तसुखधाम चेत्याशासानो विरमति स्वकीयवाक्प्रपञ्चात् ।

अमदावाद,
दानसूरिज्ञानमंदिरम्;
वैक्रम २०३१ तमे वर्षे,
चैत्रकृष्णचतुर्थ्याम् ।

तपोगच्छाम्बरमणीनां व्याख्यानवाचस्पत्याचार्यदेवश्रीमद्विजयरामचंद्रसूरीश्वराणां किंकराणुः शिष्याणु-
मुक्तिचन्द्रसूरिः ।



❀ शुद्धिपत्रक ❀

पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	और	ओर
५	८	जन	जैन
५	२३	कपिल……	कपिला……
५	४	…स्तिक	आस्तिक
१३	१३	न्याः	न्यायः
१५	१८	मीमांसा	मीमांसा को
१६	१६	कुवि	कवि
१७	२	मयेषा	मयैषा
२२	८	विद्या	विद्या
३०	११	सविस्त.	सविस्तरं
३२	५	कारणत्वा	कारणत्वाद्

-- प्रमाण परिच्छेदः --

३	१४	के	का
७	१८	में मनुष्य	मनुष्य
२१	७	विरूद्धा	विरुद्धा
४७	१३	शब्द	और शब्द
४७	१४	और इन	इन
५०	५	संबंधात्मक	संबंध
५०	६	पर	पद
५५	७	ताभ्य	ताभ्यां
५७	१०	विषक	विषय
६४	१६	सव स्या…	सर्वस्या…

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९	२०	न्वथ	न्वर्थं···
७२	४	उनका	उसका
८७	२०	ओर	और
९६	१६	'यह'	'वह'
१०१	२५	त्रया	त्रयी
१०४	२	वस्त्येकत्व	वस्त्वेकत्व
१०७	२३	ई कार्य	कार्य
१०९	१८	योग्य	अयोग्य
११०	१६	द्वदश	द्वादश
११२	२	सवदव	सर्वदैव
११२	४	-द्विरुपे···	दिरूपे···
११६	११	प्राप्त	नहीं प्राप्त
१२१	११	एव	एवं
१२५	११	वधमा···	वर्धमा···
१२५	१२	मथनो···	मंथनो···
१२६	१०	मवाद्वषय	मवद्विषयं
१२८	५	बह्म ···	बाह्मा···
१३९	२३	तद्	तदु-
१५०	१५	अन्य	जन्य
१५४	२२	जाती	जाति
१५५	६	जाती	जाति
१५९	२१	वर्त्य	वर्त्यं
१६१	२४	मभव	मनुभव
१७२	२५	क्रम का	क्रम को
१७९	२३	दर्शन	दर्शनं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८५	१३	मात्र	मात्रं
१९२	५	यरण्य	करण्य
१९४	१६	करण	करुण्य
१९४	२३	...सहा...	-संहा-
१९५	अंतिम	उत्पन्न	उपपन्न
१९६	१७	भावा	भावो
१९८	५	गौ के	गौ
१९९	१८	अवाप	आवाप
२०४	२२	आमान्य	सामान्य
२०५	१५	-रूप-	-रुप-
२०६	७	उपलम्मों	अनुपलम्मों
२०९	११	आदि,	आदि हैं,
२१२	२०	प्रामाण्य	प्रामाण्यं
२१३	१९	ज्ञानारूप	ज्ञानरूप
२२१	८	ने थं	नेत्थं
२२३	४	धम्मता	धर्मता
२२३	२१	-दि यत्र	-दित्यत्र
२२३	२२	पवतस्य	पर्वतस्य
२२३	२३	-मवेन-	-भावेन-
२३१	६	वेवे	के
२३४	१०	मित्रा	मित्रा का
२३४	१०	वर्ण का	वर्ण
२३५	१३	निश्चया	निश्चय
२३५	१४	कह	कहा
२४८	११	दूय	दूयं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४९	१६	गोचरत्थ	गोचरत्वं
२५४	२१	महीं	नहीं
२५६	१९	साध्यतायां	साध्यायां
२६२	अंतिम	-धानपपत्ते-	-धानुपपत्ते-
२६४	१६	-सशये-	-संशये-
२६४	२०	-द्यश	द्यंश
२६५	५	शिविष्ट	विशिष्ट
२७३	१०	नित्यत्वादो	नित्यत्वादौ
२७७	१०	जन	जैन
२७८	२६	पक्षस्य	मूलम्:-पक्षस्य
२८३	४	-पत्तोरति-	-पत्तेरिति
२८५	२	नेवा	नैवा
२९०	१५	निवृत्	निवृत्त्
३००	५	साऽय	सोऽयं
३१०	१४	-नन्तर	-नन्तरं
३२६	१५	क्षेत्र हैं	क्षेत्र
३३१	१६	पदाथ	पदार्थ
३३९	१५	वक्तृत्व	वक्तृत्वं
३४६	६	श्रेद्धदायः	श्रद्धेयः
३६१	१८	जौर	और
३६७	९	चक्षुद्वारा	चक्षु
३८५	२२	आविद्य-	अविद्य-
३९६	२०	-भिभैंद	भिभेंद
४०२	२४	जन	जिन

-- नय परिच्छेदः --

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१८	-शत	-शस्त
२	१०	-ताथस्वपक्षा	-तार्थेस्वपेक्षा
५	१०	पयाय	पर्याय
७	३	-भिरु-	-भिरू-
७	१७	धमो	धर्मो
१४	२४	उनके	उनके भेदों के
२१	६	-वादर-	-वादेर-
२२	अंतिम	गाः,	गौः,
२३	७	शब्दानां	शब्दानां
३२	२३	काण	कारण
६२	६	-नात्त्व	-ना त्व
६३	२	टप-	पट-

-- निक्षेप परिच्छेदः --

२	१०	श्रेता	श्रोता
३	१३	अर्थ छे	अर्थ के
५	२२	-माननेन	-मानेन
११	८	में आरोप	में
१३	६	क्वचिद्	क्वचिद
२२	१६	-भुते	-भूते-
२४	१७	स्कन से	स्थान से
३१	१२	कायपिन्न	कार्यापन्न
३९	अंतिम	जस	जिस
४१	२३	अनुसार ।	अनुसार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७	१७	है जो।	है। जो
५६	१४	मन	मत
५७	१६	ऋतश्च	एतैश्च
६६	अंतिम	मात्रा	भाव
६८	१७	अर्थ	अर्थ है
७१	६	विरुदं	बिरुदं-

मुद्रण की जिन अशुद्धियों का देखते ही ज्ञान हो जाता है उनका उल्लेख इस शुद्धिपत्रक में नहीं किया गया है। जिन पर ध्यान देना आवश्यक है उनका इसमें उल्लेख है।

आभार-

पू. मुनिश्री रत्नभूषणविजयजी ने बहुत यत्न से यह शुद्धिपत्रक बनाया है-इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

प्रकाशक—

卐

ॐ ह्रीँ अर्हं नमः

मूल-अर्थ-विवेचना सहिता

न्यायाचार्य-न्यायविशारदमहामहोपाध्याय श्रीमद्

यशोविजयगणि प्रणीता

❀ जैन तर्क भाषा ❀

प्रमाणपरिच्छेदः १.

मूलम्-ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा, जिनं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपैस्तर्कभाषां तनोम्यहम् ॥

विवेचना—उपाध्यायवरश्रीमद्यशोविजयनिर्मिताम् ।
तर्कभाषां यथामानं, व्याख्यामि सरलैः पदैः ॥

ग्रंथकार महामहोपाध्याय श्री यशोविजय गणि ग्रंथ के आदि में मंगल करते हैं। 'ऐन्द्रवृन्दनतमिति' अनेक इन्द्र जिसको नमस्कार करते हैं। उस तत्त्वाथ का उपदेश करने वाले जिन को प्रणाम कर के प्रमाणनय और निक्षेप के द्वारा तर्कभाषा को करता हूँ।

इस स्तुति के द्वारा भगवान् जिनके अतिशय सूचित होते हैं। भगवान तत्वार्थ का उपदेश करते हैं। इससे वचनातिशय और ज्ञानातिशय प्रतीत होता है। भगवान् का ज्ञान तत्त्व-ज्ञान है उसमें अर्थों के स्वरुप का यथार्थ प्रकाशन है। जो तत्त्वभूत अर्थ हैं उनको जिनेन्द्र प्रकट करते हैं। एकांतवादी लोग अर्थों के जिस स्वरूप को स्वीकार करते हैं वह सत्य नहीं है। प्रमाण उसका उपपादन नहीं करते। जिन अपने ज्ञाना-

तिशय से तत्त्वभूत अर्थों का प्रकाशन करते हैं। तत्त्वार्थ का उपदेश वाक्य रूप है। इससे उपदेश के द्वारा वचनातिशय प्रकट होता है।

'ऐन्द्रवृन्दनतम्' इस विशेषण द्वारा भगवान् के पूजातिशय का प्रकाशन होता है। जिस भगवान् को समस्त इन्द्र प्रणाम करते हैं वे अति पूजनीय हैं। इन्द्रों के द्वारा पूजा होती है, इससे वे मनुष्यों के पूजनीय अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं। मनुष्यों की अपेक्षा इन्द्रों में सद्गुण कहीं अधिक है। इन्द्र क्या साधारण देव भी मनुष्य की अपेक्षा गुणों में बढे चढे हैं। देवों के अधिपति इन्द्र जब भगवान् के चरणों में शिर झुकाते हैं, तब मनुष्यों वा मनुष्यों के अधिपतियों का तो कहना ही क्या? यहां पर जिन शब्द विशेष्य वाचक है। 'रागादि शत्रून् जितवान् इति जिनः।' यह जिन शब्द की व्युत्पत्ति है। भगवान ने रागादि शत्रुओं को जीत लिया, इससे भगवान् के अपायापगम रूप अतिशय का प्रकाशन होता है। इस रीति से ज्ञानातिशय वचनातिशय, पूजातिशय और अपायापगमातिशय इन चारों अतिशयों का प्रतिपादन हुआ है।

ग्रंथकार ने प्रकृत ग्रंथ को 'तर्क भाषा' नाम से कहा। तर्क भाषा का अर्थ है 'तर्क का प्रतिपादक वचन समूह' तर्क्यन्ते प्रमिति विषयी क्रियन्ते इति तर्काः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार तर्क शब्द प्रमाण और प्रमेय का वाचक है। परंतु यहां तर्क शब्द का प्रयोग इस अर्थ को लेकर नहीं हुआ। यथार्थ ज्ञान के साधन को तर्क मानकर यहाँ तर्क शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अर्थ में तर्क शब्द के अनेक प्रयोग मिलते हैं। गौतम और कपिल आदि के शास्त्रों के अनुसार प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण तत्त्वज्ञान के साधन है। इसलिये गौतमीय आदि शास्त्रों

में जो तर्क विषयक ग्रंथ हैं, उन में प्रमाणों का निरूपण हैं। जैन मत के अनुसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही यथार्थ ज्ञान के साधन नहीं हैं किन्तु नय और निक्षेप भी यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। इसलिये प्रकृत तर्क भाषा नाम में 'तर्क' शब्द प्रमाण नय और निक्षेप इन तीनों का बोध कराता है।

मूलम्–तत्र-स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्-स्वम् आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थः, परः तस्माद-न्योऽर्थ इति यावत् तौ व्यवस्यति यथास्थितत्वेन निश्चिनोतीत्येवं-शीलं स्वपरव्यवसायि।

अर्थ–स्व और पर का व्यवसाय अर्थात् निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है। 'स्व' का अर्थ है आत्मा, अर्थात् ज्ञान का ही स्वरूप। 'पर' अर्थात् उससे भिन्न-'अर्थ' इन दोनों के यथार्थरूप से निश्चित करना, जिसका स्वभाव है, वह ज्ञान प्रमाण है।

विवेचना—'तत्र स्वपरेति' पहले प्रमाण के सामान्य लक्षण को कहा है। स्व और पर का व्यवसाय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है। स्व शब्द अपने स्वरूप का वाचक है। जहाँ जो अर्थ प्रतिपाद्य है, वहाँ उस अर्थ के स्वरूप का वाचक स्व शब्द होता है। प्रकृत वाक्य में मुख्य रुप से ज्ञान को कहा गया है। इस लिये यहां स्व शब्द ज्ञान के स्वरूप का वाचक है। जो ज्ञान स्व का अपने स्वरूप का और पर का निश्चय कराता है वह प्रमाण है। जब कोई ज्ञान होता है– तब किसी न किसी विषय में होता है। न अकेला ज्ञान प्रतीत होता है न अकेला विषय। ज्ञान और विषय दोनों साथ साथ प्रकट होते हैं।

ज्ञान के बिना विषय और विषय के बिना ज्ञान नहीं प्रतित होता। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई इस प्रकार का अर्थ नहीं है। जो अपने आपको भी प्रकाशित करे और दूसरे को भी प्रकाशित करे। स्व और पर को प्रकाशित करना ज्ञान का असाधारण स्वरूप है। जब ज्ञान का प्रकाशन यथार्थ होता है तब उसको व्यवसायि कहते हैं। स्व और पर का व्यवसायी ज्ञान प्रमाण होता है।

मूलम्–अत्र दर्शनेऽतिव्याप्ति वारणाय ज्ञानपदम्।

अर्थ–इस लक्षण में ज्ञानपद दर्शन नामक बोध में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये है।

विवेचना–अनेक जैन तार्किक बोध को उपयोग कहते हैं और उपयोग के दो विभाग करते हैं। दशन और ज्ञान, ये दो उपयोग के भेद हैं। विशेष धर्मों के प्रकाशन से शून्य केवल सामान्य को प्रकाशित करने वाला बोध दर्शन कहा जाता है। श्री 'वादिदेवसूरि' इस बोध को प्रमाण रूप नहीं मानते। ग्रंथकार ने जो प्रमाण का लक्षण किया है वह श्री 'वादिदेवसूरि' का है। इस लिये उनके मत के अनुसार ग्रंथकार यहां पर ज्ञानपद के द्वारा दर्शन में अतिव्याप्ति का निवारण करते हैं। वे कहते हैं—'अत्र दर्शनेऽतिव्याप्ति वारणाय ज्ञानपदम्।'

श्री वादिदेवसूरि ने 'स्याद्वाद रत्नाकर' में ज्ञानपद का एक अन्य प्रयोजन भी प्रकट किया है। अक्षपादीय न्याय के अनुगामी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार सन्निकर्ष ज्ञान की उत्पत्ति का साधन है, अतः प्रमाण है। जैन तर्क के अनुसार प्रमाण सदा ज्ञानात्मक ही

होता है। इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञानरूप नहीं है। इस लक्षण का ज्ञानपद सन्निकर्ष को अप्रमाण कहता है।

मूलम्-संशयविपर्ययानध्यवसायेषु तद्वारणाय व्यवसायिपदम्।

अर्थ–संशय विपर्यय और अनध्यवसाय में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये व्यवसायि पद है।

विवेचना-संदेह विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानरूप हैं। इन में भी ज्ञान का और अर्थ का स्वरूप प्रकट होता है। परन्तु ये ज्ञान व्यवसायरूप नहीं हैं। जो ज्ञान किसी वस्तु के निश्चित स्वरूप को प्रकाशित करता है वह व्यवसायात्मक कहा जाता है संशय आदि तीनों ज्ञानों में वस्तु का निश्चित स्वरूप नहीं प्रतीत होता। इस लिये ये व्यवसायात्मक नहीं हैं। जिस ज्ञान में अस्थिर अनेक कोटियों का ज्ञान हो उसको संशय कहते हैं। व्यवसायी ज्ञान किसी एक अर्थ-को ही प्रकाशित करता है। उसमें अनेक अर्थ अस्थिर रूप से नहीं प्रतीत होने इसलिये 'संशय' व्यवसायी नहीं है।

जिस ज्ञान में एक विपरीत कोटि का भान हो उसको विपर्यय कहते हैं। यह भी वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं प्रकाशित करता. अतः व्यवसायी नहीं है। विपरीत स्वरूप का प्रकाशक होने के कारण 'विपर्यय' भी व्यवसायात्मक नहीं है।

जो ज्ञान किसी वस्तु को अस्पष्टरूप से प्रकाशित करता है, वस्तु के किसी निश्चित स्वरूप को नहीं प्रकट करता वह अनध्यवसाय है। चलते चलते किसी वस्तु के स्पर्श होने का ज्ञान होता है। जिसका स्पर्श हुआ है उसके निश्चित स्वरूप की प्रतीति नहीं होती। इस ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं।

ये तीनों ज्ञान व्यवसायात्मक नहीं है। व्यवसायी ज्ञान में वस्तु के निश्चित स्वरूप का भान होता है। संशय में एक से अधिक वस्तुओं के ज्ञान स्थिर नहीं होते, इसलिये संशय व्यवसायात्मक नहीं है। विपर्यय में एक वस्तु का ज्ञान यद्यपि स्थिर रूप में होता है, पर सत्य रूप में नहीं होता, इसलिये वह व्यवसायात्मक नहीं है। अनध्यवसाय में अस्थिर रूप से अर्थों का प्रकाशन नहीं है, और न वस्तु के केवल मिथ्यारूप का प्रकाशन है, परन्तु उसमें वस्तु के सत्य स्वरूप का प्रकाशन नहीं है, अतः अनध्यवसाय भी व्यवसायात्मक नहीं है। वस्तु के विशेष स्वरूप को प्रकाशित न करने के कारण संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनों ज्ञान प्रमाण नहीं हैं।

इस लक्षण में 'स्व और पर' पद प्रमाण के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। इन पदों से किसी अतिव्याप्ति का निवारण नहीं होता। विशेषण दो प्रकार के होते हैं व्यावर्तक और स्वरूपबोधक। जिस वस्तु को जानना चाहते है उससे भिन्न वस्तु की प्रतीति को रोकने के लिये व्यावर्तक विशेषण होता है व्यावर्तक विशेषण न हो तो जो लक्ष्य नहीं है वह भी लक्ष्य के रूप में प्रतीत होने लगता है। व्यावतक विशेषण अलक्ष्य से लक्ष्य के भेद को प्रकट करता है। स्वरूप बोधक विशेषण केवल वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करता है। स्वरूप के बोधक विशेषण को 'स्वरूपोपरंजक' भी कहते हैं। कुछ लोग वस्तु के मिथ्या स्वरूपों की कल्पना कर लेते है स्वरूप बोधक विशेषण मिथ्यारूपों को दूर कर देता है और सत्य स्वरूप को प्रकट कर देता है। प्रकृत लक्षण के स्व

पर पद प्रमाण के सत्य स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। अन्य वादियों ने जिन स्वरूपों की कल्पना की है उसको दूर करते हैं।

'कुमारिलभट्ट' के अनुगामी मीमांसक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं स्वीकार करते। उनके मत में ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान का अनुमान होता है। ज्ञान के द्वारा विषय की प्रतीति होती है। ज्ञात वस्तु के कारण ज्ञान का अनुमान होता है। यदि वस्तु ज्ञात न हो तो ज्ञान की प्रतीति नहीं हो सकती। ज्ञान से पहले वस्तु अज्ञात रहती है ज्ञान होने के पीछे अर्थ प्रतीत होता है, इसलिये ज्ञान के द्वारा अर्थ में ज्ञातता उत्पन्न होती है। बिना ज्ञान के ज्ञातता अर्थ में नहीं उत्पन्न हो सकती इसलिये ज्ञातता के द्वारा उसके उत्पादक ज्ञान की अनुमिति होती है। वस्तु का जो सहज रूप है वह सदा वस्तु के साथ रहता है। जब तक किसी अन्य वस्तु के साथ संबंध नहीं होता तब तक वस्तु का सहज रूप अपने शुद्ध रूप में प्रतीत होता रहता है। मनुष्य का जो स्वाभाविक रूप है, वह अपने शुद्ध स्वरूप में दिखाई देता रहता है। जब मनुष्य हाथ में दंड ले तब मनुष्य दंडी के स्वरूप में प्रतीत होता है। दंडी स्वरूप में मनुष्य का प्रत्यक्ष दंड के संबंध से हुआ है। दंड का संबंध दंडी स्वरूप में मनुष्य की प्रतीति का कारण है। अर्थ के जिस स्वरूप की प्रतीति कभी हो और कभी न हो, कभी किसी वस्तु के साथ हो और कभी किसी वस्तु के बिना हो, तो अन्य वस्तु के संबंध को प्रकाशित करने वाली प्रतीति अन्य वस्तु के संबंध से होती है। मनुष्य में दंडीपन दंड के संसर्ग से हुआ है। दंडी के स्वरूप में ज्ञान मनुष्य और दंड के संबंध में प्रमाण है। इसी प्रकार अर्थ का जब ज्ञान नहीं होता तब वह अज्ञात रहता है। उस काल में अर्थ ज्ञात रूप में प्रतीत नहीं होता

वह अज्ञात स्वरूप में रहता है। ज्ञात रूप में प्रतीति अर्थ के साथ ज्ञान के संबंध को प्रकट करती है। मनुष्य का दंडीपन जिस प्रकार दंड के संबंध से है इस प्रकार अर्थ का ज्ञातपन ज्ञान के संबंध से है।

दंड और मनुष्य का जो संबंध है, उससे ज्ञान और अर्थ के संबंध में कुछ भेद है। मनुष्य दंड के बिना भी प्रतीत होता है और दंड के साथ भी, इस लिये मनुष्य के शुद्ध और संसर्ग के द्वारा प्रतीत होने वाले दोनों स्वरूप स्पष्ट हैं। अर्थ और ज्ञान का संबंध तब प्रतीत होता है जब अर्थ का ज्ञान हो। अर्थ जब अज्ञात हो तब अर्थ का स्वरूप प्रतीत नहीं होता। अर्थ जब प्रतीत होता है तब ज्ञान के साथ प्रतीत होता है। दंड के बिना मनुष्य की प्रतीति होती है पर ज्ञान के बिना अर्थ की प्रतीति नहीं होती, इतना ज्ञान और दंड में भेद है। बिना दंड के सम्बन्ध के दंडी के स्वरूप में प्रतीति नहीं हो सकती, ज्ञात रूप में अर्थकी प्रतीति भी ज्ञान के संबंध के बिना नहीं हो सकती, यह ज्ञान और दंड के संबंध में समानता है। दंड के बिना मनुष्य जिस प्रकार विद्यमान है, इस प्रकार ज्ञान के बिना अर्थ भी विद्यमान है। जिस दंड के कारण दंडी के स्वरूप में प्रतीति होती है, वह दंड प्रत्यक्ष है। परन्तु जिस ज्ञान के संबंध के कारण अर्थ ज्ञात रूप में प्रतीत होता है, वह ज्ञान परोक्ष है। दंड के संसर्गसे दंडी रूप में प्रतीति को उत्पन्न होता देखकर अर्थ की ज्ञात रूप में प्रतीति ज्ञान के संबंध से हुई है इस प्रकार का अनुमान होता है।

एक अन्य दृष्टांत ज्ञान और अर्थ के संबंध को अधिक समानता के साथ प्रकाशित करता है। अर्थ जब दिखाई देते हैं तब प्रकाश से प्रकाशित रूप में प्रतीत होते हैं। जब प्रकाश

के साथ अर्थ का संबंध नहीं होता, तब अर्थ अप्रकाशित रहते हैं। अर्थ अप्रकाशित दशा को छोड़कर जब प्रकाशित दशा में आते हैं तब अर्थ और प्रकाश का संबंध स्पष्ट प्रतीत होता है। वृक्ष जब तक अंधेरे में रहता है तब तक अप्रकाशित रहता है। प्रकाशित न होने पर भी वह विद्यमान है। अर्थ का भी जब ज्ञान नहीं होता तब वह अज्ञान दशा में रहता है। जब उसका ज्ञान होता है तब वह ज्ञात रूप में प्रतीत होता है। वृक्ष की प्रकाशित दशा जिस प्रकार प्रकाश के बिना नहीं हो सकती, इस प्रकार अर्थ की ज्ञातता ज्ञान के बिना नहीं हो सकती, इस रीति से ज्ञातता के द्वारा ज्ञान का अनुमान होता है।

कुमारिलभट्ट के अनुगामी मीमांसकों के इस मत का निषेध 'स्व और पर' पद से हुआ है। जैन मत के अनुसार ज्ञान परोक्ष नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष है। ज्ञान केवल अर्थ को नहीं प्रकाशित करता, अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है। प्रकाश और वृक्ष का संबध जिस प्रकार प्रत्यक्ष है इस प्रकार अर्थ का और ज्ञान का संबंध भी प्रत्यक्ष है। वृक्ष के साथ जिस प्रकार प्रकाश भी दिखाई देता है इस प्रकार अर्थ के साथ ज्ञान भी प्रतीत होता है। प्रकाश और ज्ञान दोनों प्रकाशक हैं। सूर्य चन्द्र, और दीपक आदि का प्रकाश जब वृक्ष आदि को प्रकाशित करता है तब स्वयं भी दिखाई देता है। जिस प्रकार वृक्ष प्रकाशित प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रकाश भी प्रकाशित होता है। ज्ञान भी जब अर्थ को प्रतीत कराता है तब केवल अर्थ को नहीं अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है। प्रकाश और ज्ञान दोनों स्व और पर के प्रकाशक हैं। इस प्रकार यहाँ स्व और पर पद के द्वारा ज्ञान के परोक्ष स्वभाव का निषेध हुआ है।

नैयायिकों के मत का भी 'स्व और पर' विशेषण से यहां निराकरण हुआ है । नैयायिक ज्ञान को परोक्ष नहीं मानते । वे ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं । पर वे ज्ञान को स्वप्रकाशक नहीं मानते । न्यायमतके अनुसार ज्ञान, वृक्ष आदि परभूत अर्थ का प्रकाशक है और उस ज्ञान का प्रत्यक्ष भी हो सकता है उसके अनुमान की आवश्यकता नहीं है, परन्तु वह स्वय अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता ।

घडे को देखने के अनन्तर 'मैं घडे को जानता हूं' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं । अनुव्यवसाय से घट और उसके ज्ञान का प्रकाशन होता है । ज्ञान को स्व प्रकाश कहने वाले जैन कहते हैं-यदि घट के समान ज्ञान को प्रत्यक्ष करने के लिये दूसरे ज्ञान की आवश्यकता हो तो दूसरे ज्ञान को प्रत्यक्ष करने के लिये तीसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी । इस प्रकार जो भी ज्ञान होगा उसको प्रत्यक्ष करने के लिये अन्य ज्ञान आवश्यक हो जायगा इस रीति से अनवस्था होगी । जिसके कारण प्रथम ज्ञान भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा । इस तत्त्व को सूचित करने के लिये प्रमाण के लक्षण में 'स्व पर' पद हैं । सूर्य दीपक आदि का प्रकाश जब किसी अर्थ को प्रकाशित करता है तब प्रकाश को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती । ज्ञान भी जब अर्थ को प्रकाशित करता है तब ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है । ज्ञान प्रकाश के समान स्व प्रकाश है ।

इसके अतिरिक्त नैयायिक जगत् के कर्त्ता परमेश्वर के ज्ञान को समस्त अर्थों का जिस प्रकार प्रकाशक मानते है इस प्रकार अपने स्वरूप का भी प्रकाशक मानते है । यदि

परमेश्वर का ज्ञान स्वप्रकाशक न हो, तो उसको अप्रकाशित स्वरूप में ही, स्थिर मानना पडेगा । जीवों को अनेक ज्ञान होते हैं इस लिये प्रथम ज्ञान को द्वितीय ज्ञान प्रकाशित कर सकता है। परन्तु परमेश्वर का ज्ञान नित्य और एक है । उसका कोई दूसरा ज्ञान नहीं है जो प्रथम ज्ञान को प्रकाशित कर सके। इस रीति से परमेश्वर का ज्ञान जीवों के ज्ञान की अपेक्षा भी बहुत हीन हो जायगा । इस आपत्ति को दूर करने के लिये नैयायिक परमेश्वर के ज्ञान को पर और स्व का प्रकाशक मानते हैं। यदि ज्ञान का स्वभाव स्वप्रकाशक न हो तो परमेश्वर का ज्ञान भी स्व प्रकाशक नहीं बन सकता। किसी भी अर्थ का स्वरूप परिमाण आदि में छोटा बडा हो सकता है. परन्तु अपने स्वरूप का त्याग नहीं कर सकता। वृक्ष आदि अर्थ स्व प्रकाशक नहीं है। उनको प्रकाशित करने के लिये सूर्य दीपक आदि की अपेक्षा होती है। वृक्ष आदि छोटे-बडे हो सकते हैं छोटा-बडा होना अर्थों का नियत स्वरूप नहीं हैं । सहकारी निमित्त कारणों से अर्थ छोटे-बडे हो सकते है, पर उनका स्वरूप सदा समान रहता है । वृक्ष आदि छोटे हों या बडे उनको प्रकाशित होने के लिये दीपक आदि के प्रकाश की अपेक्षा अवश्य रहेगी । छोटा वृक्ष आदि दीपक से प्रकाशित हो और बडा वृक्ष दीपक आदि के बिना स्वय प्रकाशित हो जाय इस प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जीवों का ज्ञान इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है इसलिये वह एक अर्थ का अथवा दो-चार अर्थों का प्रकाशक हो सकता है। परमेश्वर का ज्ञान व्यापक है इसलिये समस्त अर्थों का प्रकाशक हो सकता है । इतने में किसी प्रमाण का विरोध नहीं है, किन्तु व्यापक होने मात्र से कोई ज्ञान अपने अप्रकाशमय स्वरूप को छोड नहीं सकता। नैयायिक परमेश्वर

के ज्ञान को स्व प्रकाशक मानते हैं इससे सिद्ध होता है, ज्ञान का स्वभाव स्व प्रकाशक है पर परिमित और अपरिमित होने के कारण अल्प और अधिक संख्या में अर्थों का प्रकाश करता है। दीपक छोटा है और सूर्य बडा है । दीपक थोडी दूर तक के अर्थों को प्रकाशित करता है और सूय पृथ्वी भर के अर्थों को प्रकाशित करता है। इतना भेद होने पर भी दीपक और सूय के स्व प्रकाशक स्वरूप में भेद नहीं है। प्रकाश के समान ज्ञान भी स्व और पर का प्रकाशक है।

प्रकृत प्रमाण लक्षण का 'पर' पद ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार के मत का निषेध करता है। योगाचार लोग बौद्ध हैं। उनके अनुसार ज्ञान ही सत्य है। ज्ञान से प्रतीत होने वाला बाह्य अर्थ मिथ्या है। ज्ञान में जो कुछ प्रतीत होता है वह वस्तुतः विद्यमान नहीं है। परमार्थ की अपेक्षा से ज्ञान अपने स्वरूप का प्रकाशक है । ज्ञान से भिन्न पर नहीं है इसलिये पर प्रकाशक नहीं है । इस मत का निराकरण करने के लिये भी 'पर' पद है। ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होने वाले अर्थ सभी मिथ्या नहीं हैं। कभी कभी ज्ञान में अविद्यमान अर्थ भी प्रकाशित होने लगते हैं। ग्रीष्म ऋतु में दूर से देखने पर मरुस्थल में भी पानी दिखाई देने लगता है। पर इस कारण पास में जो पानी दिखाई देता है वह मिथ्या नहीं हो जाता। मिथ्या जल से तृप्ति नहीं होती परन्तु सत्य जल से होती है। मिथ्या अर्थ का प्रकाशक ज्ञान प्रमाण नहीं होता । प्रकृत लक्षण प्रमाणभूत ज्ञान का है, वह सत्य अर्थ का प्रकाशक है । इस वस्तु को प्रकट करने के लिये लक्षण में 'पर' पद है । ज्ञान जिस प्रकार सत्य है इस प्रकार सत्य ज्ञान का विषय भी सत्य है ।

इस वस्तु को ग्रंथकार ने इन शब्दों में प्रकट किया है।

मूलम्–परोक्ष बुद्ध्यादिवादिनां मीमांसकादीनाम्, बाह्यार्थापलापिनां ज्ञानाद्यद्वैतवादिनां च मतनिरासाय स्वपरेति स्वरूपविशेषणार्थमुक्तम्।

अर्थ–बुद्धि परोक्ष है, इस मत के माननेवाले मीमांसक आदि के और बाह्य अर्थ का निषेध करने वाले ज्ञान आदि के अद्वैतवादियों के मत का निषेध करने के लिये 'स्व-पर' यह विशेषण है। यहां पर यह विशेषण स्वरूप विशेषण के रूप में कहा गया है।

विवेचना-'स्व पर' यह विशेषण 'स्वरूप विशेषण' हैं। विशेषण दो प्रकार का होता है स्वरूप विशेषण और व्यावर्त्तक विशेषण। वस्तु के स्वरूप को प्रकट करने के लिये वस्तु के धर्मों का वर्णन किया जाता है। वस्तु के धर्म दो प्रकार के होते हैं। सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म सजातीय और विजातीय वस्तुओं में भी होते हैं। किसी वस्तु में सामान्य धर्म हैं तो उनके ज्ञान से वस्तु में उनकी सत्ता का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त कोई फल उनके ज्ञान से नहीं होता। सूर्य की किरण शुक्ल है। किरण विशेष्य है और शुक्ल विशेषण है। किरण का वर्ण शुक्ल है इतना इस विशेषण से प्रतीत होता है, इसलिये यह स्वरूप का बोधक विशेषण है। जब पट को शुक्ल कहा जाता है तब पट में शुक्ल वर्ण की सत्ता का ज्ञान ही नहीं होता। शुक्ल पट नील रक्त आदि पटों से भिन्न

भी प्रतीत होता है। अन्यों से भेद को प्रकाशित करने के कारण शुक्ल विशेषण व्यावर्तक है।

प्रकृत प्रमाण के लक्षण में 'स्व पर' यह विशेषण स्वरूप का बोधक विशेषण है इस लक्षण का "व्यवसायी" पद अप्रमाण ज्ञानों से प्रमाणभूत ज्ञानको भिन्न करता है। 'स्व पर' पदसे तो 'स्व रूप' और पर रुप का प्रकाशक प्रतीत होता है। संदेह आदि अप्रमाण ज्ञान भी स्व रूप और पर रूप के प्रकाशक होते हैं।

मूलम्—ननु यद्येवं सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणमिष्यते तदा किमन्यत् तत्फलं वाच्यमिति चेत्;

अर्थ—यदि इस प्रकार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है तो उससे भिन्न फल क्या होगा ?

विवेचना-शंकाकार कहता है, ज्ञान को यदि प्रमाण कहा जाय तो उसका फल क्या होगा ? प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। करण से फल भिन्न होता है। कुल्हाडी से लकडी काटी जाती है। कुल्हाडी करण है और लकडी का कटना फल है, दोनों का भेद स्पष्ट है। प्रकृत लक्षण के अनुसार सम्यग्ज्ञान प्रमाण है तो उसका फल उससे भिन्न होना चाहिये। न्याय मत के अनुसार घट आदि के ज्ञान की उत्पत्ति के कारण चक्षु आदि इन्द्रिय हैं, ज्ञान उनका फल है। इन्द्रिय और ज्ञान का भेद स्पष्ट है। जब ज्ञान ही प्रमाण हो तो उसका फल कोई भिन्न होना चाहिए। भिन्न फल के बिना सम्यग्ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है—

मूलम्–सत्यम्; स्वार्थव्यवसितेरेव तत्फलत्वात्।

अर्थ–सिद्धान्ती कहते हैं स्व और पर का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है, स्व और पर का निश्चय फल है।

इस पर शंकाकार कहता है—

मूलम्-नन्वेवं प्रमाणं स्वपरव्यवसायित्वं न स्यात्, प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात् फलस्य च स्वव्यवसायित्वादिति चेत्।

अर्थ–अब शंकाकार कहता है कि स्व और पर के निश्चय को प्रमाण का फल मानने पर प्रमाण स्व पर व्यवसायी नहीं हो सकेगा। कारण, प्रमाण पर का निश्चय कराने वाला और फल अपने स्वरूप का निश्चय कराने वाला होता है।

विवेचना-शंकाकार मानता है-स्व और पर का निश्चय यदि प्रमाण हो तो प्रमाण और फल का भेद नहीं हो सकता। ज्ञान स्व और पर के स्वरूप का निश्चय कराता है निश्चय स्वयं ज्ञान है वही स्व पर का निश्चय कराता है. इस दशा में ज्ञान और निश्चय का कोई भेद नहीं है। फल रूप ज्ञान का जो विषय है वही प्रमाण रूप ज्ञान का विषय है। प्रमाण और फल के भेद को स्पष्ट करने के लिये दोनों ज्ञानों के द्वारा जो विषय प्रकाशित होते हैं उनके भेद को प्रकट करना होगा। विषय का यह भेद प्रमाण को पर का निश्चय कराने वाला और फल को स्वरूप का निश्चय कराने वाला मान कर ही हो सकता है। ज्ञान का जो स्वरूप पहले विद्यमान है

उसमें किसी अर्थ का प्रकाशन नहीं है। अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान अर्थ का प्रकाशक बनता है। इसीके कारण ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। विषय का प्रकाशक ज्ञान अपने स्वरूप को जानता है, वह किसी अन्य विषय का प्रकाशक नहीं है, इसलिये फलज्ञान स्व का निश्चय कराता है। ज्ञान मात्र स्वप्रकाशक है। यदि स्व प्रकाशक होने के कारण ज्ञान प्रमाण हो तो संदेह और भ्रम ज्ञान भी स्व प्रकाशक होने के कारण प्रमाण हो जाने चाहियें, निश्चित अर्थ का प्रकाशक होने से ज्ञान प्रमाण होता है। इसलिये प्रमाण को पर का निश्चय कराने वाला और फल को स्वरूप का निश्चय कराने वाला मानना चाहिये। इस रीति से प्रमाण को पर का व्यवसायी और फल को स्व का व्यवसायी मानने से प्रमाण का प्रकृत लक्षण उपपन्न नहीं होगा। अब प्रमाण स्व पर दोनों का व्यवसायी नहीं रहा। किन्तु केवल पर व्यवसायी हो गया है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है–

मूलम्-न, प्रमाण-फलयोः कथञ्चिदभेदेन तदुपपत्तेः।

अर्थ–सिद्धान्ती कहता है प्रमाण और फल में किसी अपेक्षा से अभेद है–इसलिये प्रमाण स्व और पर दोनों का निश्चय कर सकता है।

विवेचना-न्याय आदि के मत में जिस प्रकार प्रमाण और फल का अत्यंत भेद है इस प्रकार जैन मत में नहीं है। स्याद्वाद में एक अपेक्षा से भेद है तो अन्य अपेक्षा से अभेद भी है। स्व का प्रकाशक जो फलरूप ज्ञान है वह पर अर्थ के

प्रकाशक ज्ञान से भिन्न नहीं है। ज्ञान एक ही है वह पर अर्थ का प्रकाशक होनेसे प्रमाण है और अपने स्वरूप का प्रकाशक होनेसे फल है। पर अर्थ के प्रकाशक और अपने स्वरूप के प्रकाशक दो ज्ञान नहीं हैं। यदि दोनों ज्ञान भिन्न होते, तो दोनों के विषय भिन्न होते। परंतु ज्ञान एक है अवस्था के भेद से वही प्रमाण और फल के रूप में हो जाता है। एक विषय का होना प्रमाण के करण होने में और प्रमा के फल होने में बाधक नहीं है, किन्तु साधक है। जहाँ करण होता है, वहीं फल होता है। जिस स्थान पर करण है उससे भिन्न स्थान पर फल नहीं उत्पन्न होता। कुल्हाडी का जिस काष्ठ के साथ सम्बन्ध है वहीं छेदन होता है। जिस काष्ठ के साथ कुल्हाडी का सम्बन्ध नहीं है उसका छेदन नहीं होता। प्रमाण रूप ज्ञान का जिस विषय के साथ संबध है उसी विषय का प्रकाशन होता है इस लिये ज्ञान प्रमाण है और फल रूप भी है। जो ज्ञान विषय का प्रकाशक है वही अपने स्वरूप का भी प्रकाशक है। विषय का प्रकाशक होने के कारण ज्ञान प्रमाण हो जाता है इसलिये विषय का प्रकाशन फल है। जो ज्ञान पहले विषय का प्रकाशक नहीं था वही विषय के साथ सम्बन्ध होने पर विषय का प्रकाशक बन गया। एक ही ज्ञान का दो अवस्थाओं के साथ संबंध हो गया, परन्तु इससे ज्ञान का स्वाभाविक रूप नहीं बदला। ज्ञान जिस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकाशित करता है इस प्रकार विषय के प्रकाशक रूप को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार विषय का प्रकाशक होने के कारण ज्ञान प्रमाण है और विषय के प्रकाशन रूप में भी होने के कारण फल भी है। प्रमाणभाव और फलभाव एक ज्ञान की दो अवस्थाए हैं। अवस्थाओं के भेद से ज्ञान सर्वथा भिन्न नहीं हो जाता।

इसलिये प्रमाण और फल रूप में होनेके कारण ज्ञान स्व और पर का व्यवसायी है। न केवल प्रमाण फल रूप ज्ञान भी प्रमाण से अभिन्न होने के कारण स्व और पर का व्यवसायी है। उपयोग रूप से प्रमाण और फल का अभेद है। फल स्व का निश्चय कराता है, इसलिये उससे अभिन्न होने के कारण प्रमाण भी स्व का निश्चय कराता है। प्रमाण पर का निश्चय कराता है, इसलिये उससे अभिन्न होने के कारण फल भी पर का निश्चय कराता है।

इस प्रकार ज्ञान के प्रमाण सिद्ध होने पर १ प्रमाता २ प्रमाण और ३ प्रमा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं–

मूलम्–इत्थं चात्मव्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियमेव प्रमाणमिति स्थितम्।

अर्थ–इस रीति से ज्ञान के स्व और पर का व्यवसाय करानेवाला होने पर आत्मा का व्यापार स्वरूप उपयोग इन्द्रियात्मक प्रमाण है।

विवेचना–इन्द्रिय को प्रमाण रूप कहा जाता है न्याय आदि के मत को मानने वाले जिन इन्द्रियों को प्रमाण कहते हैं वे ज्ञानात्मक नहीं है जड हैं। स्याद्वाद में प्रमाण ज्ञानात्मक होता है। चक्षु आदि इन्द्रिय ज्ञान रूप नहीं हैं इस लिये प्रमाण नहीं हैं। इन्द्र का अर्थ है आत्मा, उसके साधन को इन्द्रिय कहते हैं। अर्थ के प्रकाशन में नेत्रादि इन्द्रिय साधन हैं पर साक्षात् सम्बन्ध से नहीं। नेत्रादि से ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान सीधा अर्थ को प्रकाशित करता है। ज्ञान को अर्थ

के प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये अर्थ के प्रकाशन में इन्द्र का सीधा साधन होने के कारण ज्ञानात्मक उपयोग मुख्य रूप से प्रमाण है। इन्द्र के साधन को इन्द्रिय कहते हैं, इसलिये चक्षु आदि भी इन्द्रिय हैं। जैन मत में इन्द्रिय दो प्रकार की हैं द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं– निर्वृत्ति इन्द्रिय और उपकरण इन्द्रिय। चक्षु आदि इन्द्रियों के जो गोलक आदि अधिष्ठान हैं वे निर्वृत्ति इन्द्रिय हैं। इन अधिष्ठानों की शक्ति उपकरण इन्द्रिय है।

भावइन्द्रिय के भी दो भेद हैं–उपयोगइन्द्रिय और लब्धि इन्द्रिय। स्व और पर का व्यवसायी ज्ञान उपयोग इन्द्रिय है। अर्थ के ग्रहण करने में ज्ञान की जो शक्ति है उसको लब्धि इन्द्रिय कहते हैं। इनमें उपयोग इन्द्रिय प्रमाण रूप है। उपयोग आत्मा का व्यापार रूप है, इस रीति से ज्ञान-व्यापार, प्रमाण और प्रमा के रूप में है। 'अर्थ के सत्य स्वरूप को मैं ज्ञान से जानता हूँ'. इस प्रकार का अनुभव आत्मा को होता है। यह अनुभव ज्ञान को आत्मा के व्यापार रूप में और प्रमाण रूप में सिद्ध करता है। क्रिया के लिये कर्ता और करण जिस प्रकार आवश्यक हैं, इस प्रकार व्यापार भी आवश्यक है। कुल्हाडी से जब पुरुष काष्ठ को काटता है तब कुल्हाडी में व्यापार भी होता है। पुरुष कुल्हाडी को उठाता है और लकडी पर गिराता है। उठाने और गिराने के बिना कुल्हाडी लकडी को नहीं काट सकती। उठाना और गिराना व्यापार है। आत्मा रूप आदि का अनुभव करता है। बिना व्यापार के आत्मा अनुभव नहीं कर सकता। कर्ता और करण व्यापार के बिना क्रिया के

उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। रूप आदि अर्थ का प्रकाशन फल है। वह क्रिया रूप है इसलिये प्रकाशनक्रिया भी व्यापार और करण के बिना नहीं हो सकती। लकडी का कटना फल रूप अचेतन क्रिया है, कुल्हाडी करण है और उठाना गिराना व्यापार है। कुल्हाडी उठाना गिराना और कटना तीनों अचेतन हैं। अर्थ प्रकाशन रूप क्रिया, और उसका करण ज्ञान, व्यापार रूप भी है।

आत्मा के उपयोग रूप व्यापार को स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं-

मूलम्—न ह्यव्यापृत आत्मा स्पर्शादिप्रकाशको भवति, निर्व्यापारेण कारकेण क्रियाजननायोगात्, मसृणतूलिकादिसन्निकर्षेण सुषुप्तस्यापि तत्प्रसङ्गाच्च।

अर्थ—व्यापार के बिना आत्मा स्पर्श आदि का प्रकाशक नहीं होता। व्यापार से रहित कारक क्रिया के उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। यदि व्यापार के बिना भी कारक क्रिया को उत्पन्न करे तो सुषुप्ति में भी आत्मा को कोमल तूलिका आदि के सम्बन्ध से ज्ञान हो जाना चाहिए।

विवेचना-त्वचा आदि के सम्बन्ध से यदि बिना व्यापार के ज्ञान हो तो आत्मा को सुषुप्ति में भी ज्ञान होना चाहिये। आत्मा जब सुषुप्ति में रहता है तब ज्ञान रूप व्यापार से शून्य रहता है। इससे सिद्ध है ज्ञान रूप व्यापार के बिना आत्मा त्वचा के साथ तूलिका का स्पर्श होने पर भी स्पर्श का प्रकाशन नहीं करता।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के कर्ता 'श्री विद्यानन्द' आत्मा की-'अर्थ के अनुभव करने की शक्ति को प्रमाण कहते हैं।' उनके मत का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-

मूलम्--केचित्तु—

"ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिर्ज्ञानमिहात्मनः।
करणत्वेन निर्दिष्टा न विरूद्धा कथञ्चन ॥१॥"

[तत्त्वार्थ श्लोक वा० १-१-२२]

इति लब्धोन्द्रियमेवार्थग्रहणशक्तिलक्षणं प्रमाणं सङ्गिरन्तेः

अर्थ--कुछ लोग कहते हैं अर्थ के ग्रहण करने में आत्मा की शक्ति प्रमाण है। अर्थ ज्ञान का जो आकार है वही आकार शक्ति का है। इसलिये उसको करण रूप से कहा है और वह किसी प्रकार भी विरुद्ध नहीं है। इस रीति से अर्थ ज्ञान की शक्ति को वे प्रमाण कहते हैं।

विवेचना इस मत के अनुसार अर्थ का ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु अर्थ को जानने की शक्ति प्रमाण है। तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिककार कहते हैं यह पक्ष आगम और युक्ति के विरुद्ध नहीं है। अर्थज्ञान की शक्ति का ज्ञान से अत्यन्त भेद नहीं है किन्तु भेद और अभेद है। करणरूप ज्ञान प्रत्यक्ष है इस लिये ज्ञान से अभिन्न शक्ति भी ज्ञान रूप में प्रत्यक्ष है। शक्ति का प्रतिक्षण परिणाम होता है। क्षणों का प्रत्यक्ष नहीं है इस लिये प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करने वाली शक्ति, शक्ति रूप में परोक्ष भी है।

इस मत की परीक्षा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-

मूलम्–तदपेक्षलम्, उपयोगात्मना करणेन लब्धेः फले व्यवधानात्,

अर्थ–उपयोग रूप करण के द्वारा लब्धि के फल में व्यवधान हो जाता है इसलिये लब्धीन्द्रिय का प्रमाण-मय स्वरूप युक्त नहीं।

विवेचना–तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार अर्थ ग्रहण की शक्ति को प्रमाण कहते हैं और वह शक्ति जैन मत के अनुसार लब्धीन्द्रिय रूप है। जैन मत में इन्द्रिय दो प्रकार की हैं १-द्रव्येन्द्रिय २-भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं १-निर्वृत्ति इन्द्रिय २-उपकरण इन्द्रिय। इनमें निर्वृत्ति इन्द्रिय चक्षु आदि का गोलक आदि अधिष्ठान रूप है। इस अधिष्ठान का जो शक्ति विशेष है वह उपकरणेन्द्रिय है। भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं १–उपयोगेन्द्रिय २–लब्धीन्द्रिय।

स्वपर व्यवसायी ज्ञान यह उपयोगेन्द्रिय रूप है। अर्थ का ज्ञान उपयोग के द्वारा होता है, उस उपयोग की अर्थ ग्रहण के लिये जो शक्ति है वह लब्धीन्द्रिय है। जब श्लोक-वार्तिककार अर्थ ग्रहण की शक्ति को करण रूप कहते हैं तब वह शक्ति लब्धीन्द्रिय रूप में फलित होती है। यह शक्ति रूप लब्धीन्द्रिय ही वार्तिककार के मत के अनुसार प्रमाण है, अन्य इन्द्रिय प्रमाण रूप नहीं है।

जैन मत के अनुसार प्रमाण का जो स्वरूप है वह लब्धी-न्द्रिय का नहीं हो सकता। अर्थ की प्रमा फल है। उसमें जो व्यवधान के बिना करण हो वह प्रमाण है। करण के अव्यवहित उत्तर क्षण में फल होता है। लब्धीन्द्रिय शक्ति-रूप है, जब अर्थ का ज्ञान होता है तब अर्थ ज्ञान के अव्यवहित

पूर्व क्षण में ही शक्ति नहीं है, व्यवहित पूर्व क्षणों में भी शक्ति विद्यमान है। शक्ति होने पर भी तब तक अर्थ की प्रमा होती नहीं जब तक उपयोग नहीं होता। स्व पर व्यवसायी ज्ञान ही उपयोग है, उपयोग के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही अर्थ का प्रकाशन होता है। लब्धीन्द्रिय शक्ति रूप है, वह करण है, परन्तु उपयोग के पीछे अर्थ को प्रकाशित करती है इस रीति से लब्धीन्द्रिय अर्थ की प्रमा में व्यवहित कारण है। जैन तर्क के अनुसार व्यवहित कारण प्रमाण नहीं हो सकता। जो व्यवहित कारण भी प्रमाण हो जाय तो द्रव्येन्द्रिय भी प्रमाण रूप हो जानी चाहिये, और चक्षु आदि द्रव्येन्द्रिय जो प्रमाण हो तो अज्ञानात्मक वस्तु प्रमाणरूप हो जायेगी। जैन मत में प्रमाण ज्ञानरूप है इसीलिये स्व पर व्यवसायी ज्ञान प्रमाण का लक्षण है। अज्ञानात्मक होने से द्रव्येन्द्रिय प्रमाण रूप नहीं है। उपयोगात्मक न होने से लब्धीन्द्रिय प्रमाण नहीं कही जा सकती।

इस पक्ष में दूसरा दोष देते हैं—

मूलम्–शक्तीनां परोक्षत्वाभ्युपगमेन करण-फलज्ञानयोः परोक्षप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे प्रभाकरमत-प्रवेशाच्च।

अर्थ–शक्तियां परोक्ष रूप मानी जाती है, इसलिये करण और फल ज्ञान को जो परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया जाय तो प्रभाकर के मत में प्रवेश हो जायगा।

विवेचना–अग्नि आदि में दाह आदि के लिये अनुकूल शक्तियां हैं वे प्रत्यक्ष नहीं हैं। जब कोई अग्नि को देखता है तब उसको अग्नि ही दिखाई देती है, पर दाह शक्ति का

प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जब त्वचा से स्पर्श करता है, तब दाह होता है । दाह प्रत्यक्ष है इसलिये दाह से शक्ति का अनुमान होता है । दाह शक्ति के समान समस्त शक्तियाँ इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्ष का विषय नहीं होतीं, अर्थात् अतीन्द्रिय हैं। दाह आदि की शक्तियाँ के समान उपयोग में जो अर्थ की प्रतीति के लिये शक्ति है वह भी परोक्ष होनी चाहिये। परोक्ष शक्ति भी जो प्रमाण हो जाय तो उस शक्ति का फलरूप ज्ञान प्रत्यक्ष है इस प्रकार मानना पडेगा। फल ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में अनुभवसिद्ध है । इसरीति से आप करण को परोक्ष और फल ज्ञान को प्रत्यक्षरूप में स्वीकार करोगे तो प्रभाकर के मत में प्रवेश की आपत्ति हो जायेगी।

इस विषय में शंका करते हैं—

मूलम्-अथ ज्ञानशक्तिरप्यात्मनि स्वाश्रये परिच्छिन्ने द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षेति न दोष इति चेत्,

अर्थ—जो आप इस प्रकार कहो—शक्ति का आश्रय आत्मा जब ज्ञात होता है तब द्रव्यार्थ से ज्ञान शक्ति भी प्रत्यक्ष हो जाती है इसलिये दोष नहीं है।

विवेचना—जैन मत में समस्त पदार्थ अनन्तानन्त स्वभाव-वाले हैं, इसलिये कोई भी वस्तु एकान्त रूप से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप नहीं है। किन्तु अपेक्षा के भेद से प्रत्यक्ष और परोक्ष है। अर्थ के प्रकाशन की शक्ति भी पर्याय की अपेक्षा से परोक्ष है और द्रव्यार्थ की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है ।

स्व और पर का निश्चय फल है और उससे आत्मा कुछ भिन्न और अभिन्न है। यह आत्मा प्रत्यक्ष है और अर्थ ग्रहण की शक्ति आत्मा से भिन्न और अभिन्न है। आत्मा प्रत्यक्ष है

इसलिये आत्मा के अर्थ ज्ञान की शक्ति भी प्रत्यक्ष है। इस रीति से शक्ति रूप में परोक्ष होने पर भी आत्मा के साथ अभेद होने के कारण आत्मा की शक्ति प्रत्यक्ष भी है। प्रभाकर के मत में करण सर्वथा परोक्ष है, पर जैन मत में शक्तिरूप करण सर्वथा परोक्ष नहीं है। इस कारण प्रभाकर के मत में प्रवेश नहीं होता।

अब इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

मूलम्–न, द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेन सुखादिवत् स्वसंविदितत्वाव्यवस्थितेः,

अर्थ–आपका कथन युक्त नहीं। द्रव्य के द्वारा प्रत्यक्ष होने से सुख आदि के समान स्वसंविदित भाव की व्यवस्था नहीं हो सकती।

विवेचना-जैन मत में प्रमाणभूतज्ञान जिस प्रकार बाह्य अर्थ का निश्चय कराता है इस प्रकार अपने स्वरूप का भी निश्चय कराता है। वह अपने स्वरूप के निश्चय में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता इस कारण से ही ज्ञान स्वसंविदित कहलाता है। ज्ञान से भिन्न घट आदि स्वसंविदित नहीं है, उनकी प्रतीति ज्ञान के द्वारा होती है, इसलिये बाह्य पदार्थ पर–प्रकाश्य कहे जाते हैं। जो ज्ञान शक्ति रूप में प्रमाण हो, तो वह बाह्य वृक्ष आदि के समान भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उस दशा में वह दाह आदि की शक्ति के समान परोक्ष हो जायगा। जो वृक्ष आदि के समान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वह स्वप्रकाश किस प्रकार हो सकता है? जो वस्तु अपने स्वरूप में ही प्रत्यक्ष होती है, वही स्वप्रकाश होती है। सुख आदि स्वप्रकाश है। सुख आदि की

प्रतीति के लिये किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। सुख आदि के समान ज्ञान स्वप्रकाश है। वह ज्ञान यदि दाह आदि की शक्तियों के समान शक्ति रूप हो जाय तो द्रव्यार्थ को अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा जा सकता है पर स्वसवेद्य नहीं बन सकता। आत्मा प्रत्यक्ष है और शक्तिमान है। प्रत्यक्ष आत्मा से अभिन्न होने के कारण अतीन्द्रिय शक्तियाँ आत्मा के रूप में प्रत्यक्ष कही जा सकती हैं, पर वे ज्ञान के समान स्वप्रकाश स्वभाव को नहीं धारण कर सकतीं। जब तक शक्ति स्व प्रकाश नहीं है, तब तक आत्मा से अभिन्न होने पर भी वह स्वप्रकाश रूप प्रमाण नहीं हो सकती।

इस पक्ष में अन्य दोष भी है-इसको प्रकट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

मूलम्-'ज्ञानेन घटं जानामि' इति करणोल्लेखानुपपत्तेश्च, न हि कलशसमाकलनवेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षाणामपि कुशूलकपालादीनामुल्लेखोऽस्तीति।

अर्थ-अर्थ ग्रहण की शक्ति यदि प्रमाण हो तो "मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ" इस रीति से घट की प्रतीति में ज्ञान का उल्लेख करणरूप से नहीं होना चाहिए। जिस काल में घट का ज्ञान होता है उस काल में द्रव्यार्थ की अपेक्षा से कुशूलकपाल आदि प्रत्यक्ष हैं तो भी उनका उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता।

विवेचना-घट आदि के प्रत्यक्ष में घट आदि का ज्ञान फल रूप है उसमें ज्ञान का उल्लेख करणरूप से होता है यह

उल्लेख ज्ञान के प्रत्यक्ष स्वरूप में प्रमाण है। जो स्वरूप से प्रत्यक्ष नहीं है उसका करणरूप से उल्लेख प्रत्यक्ष प्रतीति में नहीं हो सकता। अर्थ ग्रहण की शक्ति, शक्ति रूप में प्रत्यक्ष नहीं है इसलिये प्रत्यक्षज्ञान में उसका करणरूप से उल्लेख नहीं होगा। इसी प्रकार द्रव्यार्थ से जो प्रत्यक्ष है पर पर्यायार्थ से जो प्रत्यक्ष नहीं है उसका उल्लेख प्रत्यक्ष प्रतीति में अपने स्वरूप से नहीं होगा। घट मृत्तिका से अभिन्न है, घट के समान कुशूलकपाल आदि भी मृत्तिका से अभिन्न हैं जिस काल में घट का प्रत्यक्ष होता है उस काल में प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख घट का ही होता है। मृत्तिका रूप द्रव्य से अभिन्न होने पर भी कुशूलकपाल आदि का उल्लेख घट के समान नहीं होता। द्रव्य से अभिन्न होने के कारण जो प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख होता हो तो घट के प्रत्यक्ष में कुशूलकपाल आदि का भी उल्लेख होना चाहिये। जब तक शक्ति, शक्ति रूप में है तब तक वह प्रमाण नहीं है, जब वह ज्ञान रूप में परिणत होती है तब वह प्रमाण होती है। जिस प्रकार करणभूत ज्ञान प्रत्यक्ष है इस प्रकार फल भूत ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। इस पक्ष में करण और फल दोनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

मूलम्—तद् द्विभेदम्-प्रत्यक्षम्, परोक्षं च।

अर्थ-उस प्रमाण के दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष पद की व्युत्पत्ति और प्रवृत्तिके निमित्तको प्रकाशित करने के लिये कहते हैं—

मूलम्--अक्षम् इन्द्रियं प्रतिगतम् कार्यत्वेनाश्रितं प्रत्यक्षम्,

अर्थ–अक्ष का अर्थ है-इन्द्रिय, उस पर जो आश्रित है, कार्य रूप से आश्रित है, वह प्रत्यक्ष है ।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होता है–वह प्रत्यक्ष है ।

प्रत्यक्ष शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति को कहते हैं–

मूलम्–अथवाऽश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणादिकनिपातनात् अक्षो जीवः तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् ।

अर्थ--औणादिक सूत्र के द्वारा अश्धातु के द्वारा निपातनसे अक्षशब्द की सिद्धि होती है । जो ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को व्याप्त करता है वह अक्ष है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार अक्ष शब्द का अर्थ है जीव । जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये जीव पर आश्रित है-वह प्रत्यक्ष है ।

विवेचना–प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से जो घट आदि का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है । रूप रस आदि का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से होता है । रूप आदि के प्रत्यक्ष में चक्षु आदि के समान मन कारण है और वह इन्द्रिय नहीं अनिन्द्रिय है । इस रीति से रूप आदि का प्रत्यक्ष केवल इन्द्रिय जन्य नहीं किन्तु इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनों से जन्य है, परन्तु रूप आदि के प्रत्यक्ष में अनिन्द्रिय मन मुख्य रूप से कारण नहीं है । वह चक्षु आदि का सहकारी कारण है इसलिये रूप का प्रत्यक्ष इन्द्रियों से जन्य कहलाता है ।

साधारण रूप में कारण होने पर भी सहकारी कारण, मुख्य कारण रूप में नहीं गिना जाता। गेहूं यव आदि से जब अंकुर को उत्पत्ति होती है तब केवल गेहूं और यव आदि का बीज उत्पत्ति में कारण नहीं है जल, आतप, क्षेत्र आदि भी कारण हैं, परन्तु अंकुर, यव का अंकुर, गेहूं का अंकुर इस रीति से कहलाता है, जल का अंकुर क्षत्र का अंकुर इस रीति से नहीं कहलाता। गेहूं यव आदि के बीज प्रधान हैं इस कारण गेहूं का अंकुर यव का अंकुर इत्यादि व्यवहार होता है। रूप आदि के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में चक्षु आदि इन्द्रिय प्रधान कारण हैं इसलिये वह इन्द्रिय जन्य कहलाता है अनिन्द्रिय जन्य नहीं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द इस कारण से बाह्य प्रत्यक्ष को इन्द्रिय जन्य रूप में कहता है।

दूसरी व्युत्पत्ति प्रधान रूपसे जीव द्वारा जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहती है।

शंका करते हैं—

मूलम्—न चैवमवध्यादौ मत्यादौ च प्रत्यक्षव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्,

अर्थ—यदि ये दो व्युत्पत्तियाँ हों तो अवधि, मनःपर्याय और केवल इन तीन ज्ञानों में और मति आदि में प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार नहीं होना चाहिये।

विवेचना—प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार जो इन्द्रियों से जन्य है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस अर्थ में अवधि-मनः-पर्याय और केवल ज्ञान में प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं होना चाहिए अवधि आदि ज्ञान जैन सिद्धांत में प्रत्यक्ष हैं, कारण-उनकी उत्पत्ति में बाह्य इन्द्रिय कारण नहीं हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार मति आदि ज्ञान में प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं होना चाहिये। अवधि आदि ज्ञान उत्पत्ति के लिये जीव पर आश्रित हैं इस लिये वे प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं। परन्तु मति और श्रुतज्ञान, केवल आत्मा के अधीन नहीं हैं। इसके लिये बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा है। इस कारण इस व्युत्पत्ति के अनुसार मति आदिमें प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं हो सकता।

यद्यपि अवधि आदि ज्ञान केवल आत्मा की अपेक्षा नहीं करता, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम आदि की भी अपेक्षा करता है, परन्तु चक्षु आदि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं करता, प्रधान रूप से आत्मा की अपेक्षा करता है इसलिये दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष पद का व्यवहार अवधि आदि प्रत्यक्ष में हो सकता है। परन्तु जो ज्ञान प्रधानरूप से इन्द्रिय जन्य है, आत्मा जिसमें प्रधान रूप से कारण नहीं है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष पद से वाच्य नहीं हो सकता।

कुछ लोग दोनों प्रत्यक्षों में अव्याप्ति को दूर करने के लिये इन्द्रिय और आत्मा इन दोनों का अन्यतर रूप से ग्रहण कर के लक्षण करते हैं। परन्तु इस रीति से दोनों प्रत्यक्षों में पारमार्थिक अनुगत भावात्मक धर्म की प्रतीति नहीं हो सकती।

"इन्द्रियात्मान्यतरजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वम्" इस लक्षण के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और आत्मा इन दोनों में से किसी एक के द्वारा उत्पन्न हो-वह प्रत्यक्ष है। अब दोनों प्रकार के, मति आदि और अवधि आदि ज्ञान प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं। इन्द्रिय और आत्मा ये दोनों भिन्न हैं, परन्तु दोनों में अन्यतरत्व अनुगत धर्म है।

ध्यान देना चाहिये, अन्यतरत्व धम यद्यपि अनुगत है, परन्तु उसके द्वारा बाह्य इन्द्रिय और आत्मा में एक भावात्मकधर्म की प्रतीति नहीं होती। इस धर्म के द्वारा बाह्य इन्द्रिय और आत्मा वास्तव में एक रूप नहीं हो सकते। इस कारण अन्यतरत्व रूप धर्म को लेकर दोनों प्रत्यक्षों में पारमार्थिक भावात्मक धर्म की प्रतीति नहीं हो सकती। जो प्रकृत दो पदार्थों से भिन्न अखिल पदार्थ हैं उनसे भिन्न होना यही अन्यतरत्व है। इस लक्षण के अनुसार बाह्य इन्द्रिय और आत्मा ये दो प्रकृत पदार्थ हैं-उनसे भिन्न अखिल संसार है, उससे भिन्न यही दोनों प्रकृत पदार्थ हैं।

इस रीति से प्रकृत वस्तुओं में अन्य पदार्थों से भेद रूप अन्यतरत्व समान धर्म है। भेद रूप समान धर्म को लेकर भावात्मक अनुगत धर्म की प्रतीति नहीं होती। एक प्रत्यक्ष-इन्द्रिय से जन्य है और दूसरा आत्मा से जन्य है, इस कारण इन दोनों में भेद ही है। जो भेद है उसी को लेकर अनुगत धर्म का निरूपण वास्तव में भावात्मक अनुगत धम का निरूपण नहीं है, इसलिये ग्रन्थकार पूज्य उपा० श्री यशोविजयजी महाराज दोनों प्रत्यक्षों में अन्य रीति से अनुगत भावात्मक धर्म का निरूपण करते हैं--

मूलम्--यतो व्युत्पत्तिनिमित्तमेवैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिनाऽनेनोपलक्षितं स्पष्टतावत्त्वमिति। स्पष्टता चानुमानादिभ्योऽतिरेकेण विशेषप्रकाशनमित्यदोषः।

*अर्थ--उत्पत्ति के लिये इन्द्रिय के प्रति अथवा जीव के प्रति आश्रित होना यह प्रत्यक्ष पद का व्युत्पत्ति

निमित्त है । स्पष्टतावत्त्व प्रवृत्ति का निमित्त है और वह एक अर्थ में वर्तमान अक्ष के प्रति आश्रितत्व रूप व्युत्पत्ति निमित्त से उपलक्षित है । अनुमान आदिकी अपेक्षा-अधिकतासे विशेष धर्मों का प्रकाशन स्पष्टता है-इस कारण दोष नहीं है।

विवेचना-व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त एक अधिकरण में रहते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान एक अधिकरण है, वह अक्ष के प्रति आश्रित है और स्पष्टता से युक्त है। अक्ष के प्रति आश्रित भाव से स्पष्टता का ज्ञान होता है ज्ञान रूप एक अधिकरण में होने के कारण अक्ष के प्रति आश्रित भाव स्पष्टतारूप प्रवृत्ति निमित्त का ज्ञान कराता है। यदि अक्ष के प्रति आश्रितभाव प्रत्यक्ष पद की प्रवृत्ति हो जाय तो प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष पद की प्रवृत्ति अवधि आदि ज्ञान में नहीं होनी चाहिये । दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार मति आदि में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अक्ष के प्रति आश्रितभाव का अर्थ है "बाह्य इन्द्रियों से उत्पत्ति।" अवधि आदि की उत्पत्ति बाह्य इन्द्रियों से नहीं होती । दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार अक्ष के प्रति आश्रितभाव का अर्थ है जीव से उत्पत्ति, मति आदि की उत्पत्ति प्रधान रूप से जीव के द्वारा नहीं होती।

प्रत्यक्ष पद की प्रवृत्ति में जब स्पष्टता निमित्त होती है तब मति आदिमें और अवधि आदिमें प्रत्यक्ष पद की प्रवृत्ति समान रूप से हो सकती है । जो ज्ञान इन्द्रियों से प्रधान रूप में उत्पन्न होता है और जो ज्ञान प्रधान रूप से आत्मा के द्वारा उत्पन्न होता है उन दोनों ज्ञानों में स्पष्टता रहती है। मति आदि और अवधि आदिकी उत्पत्ति में कारणों का भेद

है परन्तु उत्पन्न ज्ञान के स्वरूप में भेद नहीं है। स्वरूप समान है इस लिये दोनों ज्ञान प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं।

शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त व्युत्पत्तिके निमित्त की अपेक्षा भिन्न देखा जाता है। 'गच्छति इति गौः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो गति क्रिया करती है वह गौ कहलाती है। गति क्रिया में कर्तृभाव यदि प्रवृत्ति का निमित्त हो जाय तो गौ जब चलती है तभी ही गौ कही जा सकती है। जब गौ न चले तब उसमें गौ शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिये। परन्तु सोई अथवा बैठी गौ में गौ शब्द का प्रयोग होता है, इस लिये गोत्वरूप सामान्य गौ पद की प्रवृत्ति में निमित्त है। अनेक गायों में समान आकाररूप जो परिणाम देखने में आता है वह गोत्वरूप तिर्यक् सामान्य है, और वह बैठी सोई और चलती समस्त गायों में है। यह गोत्व ही गौ शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है। समान आकार जिस प्रकार समस्त गायों का स्वरूप है इस प्रकार स्पष्टता समस्त प्रत्यक्ष ज्ञानों का स्वरूप है। उत्पत्ति के कारणों में भेद होने पर भी व्यक्तियों के स्वरूप में यदि समानता हो तो उन व्यक्तियों की एक जाति हो जाती है और उन व्यक्तियों में एक वाचक शब्द का प्रयोग होता है। बाह्य इन्द्रियों से रूप आदि का जो प्रत्यक्ष होता है और प्रधान रूप से आत्मा के द्वारा जो अवधि आदि प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं उनमें परस्पर भेद है, परन्तु वह भेद स्वरूप की समानता का विरोधी नहीं है। भेद के बिना समानता नहीं रह सकती। गायों में भेद है, किसी का रंग लाल है और किसी का काला, किसी का आकार छोटा है तो किसी का बडा है। रंग आदि का भेद होने पर भी उनके अंगों में

आकार समान है। इन्द्रिय और आत्मा से जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं उनमें भेद है पर उनमें स्पष्टतारूप समान धर्म है। इस स्पष्टता के कारण इन्द्रियों से जन्य रूप आदि के प्रत्यक्ष में और आत्मा आदि से जन्य अवधि आदि प्रत्यक्षों में समानता है। स्पष्टता के कारण दोनों प्रत्यक्षों में प्रत्यक्ष पद का व्यवहार होता है। स्पष्टता में न्यूनाधिक भाव होता है किसी ज्ञान की स्पष्टता न्यून होती है और किसी ज्ञान की अधिक, तो भी स्पष्टता के स्वरूप में भेद नहीं है। छोटे मोटे दीपकों के प्रकाश में तीव्र मन्द भाव देखने में आता है परन्तु उनमें प्रकाश स्वरूप की एकता है-इस कारण समस्त दीपकों का प्रकाश, प्रकाश कहलाता है। दीपकों का तो कहना क्या ? तीव्र मन्द भाव में भारी भेद होने पर भी बिजली, नक्षत्र, चन्द्र और सूर्य का प्रकाश, प्रकाश कहलाता है। दीपक नक्षत्र आदि जिन अर्थों को प्रकाशित करते हैं उनमें जिस प्रकार तीव्र मन्द भाव है-इस प्रकार बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्षों में और अवधि आदि प्रत्यक्षों में स्पष्टता का तीव्र मन्द भाव है परन्तु समस्त प्रत्यक्षों में स्पष्टता समान रूप से है।

अनुमान और आगम आदि की अपेक्षा नियत वर्ण आकार आदि का अधिकता से प्रकाशन स्पष्टता है। जिस रीति से प्रत्यक्ष में विशेष धर्मों का प्रकाशन होता है उस रीति से अनुमान और आगम से जन्य ज्ञान में नहीं होता।

अनुमान और आगम आदि के द्वारा जन्य ज्ञान से सामान्य रूप का प्रकाशन होता है।

परोक्ष की व्याख्या करते हैं—

मूलम्–अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तत इति परोक्षम्, अस्पष्टं ज्ञानमित्यर्थः ।

अर्थ–अक्षों से अथवा अक्ष से पर जो रहता है वह ज्ञान परोक्ष है, अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है-यह भाव है ।

विवेचना–अक्षों से अर्थात् बाह्य इन्द्रियों से दूर देश में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष है । यह प्रथम व्युत्पत्ति है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार धूम आदि के द्वारा जो अग्नि आदि का ज्ञान होता है वह परोक्ष है, अग्नि का ज्ञान चक्षु से नहीं होता । अग्नि के साथ चक्षु का सम्बंध नहीं होता–इसलिये धूम से अग्नि का ज्ञान परोक्ष है ।

अक्ष से अर्थात् जीव से दूर होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष है, इस दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष है । बाह्य इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सीधा आत्मा के सम्बंध से नहीं उत्पन्न होता । रूप आदि को जानने के लिए आत्मा जब इन्द्रिय और मन की अपेक्षा करता है तब आत्मा का रूप आदि के साथ सीधा सम्बंध नहीं रहता । इन्द्रियों के द्वारा जीव का रूप आदि के साथ सम्बंध होता है इस कारण इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष है ।

इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार दो भिन्न प्रकार के ज्ञान परोक्ष हैं । यहाँ पर व्युत्पत्ति के निमित्तों में भेद होने पर भी परोक्षपद की प्रवृत्ति का निमित्त एक है । वह प्रवृत्ति का निमित्त अस्पष्टता है, जिस ज्ञान का स्वरूप अस्पष्ट है वह परोक्ष है । इन्द्रिय और मन के द्वारा रूप आदि का जो ज्ञान उत्पन्न होता है । उस ज्ञान में धूम आदि हेतुओं के

द्वारा उत्पन्न होने वाले अग्नि आदि के ज्ञान की अपेक्षा स्पष्टता है. परन्तु अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञानों की तुलना में स्पष्टता नहीं है, इस लिये वह परोक्ष है।

मूलम्–प्रत्यक्षं द्विविधम्–सांव्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति।

अर्थ–प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, सांव्यवहारिक और पारमार्थिक।

मूलम्–समीचीनो बाधारहितो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलोकाभिलापलक्षणः संव्यवहारः, तत्प्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्–अपारमार्थिकमित्यर्थः यथा अस्मदादिप्रत्यक्षम्,

अर्थ–प्रवृत्ति निवृत्ति और अभिलाप रूप जो बाधा-हीन व्यवहार है वह संव्यवहार है। संव्यवहार जिसका प्रयोजन है वह ज्ञान सांव्यवहारिक है वह पारमार्थिक नहीं है यह भाव है, जिस प्रकार हम लोगों का और अन्य लोगों का प्रत्यक्ष।

विवेचना-चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जब वस्त्र आदि को देखता है–तब उसके लेने के लिये प्रवृत्ति करता है। लेने के लिये प्रवृत्ति रूप व्यवहार वस्त्र के प्रत्यक्ष का प्रयोजन है। जिन पदार्थों से इष्ट की सिद्धि होती है उन पदार्थों को देखकर लेने के लिये प्रवृत्ति होती है। जो पदार्थ अनिष्ट के साधन हैं उनको देखकर निवृत्ति होती है। विशाल अग्नि

को जलता हुआ देखकर मनुष्य निवृत्त होता है, यह व्यवहार निवृत्ति कहलाता है। अन्य को ज्ञान देने के लिये शब्दों का प्रयोग होता है, इसका नाम अभिलाप है। प्रवृत्ति निवृत्ति और अभिलाप रूप तीन व्यवहार प्रयोजन हैं, इस कारण ये प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक कहलाते हैं।

पदार्थों को जानकर सर्वदा प्रवृत्ति, निवृत्ति, अथवा अभिलाप नहीं होता। कोई एक सहकारी कारण जो न हो तो प्रत्यक्ष होने पर भी प्रवृत्ति आदि व्यवहार नहीं होता तो भी उस प्रत्यक्ष में व्यवहार उत्पन्न करने की शक्ति है, इसलिये वह प्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक हैं। जो अंकुर को उत्पन्न करता है वह बीज कहलाता है। अनेक बीज इस प्रकार के होते हैं जो घर में पडे रहते हैं। वे अंकुर को उत्पन्न नहीं करते, पर उनमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति होती है इसलिये वे भी बीज कहलाते हैं। बीज के समान व्यवहार के उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त होने के कारण जो प्रत्यक्ष व्यवहार को नहीं उत्पन्न करता वह भी सांव्यवहारिक कहलाता है।

लौकिक मनुष्य वृक्ष आदि को इन्द्रियों से जानता है। यह प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक है, अर्थात् अपारमार्थिक है।

शुक्ति को देखकर कभी कभी रजत का ज्ञान होता है वह अपारमार्थिक है। इस प्रकार के ज्ञानों के समान वृक्ष आदि का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष असत्य नहीं है। वृक्ष आदि का प्रत्यक्ष जिस विषय को प्रकाशित करता है वह विषय विद्यमान है। विद्यमान विषय का प्रकाशक होने के कारण यह प्रत्यक्ष सत्य है। सत्य होने पर भी इस प्रत्यक्ष की अपारमार्थिकता का कारण अन्य है। आत्मा का व्यापार जब

साक्षात संबंध से किसी ज्ञान को उत्पन्न करता है तब वह परमार्थ में प्रत्यक्ष कहलाता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को आत्मा सीधा नहीं उत्पन्न करता, चक्षु आदि इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न करता है इस कारण वह परमार्थ रूप में प्रत्यक्ष नहीं।

इस तत्त्व के प्रतिपादन के लिये कहते हैं—

मूलम्–तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसम्पाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव, धूमात् अग्निज्ञानवद् व्यवधानाविशेषात्।

अर्थ–कारण, वह इन्द्रिय और मन के द्वारा व्यवहित आत्मा के व्यापार से उत्पन्न होता है इसलिये परमार्थ में परोक्ष ही है। धूम से अग्नि के ज्ञान के समान यहां भी व्यवधान में भेद नहीं है।

विवेचना- इन्द्रिय और अनिन्द्रिय मन के द्वारा आत्मा का व्यापार जब व्यवहित होता है तब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है इसलिये वह परमार्थ में परोक्ष ही है। धूम के ज्ञान से जिस प्रकार वह्नि का ज्ञान होता है, इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा वृक्ष आदि का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। आत्मा को पहले धूम ज्ञान होता है और पीछे अग्नि का ज्ञान होता है। धूम ज्ञान के द्वारा आत्मा को व्यापार में व्यवधान होता है। अग्नि के ज्ञान में आत्मा का व्यापार जिस प्रकार धूम ज्ञान से व्यवहित होता है–इस प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में आत्मा का व्यवहार इन्द्रिय से व्यवहित होता है। व्यवधान के पीछे आत्मा के व्यापार से उत्पत्ति होती है

इसलिये इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष परमार्थ में परोक्ष हैं। इन्द्रिय और मन आत्मा के व्यापार में व्यवधान को उत्पन्न करते हैं-इस अपेक्षा से परमार्थ में परोक्षता है इस कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अपारमार्थिक है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को परोक्ष सिद्ध करने के लिये अन्य हेतु देते हैं—

मूलम्-किञ्च, असिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत् संशयविपर्ययानध्यवसायसम्भवात्, सदनुमानवत् सङ्केतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसम्भवाच्च परमार्थतः परोक्षमेवैतत्।

अर्थ-इसके अतिरिक्त संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में हो सकते हैं-इसलिये यह परोक्ष है। जो परोक्ष होता है उसमें संशय आदि होते हैं। असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध हेतु असत् हेतु हैं। उनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष होता है और उस ज्ञान में संशय विपर्यय और अनध्यवसाय होते हैं।

निर्दोष अनुमान में संकेत के स्मरण को कर के पीछे निश्चय होता है इसी प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में भी संकेत के स्मरण आदि से निश्चय होता है इसलिये यह परमार्थ में परोक्ष ही है।

विवेचना–परोक्ष ज्ञान का स्वरूप अस्पष्ट होता है इसलिये अनेक विशेष धर्मों का ज्ञान नहीं होता, इस कारण वहां संदेह उत्पन्न होता है। विशेष धर्मों का दर्शन न हो तो संदेह की उत्पत्ति होती है। विशेष धर्मों का दर्शन संदेह की उत्पत्ति का विरोधी है। असिद्ध और अनैकान्तिक आदि हेतुओं से जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब विशेष धर्मों की प्रतीति नहीं होती इसलिये वहां संदेह उत्पन्न होता है। विपरीत एक कोटिका प्रतिपादक दोष जब होता है तब भ्रम होता है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थ रूप से प्रकाशित करता है और अनेक विशेष धर्मों को स्पष्ट रूप से बतलाता है इसलिये उस ज्ञान में सदेह और भ्रम की उत्पत्ति नहीं होती। बाह्य इन्द्रिय और मन से उत्पन्न ज्ञान जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष हो तो अवधि आदि प्रत्यक्षों के समान उसमें भी संदेह और भ्रम को संभावना नहीं होनी चाहिए। अवधि आदि प्रत्यक्षों में भ्रम और संदेह नहीं उत्पन्न होते। इन्द्रियों से उत्पन्न सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में संदेह और भ्रम के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। एक वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं उनमें से विशेष धर्मों का ज्ञान नहीं होता इस लिये अनेक बार कुछ एक धर्मों के विषय में संदेह और भ्रम हो जाते हैं, इसलिये "सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष" परमार्थ की अपेक्षा से परोक्ष ही है।

निर्दोष हेतुओं से जब कोई निश्चय होता है तब संकेत का स्मरण आदि करके होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में भी पहले संकेत का स्मरण आदि उत्पन्न होता है और पीछे निश्चय होता है। इस कारण से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष निर्दोष अनुमान के समान परोक्ष है। अवधि आदि प्रत्यक्षों में

निश्चय है पर वहां निश्चय से पहले संकेत का स्मरण आदि नहीं होता। अवधि आदि प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के निश्चय में यह मुख्य भेद है, इस कारण अवधि आदि पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं और इन्द्रिय आदि से जन्य प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है अर्थात् वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं है।

मूलम्–एतच्च द्विविधम्-इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च। तत्रेन्द्रियजं चक्षुरादिजनितम्, अनिन्द्रियजं च मनोजन्म। यद्यपीन्द्रियजज्ञानेऽपि मनो व्यापिपर्त्तिः तथापि तत्रेन्द्रियस्यैवासाधारणकारणत्वाददोषः।

अर्थ–इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं– इन्द्रिय से उत्पन्न और अनिन्द्रिय से उत्पन्न। चक्षु आदि इन्द्रियों से जो उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय जन्य कहा जाता है और जो मन से उत्पन्न होता है वह अनिन्द्रियजन्य कहा जाता है। यद्यपि इन्द्रिय से जन्य ज्ञान में भी मन कारण है, परंतु वहाँ असाधारण कारण तो इन्द्रिय ही है इसलिये दोष नहीं है।

विवेचना–जिन ज्ञानों में इन्द्रिय मुख्य रूप से कारण हैं उनमें मन सहकारीकारण होता है। मन के बिना केवल इन्द्रिय से रूप आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। परन्तु मन के गौण होने के कारण चक्षु आदि से जन्य प्रत्यक्ष को मन से जन्य नहीं कहा जाता। अंकुर की उत्पत्ति में क्षेत्र जल

आतप और बीज आदि कारण हैं परंतु अंकुर जिस प्रकार के बीज से उत्पन्न होता है उसी बीज से उसका व्यवहार होता है-जैसे गेहूं का अंकुर, जौ का अंकुर इत्यादि। यह मुख्य व्यवहार है। पानी का अंकुर अथवा क्षेत्र का अंकुर इस प्रकार नहीं बोला जाता। अंकुर में भेद बीज के कारण होता है। गेहूं का बीज हो, तो गेहूं का अंकुर होता है और जौ का बीज हो तो जौ का अंकुर होता है। पानी और क्षेत्र आदि के कारण अंकुर में भेद नहीं होता। इस लिये अंकुर की उत्पत्ति में बीज ही मुख्य कारण है और क्षेत्र जल आदि सहकारी कारण हैं इसी रीति से जब ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, तब मन कारण होता है परंतु सहकारी होता है। मनके कारण ज्ञान में भेद नहीं होता। चक्षु श्रोत्र आदि के कारण ज्ञान में भेद होता है। इसलिये उस ज्ञान में इन्द्रिय असाधारण कारण है। व्यवहार असाधारण कारण से होता है इसलिये इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय जन्य ही कहा जाता है।

मूलम्-द्वयमपीदं मतिश्रुतभेदाद् द्विधा। तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तंश्रुताननुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्, श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम्।

अर्थ-यह दोनों प्रकार का इन्द्रिय जन्य और अनिन्द्रिय जन्य ज्ञान, मति श्रुत भेद से दो प्रकार का है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों निमित्तों से उत्पन्न होता है पर श्रुत का अनुसरण नहीं करता वह इन्द्रिय जन्य मति ज्ञान है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के द्वारा

उत्पन्न तो होता है पर श्रुत की सहायता लेता है वह इन्द्रिय जन्य श्रुत ज्ञान है। इसी रीति से मन के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यदि श्रुत का अनुसरण न करे तो अनिन्द्रिय मति ज्ञान है। मन से उत्पन्न जो ज्ञान श्रुत की सहायता लेता है वह अनिन्द्रियज श्रुत ज्ञान है।

मूलम्–श्रुतानुसारित्वं च–सङ्केतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जन्या (जल्पा) कारग्राहित्वम्।

अर्थ–आप्त पुरुष संकेत के विषय में जो उपदेश करता है उसका अथवा श्रुत ग्रन्थ का अनुसरण करके और वाच्यवाचक भाव से संयुक्त करके अंदर में "घट घट" इत्यादि शब्दाकार का ग्रहण श्रुत का अनुसरण है।

विवेचना–'इस पद से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिये इस रीति की जो इच्छा है' उसका नाम संकेत है। संकेत के काल में वृक्ष आदि अर्थ के साथ वृक्ष आदि शब्दके वाच्यवाचक भाव संबंध का ज्ञान होता है। वृक्ष शब्द वाचक है और वृक्ष अर्थ वाच्य है, यह वाच्यवाचकभाव संबंध का रूप है। आप्त पुरुष के शब्द को सुनकर श्रोता के मन में जो शब्द सहित ज्ञान होता है वह ज्ञान श्रुत का अनुसारी है। श्रुत ग्रन्थ का आश्रय लेकर जो ज्ञान शब्द के साथ होता है वह भी श्रुत का अनुसरण करता है अर्थात् ज्ञान के साथ

शब्द का जो संबंध है वह श्रुत का अनुसरण है। इन्द्रियों से अथवा मन से ज्ञान होने के पीछे जो शब्द सहित ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान है। शब्द के संबंध से रहित जो ज्ञान होता है वह मति ज्ञान है।

मूलम्–नन्वेवमवग्रह एव मतिज्ञानं स्यान्न त्वीहादयः तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वेन श्रुतत्व-प्रसङ्गादिति चेत्।

अर्थ–इस रीति से श्रुत के अनुसरण का स्वरूप यदि हो तो अवग्रह ही मति ज्ञान होगा, ईहा आदि मति ज्ञान नहीं हो सकेगा। कारण, ईहा आदि शब्द सहित है इसलिये उसमें श्रुत भाव की आपत्ति होगी।

विवेचना–जो ज्ञान शब्द सहित है वह श्रुत ज्ञान है और जो शब्द से रहित ज्ञान है वह मति ज्ञान है, इस रीति से मति और श्रुत का भेद जो हो तो अवग्रह ही मति ज्ञान होगा। ईहा और अपाय आदि मति ज्ञान के स्वरूप में नहीं हो सकेंगे। ईहा आदि में शब्द का संबंध है। इस रीति से जो श्रुत ज्ञान का लक्षण हो तो मति ज्ञान में अतिव्याप्ति दोष आयेगा। ईहा आदि मति ज्ञानरूप है उसमें श्रुत ज्ञान का लक्षण जाता है इस लिये अतिव्याप्ति है।

मूलम्–नः श्रुतनिश्रितानामप्यवग्रहादीनां संङ्केतकाले श्रुतानुसारित्वेऽपि व्यवहारकाले तदननुसारित्वात्, अभ्यासपाटवबशेन

श्रुतानुसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापूर्वक-विविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात् ।

अर्थ–जो अवग्रह आदि श्रुतके उपर आश्रित है वह संकेत कालमें श्रुतका अनुसरण करता है पर व्यवहार काल में उसका अनुसरण नहीं करता। अभ्याससे श्रुत का अनुसरण न करके अनेक प्रकार के विकल्पों के द्वारा वचनों के बोलने में प्रवृत्ति देखी जाती है इस लिये आपकी आपत्ति युक्त नहीं है।

विवेचना–संकेतकाल में जिन शब्दों का ज्ञान हुआ है उनके संस्कार से ईहा आदि उत्पन्न होते हैं–इस कारण वे श्रुतनिश्रित कहलाते हैं। परन्तु व्यवहार काल में अवग्रह आदि शब्द का अनुसरण नहीं करते। जिन लोगों को पूर्व काल में संकेत का ज्ञान हुआ है और जिन्होंने श्रुत ग्रन्थका अध्ययन किया है वे लोग व्यवहार काल में ये शब्द वाचक हैं और यह अर्थ वाच्य है इस रीति से विकल्प नहीं करते। श्रुत ग्रन्थमें इस अर्थका कथन इस रीति से है इत्यादि विकल्प करके भी वे ग्रन्थों का अनुसरण नहीं करते। अत्यन्त अभ्यास के कारण संकेत का और श्रुत ग्रन्थका अनुसरण किये बिना भी बोलने में प्रवृत्ति होती है। अभ्यास कालमें ईहा, अपाय, और धारणा शब्द सहित होते हैं परन्तु संकेत और श्रुत ग्रन्थ का अनुसरण नहीं करते। इस लिये वे सब मति ज्ञान हैं, वे श्रुत नहीं हैं।

मूलम्-अङ्गोपाङ्गादौ शब्दाद्यवग्रहणे च श्रुता-

ननुसारित्वान्मतित्वमेव, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी प्रत्ययस्तत्र श्रुतत्वमेवेत्यवधेयम् ।

अर्थ–अंग उपांग आदि में शब्द आदि का अवग्रह जब होता है तब श्रुत का अनुसरण न होने से अवग्रह आदि मतिज्ञान रूप है। श्रुतका अनुसरण करके उस काल में जो ज्ञान होता है वह श्रुत का अनुसारी है– इस लिये वह श्रुत ही है।

विवेचना- अग प्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट आदि श्रुतके भेद हैं। उनमें पहले शब्द स्वरूप के विषय में अवग्रह और पीछे ईहा अपाय और धारणा के भेद होते हैं उनमें श्रुत का अनुसरण नहीं है इस लिये वे मतिज्ञान रूप हैं। पीछे संकेत का स्मरण करके पदार्थ और वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। वह सब श्रुत का अनुसारी होने से श्रुत है। इस लिये अवग्रह की अपेक्षा से मति ज्ञान शब्द के सबंध से रहित है परन्तु ईहा आदि की अपेक्षा से शब्द के संबध से युक्त है इस लिये मति ज्ञान अभिलाप सहित और अभिलाप रहित है। व्यवहार काल में वह संकेत का, शब्द का और श्रुतग्रन्थके संबधी शब्द का अनुसरण नहीं करता इसी लिये श्रुतानुसारी नहीं है। श्रुत ज्ञान अभिलाप सहित और श्रुत का अनुसारी ही होता है। कारण, वह व्यवहार काल में संकेत काल के अथवा श्रुत ग्रन्थ के शब्द का अनुसरण अवश्य करता है।

[मति ज्ञानके भेद]

मूलम्-मतिज्ञानम्–अवग्रहेहापायधारणा-भेदाच्चतुर्विधम् । अवकृष्टो ग्रहः–अवग्रहः । स

द्विविधःव्यञ्जनावग्रहः, अर्थावग्रहश्च । व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्–कदम्बपुष्पगोलकादिरूपाणामन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणां शब्दादि विषयपरिच्छेदहेतुशक्तिविशेषलक्षणमुपकरणेन्द्रियम्, शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बम्, तदुभयसम्बन्धश्च । ततो व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रहो व्यञ्जनावग्रह इति मध्यमपदलोपो समासः ।

अर्थ–मति ज्ञान के चार भेद हैं अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा । अवकृष्ट ग्रह अर्थात् हीन ज्ञान अवग्रह है । वह दो प्रकार का है–व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह । जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त होता है वह व्यञ्जन है । उपकरणेन्द्रिय, शब्द आदि के रूपमें परिणत द्रव्यका समूह, और इन दो का संबंध व्यञ्जन कहा जाता है । अन्दर में निर्वृत्तीन्द्रिय है वे कदम्ब पुष्प के गोलक आदि के समान हैं । निर्वृत्तीन्द्रियों में शब्द आदि विषयों को प्रकाशित करने की जो शक्ति है उसका नाम उपकरणेन्द्रिय है । इस लिये यहाँ व्यञ्जन के द्वारा व्यञ्जन का अवग्रह इस रीति से मध्यम पदलोपी समास है ।

विवेचना–मध्यम पद लोपी समास से व्यञ्जनावग्रह शब्द इन्द्रिय और शब्द आदि के संबंधको और उस संबंध के

द्वारा उत्पन्न ज्ञान को कहता है। शब्द आदि के रूप में परिणत द्रव्य के समूह को जब प्रथम व्यञ्जन शब्द कहता है तब द्वितीय व्यञ्जन शब्द श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कहता है, तब शब्द आदि रूप व्यञ्जन के साथ श्रोत्र आदि व्यंजन इन्द्रिय का जो संबध है वह व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है- इस पक्ष में अवग्रह शब्द का अर्थ है संबंध। इस रीति से शब्द आदि के साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियों के संबंध को व्यञ्जनावग्रह शब्द प्रकाशित करता है।

जब अवग्रह शब्द हीन ज्ञान का वाचक होता है तब इन्द्रिय रूप व्यञ्जनों के द्वारा शब्द आदि रूप व्यञ्जनों का ज्ञान व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। दोनों पक्षों में एक व्यंजन शब्द का लोप है।

ग्रन्थकार यहाँ इन्द्रिय और शब्द आदि के संबंध को भी व्यंजन कहते हैं। जब व्यंजन शब्द संबंधवाची होता है तब इन्द्रिय और शब्द आदि रूप अर्थ के सबंधात्मक व्यंजन से शब्द आदि रूप व्यजन का हीन ज्ञानरूप अवग्रह व्यजनावग्रह कहा जाता है इन दो व्युत्पत्तियों में व्यंजनावग्रह शब्द, शब्द आदि के हीन ज्ञान को कहता है। एक व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय रूप व्यंजनों के द्वारा शब्द आदि रूप व्यंजन का हीन ज्ञान व्यंजनावग्रह कहा जाता है, और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय और अर्थके संबध रूप व्यंजन के द्वारा शब्द आदि रूप व्यंजनका हीन ज्ञान व्यंजनावग्रह कहा जाता है। एक पक्ष के अनुसार व्यंजनावग्रह में इन्द्रिय आदि साधन होते हैं और दूसरे पक्ष के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ का संबध साधन होता है।

मूलम्–अथ अज्ञानम् अयं बधिरादीनां श्रोत्रशब्दादिसम्बन्धवत् तत्काले ज्ञानानुपलम्भादिति चेत्;

अर्थ–शंका करते हैं, व्यञ्जनावग्रह ज्ञान नहीं-अज्ञान है। बहरे आदि मनुष्यों के कानों के साथ शब्द का संबंध होने पर भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। व्यंजनावग्रह के काल में भी इसी प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये व्यंजनावग्रह ज्ञान नहीं है।

विवेचना–इन्द्रिय रूप व्यञ्जन के द्वारा शब्द आदि के रूप में परिणत द्रव्य रूप व्यञ्जन का संबंध अवग्रह है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय और शब्द आदि का सबंध व्यञ्जनावग्रह होता है। संबंध जड है वह ज्ञान रूप नहीं है। अज्ञान रूप व्यञ्जनावग्रह ज्ञानात्मक मति ज्ञान का भेद नहीं हो सकता। इन्द्रिय रूप व्यञ्जन अथवा इन्द्रिय और अर्थ के संबंध रूप व्यञ्जन के द्वारा शब्दादि रूप द्रव्यात्मक व्यञ्जन का ज्ञान यदि व्यंजनावग्रह हो, तो भी वह ज्ञान रूप नहीं हो सकता। जब इन्द्रिय आदि का संबंध शब्द आदि के साथ होता है तब ज्ञान का अनुभव नहीं होता। जिसका अनुभव नहीं होता-उसकी सत्ता नहीं है। इन्द्रिय और अर्थ के संबध के काल में ज्ञान को प्रतीति नहीं-इसलिये व्यञ्जनावग्रह मति ज्ञान का भेद नहीं बन सकता।

मूलम्–न, ज्ञानोपादानत्वेन तत्र ज्ञानत्वोपचारात्; अन्तेऽर्थावग्रहरूपज्ञानदर्शनेन तत्काले-

ऽपि चेष्टाविशेषाद्यनुमेयस्वप्नज्ञानादितुल्यावग्रहाव्यक्तज्ञानानुमानाद्वा एकतेजोऽवयववत् तस्य तनुत्वेनानुपलक्षणात् ।

अर्थ—यदि इन्द्रिय और शब्द आदि का संबंधात्मक व्यंञ्जनावग्रह पर का वाच्य हो तो वह मुख्य रूप से ज्ञान नहीं है, परन्तु ज्ञान के लिये उसका उपादान है इसलिये उपचार के द्वारा ज्ञान कहा जाता है । जब इन्द्रिय और शब्द आदि के संबंध के काल में जिसकी उत्पत्ति होती है इस प्रकार के ज्ञान को व्यञ्जनावग्रह पद कहता है तब अज्ञानात्मक होने की शंका नहीं उठ सकती । यद्यपि इन्द्रिय और अर्थ के संबंध के काल में ज्ञान का अनुभव नहीं होता तो भी उस काल के ज्ञान का अनुमान हो सकता है । विशेष चेष्टा से स्वप्न के ज्ञान का अनुमान जिस प्रकार होता है इस प्रकार यहां भी अस्पष्ट ज्ञान का अनुमान होता है और वह ज्ञान सूक्ष्म होने से तेज के परमाणु के समान नहीं प्रतीत होता ।

विवेचना—व्यञ्जनावग्रह के पीछे अर्थावग्रह होता है इसमें कोई शंका नहीं । जिस अर्थ के साथ व्यंजनावग्रह होता है उस अर्थ के विषय में अर्थावग्रह होता है । इस रीति से अर्थावग्रह का विषय जो अर्थ है वही अर्थ व्यंजनावग्रह के

साथ संबंध रखता है यह वस्तु सिद्ध है। अर्थावग्रह से जिस अर्थ का ज्ञान होता है उसी अर्थ में गिने ईहा ज्ञान होता है।

अनन्तर काल का ज्ञान पूर्ववर्ती साधन से जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसी वस्तु को लेकर उत्पन्न होता है और पूर्ववर्ती ज्ञानात्मक होता है यह तत्त्व अर्थावग्रह और ईहा ज्ञान के स्वरूप को देखकर प्रतीत होता है। ईहा ज्ञान का पूर्ववर्ती अर्थावग्रह है और वह ज्ञानात्मक है। जिस वस्तु का संबंध व्यंजनावग्रह में होता है उसी वस्तु को लेकर व्यंजनावग्रह के पीछे अर्थावग्रह होता है इसलिये व्यंजनावग्रह भी ज्ञान है।

यह ज्ञान अव्यक्त है इसलिये इसकी प्रतीति नहीं होती। सोया हुआ मनुष्य स्वप्न की अवस्था में कभी अनेक प्रकार के वचन बोलता है, यदि कोई उसको बुलाता है तो उत्तर भी देता है। अंगों का सकोच और फैलाव आदि भी करता है और अंगों में खाज आदि भी करने लगता है। इन समस्त क्रियाओं को वह निद्रा काल में स्पष्ट रीति से नहीं अनुभव करता। जागने के पीछे इन समस्त क्रियाओं का स्मरण भी उसको नहीं होता। बिना ज्ञान के ये चेष्टाए नहीं हो सकतीं, ज्ञान चेष्टाओं का कारण है। जिस प्रकार सोये मनुष्य का ज्ञान अव्यक्त है, इस प्रकार व्यंजनावग्रह के काल में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी अव्यक्त है। अव्यक्त भाव के साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। तेज का स्वभाव प्रकाशात्मक है। विशाल परिमाण में तेज के अवयव दिखाई देते हैं परन्तु तेज का एक सूक्ष्म अवयव प्रकाशात्मक होने पर भी नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार

अर्थावग्रह आदि ज्ञान व्यक्त रूप वाले हैं और व्यंजनावग्रह अत्यन्त सूक्ष्म होने से अव्यक्त स्वभाववाला है।

[व्यंजनावग्रह के चार भेद और मन और चक्षुकी अप्राप्यकारिता।]

मूलम्–स च नयन-मनोवर्जेन्द्रियभेदाच्चतुर्धा, नयन--मनसोरप्राप्यकारित्वेन व्यञ्जनावग्रहासिद्धेः, अन्यथा तयोर्ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातपात्रत्वे जलानलदर्शन-चिन्तनयोः क्लेददाहापत्तेः।

अर्थ–चक्षु और मन को छोड कर शेष चार इन्द्रियों से उत्पन्न होता है इसलिये व्यंजनावग्रह चार प्रकार का है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी है इसलिये उनका व्यंजनावग्रह होता नहीं। यदि ये दोनों प्राप्यकारी हों तो इन दोनों से जिन पदार्थों का ज्ञान होता है उन पदार्थों से उत्पन्न उपकार और उपघात का पात्र इन दोनों इन्द्रियों को होना चाहिये। यदि यह अवस्था हो तो पानी को देखने से नेत्रों को गीला होना चाहिये और अग्नि के देखने से नेत्र में दाह होना चाहिये। इसी रीति से जल की चिन्ता के करने पर मन को गीला होना चाहिये और अग्नि की चिन्ता से मन को जलना चाहिये।

विवेचन.–विषय के साथ संयुक्त होकर ज्ञान रूप कार्य को उत्पन्न करना प्राप्यकारित्व है। कर्णादि इन्द्रिय प्राप्य-

कारी हैं। तीव्र कठोर शब्द सुनने से कान में पीडा होती है और कोमल संगीत के स्वरों से सुख का अनुभव होता है। इसी रीति से प्रतिकूल और अनुकूल स्पर्श आदि के द्वारा त्वचा आदि इन्द्रियों से सुख दुःख का अनुभव होता है। नेत्र और मन की दशा इन इन्द्रियों से भिन्न है। चक्षु और मन विषय के साथ संयोग करके ज्ञान को नहीं उत्पन्न करते। जल देखने से चक्षु गीली और अग्नि देखने से दग्ध नहीं होती। जल और अग्नि की चिन्ता से मन में गीलापन और दाह नहीं होता। इसलिये चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं।

मूलम्–रवि-चन्द्राद्यवलोकने चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ दृष्टावेवेति चेत्,

अर्थ-शंका-सूर्य और चन्द्र के देखने से नेत्र का उपकार और उपघात देखा जाता है।

विवेचना–अग्नि के साथ संबंध से त्वचा जलती है और जल के संबंध से शीतल होती है। संबंध के बीना त्वचा में पीडा और शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता इसलिये त्वचा प्राप्यकारी है। सूर्य और चन्द्र के तेज के साथ संबंध बिना नेत्र में पीडा और शान्ति नहीं हो सकती। इस कारण से त्वचा के समान चक्षु भी प्राप्यकारी है। चक्षु संबध कर के सूर्य और चन्द्र को देखती है।

मूलम्–न, प्रथमावलोकनसमये तददर्शनात्, अनवरतावलोकने च प्राप्तेन रविकिरणादिनोपघातस्या (स्य), नैसर्गिकसौम्यादिगुणे

चन्द्रादौ चावलोकिते उपघाताभावादनुग्रहाभिमानस्योपपत्तेः ।

अर्थ—पहली बार सूर्य और चन्द्र को देखने से पीडा और शान्ति नहीं प्रतीत होती । पीछे निरन्तर देखने से सूर्य की किरणों के साथ आंख का संबंध होता है और आंख को पीडा होती है । चन्द्रमा आदि स्वभाव से सौम्य पदार्थों को देखकर पीडा नहीं होती इसलिये शान्ति का भ्रम होता है ।

विवेचना-सूर्य के साथ जो नेत्र को संबंध हो तो सूर्य के प्रथम दर्शन में ही चक्षु को पीडा होनी चाहिये । परन्तु नहीं होती । निरंतर सूर्य को देखने से नेत्र में पीडा होती है । उसका कारण है सूर्य की किरणों के साथ नेत्र का सबंध । जहाँ सूर्य है, वहाँ जाकर चक्षु का संबंध नही होता । किन्तु जहां चक्षु है वहां सूर्य की किरणें पहूंचती हैं और संबंध होता है इस कारण चक्षु को ताप होता है । चन्द्र को देखने से शान्ति की जो प्रतीति होती है उसका कारण भी चन्द्र के साथ चक्षु का संबंध नहीं है । चन्द्र को देखने से कोई पीडा नहीं होती केवल इस कारण नेत्र में शान्ति का भ्रम होता है ।

चन्द्र को देखने से नेत्र में शान्ति की जो प्रतीति होती है वह यदि सत्य हो, तो भी चन्द्र के देश में नेत्र की प्राप्ति का अनुमान नहीं हो सकता । चन्द्र की किरणों ही नेत्र के देश में जाती हैं और नेत्र को शान्त करती हैं । सूर्य की किरणों के समान चन्द्र की किरणों भी नेत्र के पास जाती हैं ।

मलम्–मृतनष्टादिवस्तुचिन्तने, इष्टसङ्गमवि-
भवलाभादिचिन्तने च जायमानौ दौर्बल्यो-
रःक्षतादि-वदनविकासरोमाञ्चोद्गमादिलिङ्गका-
वुपघातानुग्रहौ न मनसः, किन्तु मनस्त्वपरिण-
तानिष्टेष्टपुद्गलनिचयरूपद्रव्यमनोऽवष्टम्भेन हृ
न्निरुद्धवायुभेषजाभ्यामिव जोवस्यैवेति न ताभ्य
मनसः प्राप्यकारित्वसिद्धिः ।

अर्थ–मृत और नष्ट वस्तु की चिन्ता से दुर्बलता और उरःक्षत हो जाता है । प्रिय वस्तु के संग और ऐश्वर्य के लाभ आदिकी चिन्ता से मुख में विकास और रोमांच उत्पन्न होता है । इन लिंगो से उपघात और अनुग्रह का अनुमान होता है । पर यह उपघात और अनुग्रह मन को नहीं होता, किन्तु शुभ अशुभ पुद्गलों का द्रव्य मन के रूप में जो परिणाम होता है उसकी सहायता से जीव का उपघात और अनुग्रह होता है हृदय में वायु के रूक जाने पर जीव को उपघात और औषध से अनुग्रह होता है। इसी रीति से प्रिय और अप्रिय वस्तुओं की चिन्ता के कारण अनुग्रह और उपघात जीव का होता है ।

विवेचना–प्रिय और अप्रिय विषयों की चिन्ता से सुख और दुःख का अनुभव होता है इस कारण बाह्य विषयों के साथ मन के संबंध का अनुमान होता है, और उसके द्वारा मन त्वचा

आदि बाह्य इन्द्रिया के समान प्राप्यकारी है इस प्रकार की शंका होती है। इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं चिन्ता से उत्पन्न सुख दुःख का निषेध नहीं, परन्तु वे सुख दुःख मन को नहीं होते जीव को होते हैं। इस सुख दुःख के अनुभव में मन निमित्त है। संबध के बिना मन प्रिय और अप्रिय विषयों की चिन्ता कर सकता है। जो संबधी विद्यमान है उनका संबंध होता है। जल और अग्नि दोनों विद्यमान हैं इसलिये उनका संयोग हो सकता है। इन दो में से यदि कोई एक न हो तो सयोग नहीं हो सकता। जो वस्तु विद्यमान नहीं, नष्ट हो चुकी है अथवा जिसकी उत्पत्ति अभी हुई नहीं, कुछ काल के पीछे होगी इस प्रकार के अतीत और अनागत विषयों की चिन्ता मन के द्वारा होती है, अतीत और अनागत विषयों के साथ मनका संबंध नहीं हो सकता। मन विद्यमान है पर अतीत और अनागत विषय अविद्यमान हैं इसलिये अतीत अनागत विषय और मनका संबंध असंभव है। पदार्थों की अपनी अपनी शक्तियां विचित्र होती हैं त्वचा आदि इन्द्रिय बाह्य विषयों के साथ संबंध करके ज्ञान उत्पन्न करती हैं। परन्तु मन अतीत अनागत की चिन्ता उनके साथ बिना संबंध के करता है। चिन्ता से जो सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। उनका संबध मनके साथ नहीं होता किन्तु जीव के साथ होता है। सुख-दुःख की उत्पत्ति में इन्द्रिय और विषय निमित्त हैं। परन्तु सुख-दुःख का आधार जीव ही है। सुख और दुःख के द्वारा प्रिय और अप्रिय विषयों के साथ मन के संबंध का अनुमान युक्त नहीं है। किसी कारण से जब वक्षःस्थल में वायु की रुकावट होती है तब पीडा होती है। जब औषध से रुकावट दूर हो जाती है और वायु का संचार होता है तब शान्ति की प्रतीति होती है। ये पीडा और शान्ति जिस

प्रकार जीव को होती हैं इस प्रकार प्रिय और अप्रिय वस्तु को चिन्ता से उत्पन्न सुख दुःख भी जीव को होते हैं । अतीत और अनागत विषयों के समान वर्तमान काल में विषयों की चिन्ता भी मन करता है परन्तु विषयों के साथ मन का संबंध नहीं होता ।

मूलम्–ननु यदि मनो विषयं प्राप्य न परिच्छिनत्ति तदा कथं प्रसुप्तस्य 'मेर्वादौ गतं मे मनः' इति प्रत्यय इति चेत्,

अर्थ–विषक के साथ संबंध करके यदि मन नहीं जानता तो सोये मनुष्य को "मेरा मन मेरु आदि पर गया था" यह प्रतीति क्यों होती है ।

विवेचना–यह पूर्व पक्ष की शंका है, जागने के काल में जब मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है तब उसको प्रतीति होती है, पूर्व काल में मैं जिस स्थान पर था अब उससे भिन्न स्थान पर हूँ । भिन्न स्थानों के साथ शरीर का संबंध होता है, इस विषय में यह प्रतीति प्रमाण है । "मेरु पर मेरा मन गया था" ईस प्रकार की प्रतीति मन की गति में प्रमाण होनी चाहिए । जागरण और स्वप्न दो दशाएँ हैं । जिस प्रकार जागरण दशा का ज्ञान प्रमाण है इस प्रकार स्वप्न दशा का ज्ञान प्रमाण है ।

मूलम–न, मेर्वादौ शरीरस्येव मनसो गमन-स्वप्नस्यासत्यत्वात् , अन्यथा विबुद्धस्य कुसुम-परिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघातप्र---सङ्गात् ।

अर्थ–समाधान करते हुए कहते हैं, 'मेरु पर मेरा शरीर गया था' यह अनुभव स्वप्न में होता है। जिस प्रकार शरीर के गमन का स्वप्न असत्य है इस प्रकार मेरु पर मन के गमन का स्वप्न भी असत्य है। मेरु पर शरीर के गमन का स्वप्न यदि असत्य न हो तो पुष्पों की सुगन्ध के कारण सुख की और मार्ग में चलने के कारण थकावट की प्रतीति होनी चाहिये।

विवेचना-मन के समान शरीर भी स्वप्न में मेरु के उपर गया हुआ प्रतीत होता है। मेरु पर जो वृक्ष हैं उन वृक्षों के फूलों की सुगन्ध आ रही है इस प्रकार की प्रतीति किसी को स्वप्न में होती है। यह प्रतीति सत्य नहीं है। जो मनुष्य स्वप्न को देखता है उसके समीपवर्ती लोग उसके शरीर को समीप में ही देखते हैं। स्वप्न द्रष्टा का शरीर यदि मेरु के उपर गया होता तो समीप के लोगों को उसका शरीर दृष्टि गोचर नहीं होना चाहिये। मेरु के पुष्पों के साथ संबंध यदि सत्य होता तो जागने के पीछे सुगन्ध के अनुभव से उत्पन्न सुख का और लम्बे मार्ग में चलने से उत्पन्न दुःख का अनुभव होता। परन्तु इस प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। इसलिये मेरु के उपर शरीर का गमन असत्य है। असत्य अनुभव वस्तु की यथार्थ स्थिति को नहीं प्रकट करता। स्वप्न में ही नहीं जागरण में भी असत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। जागता हुआ मनुष्य शुक्ति को देखता है पर प्रतीति रजत की होती है। इस प्रतीति के कारण वास्तव में रजत की सत्ता नहीं हो जाती। शुक्ति में रजत की प्रतीति के समान

स्वप्न की प्रतीति असत्य है उसके कारण शरीर को छोड़कर बाहर मेरु के उपर मन का गमन सिद्ध नहीं होता।

पूर्व काल में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के विषय में ही यदि पीछे के काल में विरोधी ज्ञान उत्पन्न हो, तो उन दोनों ज्ञानों में अवश्य एक सत्य और दूसरा मिथ्या होता है। अन्य प्रमाण भूत ज्ञान जिस ज्ञान की सहायता करते हैं वह सत्य और दूसरा मिथ्या सिद्ध होता है। मन्द प्रकाश आदि के कारण रज्जु सर्प रूप में प्रतीत होती है। तीव्र प्रकाश के होने के पीछे वही रज्जु, रज्जु के रूप में प्रतीत होती है और सर्प भ्रम की निवृत्ति हो जाती है और जब मनुष्य उसके पास जाता है तब काटने के लिये अथवा भागने के लिये उसकी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। इन समस्त प्रमाणों से रज्जु ज्ञान सत्य सिद्ध होता है। सुप्त मनुष्य का शरीर के साथ मेरू के उपर जाने का ज्ञान भ्रान्त है। पास में रहने वाले लोग उसके शरीर को सामने देखते हैं और जागने के अनन्तर सोया हुआ मनुष्य भी अपने शरीर को निद्रा के स्थान में देखता है। पुष्पों की सुगन्ध से उत्पन्न सुख और मार्ग में चलने से उत्पन्न थकावट का अनुभव उसको नहीं होता। इन समस्त प्रमाणों से सुप्त मनुष्य का मेरू पर गमन असत्य सिद्ध होता है।

मूलम्–ननु स्वप्नानुभूतजिनस्नात्रदर्शन-समीहितार्थालाभयोरनुग्रहोपघातौ विबुध(ङ)-स्य सतो दृश्येते एवेति चेत्,

अर्थ–स्वप्न में भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक को देखने से और इष्ट अर्थ की अप्राप्ति के अनुभव से उत्पन्न

आनन्द और विषाद की प्रतीति जागने के अनन्तर भी होती है।

विवेचना–यहां शंका करते हैं, आप कहते हो स्वप्न में जिन वस्तुओं का अनुभव होता है उनसे उत्पन्न सुख-दुःख का ज्ञान जागने के पीछे नहीं होता। परन्तु सदा इस प्रकार नहीं होता। जो मनुष्य स्वप्न में भगवान जिनेन्द्र के अभिषेक को देखता है उसका अनुभव जागने के पीछे भी होता है। जिसको स्वप्न में प्रयत्न करने पर भी वांछित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती उसको स्वप्न में दुःख होता है और उस दुःख का अनुभव जागने के पीछे भी होता है। इस प्रकार के स्वप्नों में बाह्य विषयों के साथ मन के संबंध को अवश्य मानना पडेगा। इस प्रकार के स्थलों में जागने के काल का ज्ञान स्वप्न ज्ञान को बाधित नहीं करता।

मूलम्–दृश्येतां स्वप्नविज्ञानकृतौ तौ, स्वप्नविज्ञानकृतं क्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं नास्ति, यतो विषयप्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येतेति ब्रूमः।

अर्थ–स्वप्न के ज्ञान से उत्पन्न सुखदुःख चाहे देखने में आवें परन्तु क्रिया का फल तृप्ति आदि नहीं है जिसके कारण विषय के साथ संबंध रूप मन की प्राप्यकारिता सिद्ध हो सके।

विवेचना–सुख दुःख दो प्रकार के होते हैं। इन्द्रिय और अर्थ के संबंध से जो सुख दुःख उत्पन्न होते हैं वे एक प्रकार के

हैं। त्वचा के साथ कोमल फूल फल आदि का जब संबंध होता है, तब जो सुख उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय और अर्थ के संबंध से होता है। त्वचा इन्द्रिय है और फूल फल अर्थ हैं इससे भिन्न प्रकार का सुख दुःख वह है जो इन्द्रिय और अर्थ का संबध न होने पर भी केवल ज्ञान से उत्पन्न होता है जागरण दशा में मनुष्य जब समीप में प्रिय बन्धु के न होने पर भी उसकी उपस्थिति की कल्पना करता है और उसके साथ वार्ता आदि की कल्पना करता है तो सुख होता है। इस प्रकार के सुख की उत्पत्ति का कारण केवल कल्पना है। मित्रों के अंग का स्पर्श और वार्ता आदि सत्य नहीं है। इसी रीति से भीषण अग्नि के भडकने और उसमें अपनी संपत्ति के विनाश की कल्पना से दुःख उत्पन्न होता है। अथवा जब कोई शत्रु भाव से किसी को प्रिय बन्धु के रोग आदि की मिथ्या सूचना देता है तब सुनने वाले को दुःख होता है। इसी रीति से विष खाने की भ्रान्ति हो जाय तो भी मनुष्य दुःखी होकर विलाप करता है। इस प्रकार के समस्त दुःख ज्ञान से उत्पन्न हैं। इन दो प्रकार के सुख दुःखों का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है और युक्ति से भी सिद्ध है। सत्य भोजन से जो तृप्ति होती है वह भोजन के भ्रम से नहीं होती। तृप्ति का भ्रम हो सकता है, पर उदर के साथ खाद्य पदार्थों के संबंध से जो परिणाम उत्पन्न होता है वह तृप्ति के भ्रम से नहीं उत्पन्न होता। सत्य तृप्ति क्रिया का फल है। इन्द्रियों का अर्थ के साथ जब संबंध होता है तब क्रिया होती है। कुछ काल तक तृप्ति का भ्रम हो सकता है पर उसके द्वारा क्षुधा की शान्ति नहीं होती। जब क्षुधा तीव्र होती है तब तृप्ति का भ्रम दूर हो जाता है। जब तक मनुष्य भोजन नहीं करता तब तक क्षुधा की पीडा नहीं दूर होती। कल्पना से उत्पन्न सुख दुःख

सत्य है पर उनके द्वारा इन्द्रिय और अर्थ का संबंध नहीं सिद्ध होता। बाह्य इन्द्रियों के साथ अर्थ का संबंध न होने पर भी संबंध की कल्पना सुख-दुःख को उत्पन्न करती है। यह कल्पना मन का कार्य है। स्वप्न में जिनेन्द्र के स्नात्र का दर्शन और वांछित अर्थ की अप्राप्ति केवल मन की कल्पना है। कल्पना से उत्पन्न सुख-दुःख के कारण बाह्य विषयों के साथ मन के संबंध का अनुमान उचित नहीं है।

मूलम्–क्रियाफलमपि स्वप्ने व्यञ्जनविसर्ग-लक्षणं दृश्यत एवेति चेत्,

अर्थ–यदि कहो स्वप्न में वीर्यपात रूप क्रिया फल भी देखा जाता है।

विवेचना–यहाँ शंका करता है-भोजन आदि क्रियाओं का फल तृप्ति आदि यद्यपि स्वप्न ज्ञान से नहीं दिखाई देता, तो भी कुछ एक क्रियाओं का फल स्वप्न ज्ञान से भी उत्पन्न होता है। स्त्री का संभोग वीर्यपात का कारण है यह वीर्य-पात स्वप्न में भी होता है। इसके कारण स्त्री के साथ मन का संबंध सिद्ध होता है और उसके कारण मन प्राप्यकारी सिद्ध होता है।

मूलम्–तत् तीव्राध्यवसायकृतम्, न तु कामिनीनिधुवनक्रियाकृतमिति को दोषः ?

अर्थ–तीव्र अध्यवसाय के कारण वह वीर्यपात होता है। वह वीर्यपात कामिनी के साथ संभोग क्रिया से उत्पन्न नहीं होता।

विवेचना-समाधान में कहते हैं, कुछ एक क्रियाओं का फल केवल ज्ञान से होता है। जहाँ तीव्र अध्यवसाय होता है वहां इन्द्रिय और अर्थ का संबंध न होने पर भी क्रिया का फल होता है। जागता मनुष्य तीव्र अनुराग के कारण प्रत्यक्ष के समान कामिनी को देखकर जब कल्पना के द्वारा संभोग करता है तब भी वीर्यपात होता है उस काल में कामिनी के साथ संबंध नहीं है। कामुक को छोडकर अन्य कोई मनुष्य कामिनी को नहीं देखता। उस दशा में वीर्यपात का कारण तीव्र अध्यवसाय ही है। इस रीति से स्वप्न काल में वीर्यपात का कारण तीव्र अध्यवसाय ही है। उस काल में कामिनी के साथ मन का संबंध नहीं होता अतः मन प्राप्यकारी नहीं है।

मूलम्-ननु स्त्यानर्धिनिद्रोदये गीतादिकं श्रृण्वतो व्यञ्जनाग्रहो मनसोऽपि भवतीति चेत्,

अर्थ-शंका-स्त्यानर्धि निद्रा के उदय होने पर गीत आदि सुनते हुए व्यञ्जनावग्रह मन का भी होता है।

विवेचना-निद्रा की एक विशेष अवस्था का नाम स्त्यानर्धि है इस निद्रा में आत्मा की चेतना कुछ अंश में संकुचित और कुछ अंश में विकसित होती है। पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती। इस निद्रा की दशा में मनुष्य जिस काम को करता है उसको वह समजता है, मैं इस कार्य को स्वप्न में करता हूँ। वह गीत सुनता है इतना ही नहीं इस निद्रा की दशा में मनुष्य कुछ एक पदार्थों को उठाता है और रखता है इन समस्त क्रियाओं को मन से विचार करके करता है। इसके कारण बाह्य विषयों के साथ मन का सबंध सिद्ध होता है, अतः मन प्राप्यकारी है। यदि इन दशाओं में मन का

व्यञ्जनावग्रह न हो तो गीत का सुनना आदि क्रियाएँ मन से नहीं हो सकतीं ।

मूलम्–न,तदा स्वप्नाभिमानिनोऽपि श्रवणाद्यवग्रहेणैवोपपत्तेः।

अर्थ–आपका वचन युक्त नहीं हैं। उस काल में वह स्वप्न को मानता है पर कान आदि इन्द्रियों के अवग्रह से ही गीत आदि का श्रवण होता है ।

विवेचना–उस काल में व्यंजनावग्रह होता है पर वह व्यंजनावग्रह कान, जीभ नासिका और त्वचा इन्द्रियों का होता है। जागता मनुष्य कान से सुनता है और अन्य इन्द्रियों से रस आदि को जानता है। शब्द आदि के इस ज्ञान में मन सहायक है, परन्तु उसका संबंध बाह्य इन्द्रियों के साथ नहीं होता। स्त्यानर्धि निद्रा कुछ एक अंशो में जागरण दशा के साथ मिलती--जुलती है. अतः उस दशा में भी कान आदि इन्द्रियों का ही व्यंजनावग्रह होता है-मन का नहीं, इस कारण मन प्राप्यकारी नहीं है।

मूलम्–ननु 'च्यवमानो न जानाति' इत्यादि वचनात् सवस्यापि छद्मस्थोपयोगस्यासङ्ख्येयसमयमानत्वात्, प्रतिसमयं च मनोद्रव्याणां ग्रहणात् विषयमसम्प्राप्तस्यापि मनसो देहादनिर्गतस्य तस्य च स्वसन्निहितहृदयादिचिन्तनवेलायां कथं व्यञ्जनावग्रहो न भवतीति चेत्;

अर्थ–"व्यवमानो न जानाति" इस वाक्य के अनुसार छद्मस्थ का उपयोग असंख्येय समय में होता है और रहता है और प्रत्येक समय में मन द्रव्य का ग्रहण होता है। विषय के साथ मन का संबंध न हो और देह से बाहर मन न निकले तो भी अपने साथ सम्बद्ध हृदय आदि का चिन्तन जब मन करता है तब व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता ?

विवेचना-आगम के अनुसार जीव को ज्ञान असंख्यात समयों में होता है और प्रत्येक समय में जीव अनन्त मन द्रव्यों का ग्रहण करता है। इन मन द्रव्यों के साथ मन का संबध आवश्यक है। शब्द आदि के साथ कान आदि इन्द्रियों का संबंध जिस प्रकार व्यञ्जनावग्रह है इस प्रकार मन द्रव्यों के साथ मन का संबंध व्यञ्जनावग्रह होना चाहिये। शब्द आदि रूप में परिणत द्रव्य अथवा उसके साथ संबंध व्यंजन है। द्रव्य रूप व्यंजन अथवा संबंध रूप व्यंजनों से जो अवग्रह है-वह व्यञ्जनावग्रह है। संबंध का संबंधी के साथ सर्वथा भेद नहीं है, अभेद भी है, इस लिये संबंध जिस प्रकार व्यंजनावग्रह है इस प्रकार संबंध से अभिन्न द्रव्य भी व्यंजनावग्रह है। इस रीति से बाह्य विषयों के साथ संबंध न होने पर भी मन जिन द्रव्यों का ग्रहण करता है उनके साथ संबंध होने से मन का व्यञ्जनावग्रह आवश्यक है।

और जब मन हृदय आदि की चिन्ता करता है तब अपने शरीर में रहे हृदय के साथ संबंध अवश्य होता है। यहाँ पर मन का ग्राह्य विषय हृदय है उसके साथ संबंध होने से

मन का व्यञ्जनावग्रह आवश्यक है। शरीर से बाहर रहे विषयों के साथ त्वचा आदि का संबंध होता है इसलिये त्वचा आदि प्राप्यकारी हैं। इस रीति से शरीर से बाहर मेरु आदि विषयों के साथ मन का संबंध यदि न हो तो भी शरीर के अन्दर रहे हृदय के साथ संबंध में कोई शंका नहीं हो सकती। विषयों के साथ संबंध के कारण त्वचा आदि इन्द्रिय प्राप्यकारी हैं। विषय शरीर के बाहर है अथवा अन्दर है यह वस्तु त्वचा आदि इन्द्रियों के प्राप्यकारी होने में कारण नहीं है। हृदय शरीर के अन्दर है उसके विषय में मन ज्ञान करता है। मन के साथ हृदय के संबंध में कोई प्रतिबंधक नहीं है, इसलिये मन त्वचा आदि के समान प्राप्यकारी है।

मूलम्–शृणु; ग्रहणं हि मनः, न तु ग्राह्यम्। ग्राह्यवस्तुग्रहणे च व्यञ्जनावग्रहो भवतीति न मनोद्रव्यग्रहणे तदवकाशः;

अर्थ–सुनो, मन ग्रहण है ग्राह्य नहीं। ग्राह्य वस्तु के ग्रहण से व्यञ्जनावग्रह होता है, इसलिये मन द्रव्यों के ग्रहण में व्यञ्जनावग्रह का अवकाश नहीं है।

विवेचना–उत्तर में कहते हैं-मन ज्ञान का विषय नहीं है किन्तु अर्थ के ज्ञान में साधन है इसलिये वह ग्रहण कहलाता है। मेरु आदि को मन जानता है इसलिये वे मन के ग्राह्य हैं। साधनरूप मन का मेरु आदि विषयों के साथ संबंध नहीं है इसलिये मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं सिद्ध होता। मन प्रत्येक समय में मन द्रव्यों का ग्रहण करता

है परन्तु उस ग्रहण में मन द्रव्यों के साथ साधन मन का केवल संबध है, ग्राह्य रूप से द्रव्य मनों को साधन मन नहीं ग्रहण करता। मन से जिस प्रकार मेरु आदि की प्रतीति होती है इस प्रकार द्रव्य मनों का ज्ञान-साधन मन नहीं करता। मन द्रव्यों का ग्रहण संयोगरूप है ज्ञानरूप नहीं, इसलिये इस हेतु से मन प्राप्यकारी नहीं सिद्ध होता।

मूलम्-सन्निहितहृदयादिदेशग्रहवेलायामपि नैतदवकाशः, बाह्यार्थापेक्षयैव प्राप्यकारित्वा-प्राप्यकारित्वव्यवस्थानात्,

अर्थ-समीपवर्ती हृदय आदि का ज्ञान जिस काल में होता है उस काल में भी इस का अवसर नहीं है। कारण, बाह्य अर्थों की अपेक्षा से प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता की व्यवस्था होती है।

विवेचना-मन की स्थिति हृदय में कही जाती है। जिस देश में स्थिति है उस देश के साथ संबध अपरिहार्य है परन्तु इस संबंध के सामर्थ्य से मन प्राप्यकारी नहीं हो सकता। बाह्य अर्थों के साथ जिन इन्द्रियों का संबंध होता है वे प्राप्यकारी हैं, जिनका संबंध बाह्य अर्थों के साथ नहीं है वे अप्राप्यकारी हैं। ध्यान रखना चाहिये, जो संबंध ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है वही संबंध प्राप्यकारिता में निमित्त होता है। जो संबंध ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त नहीं होता, उसके कारण इन्द्रिय प्राप्यकारी नहीं होती। हृदय के साथ मन का संबंध है परन्तु वह संबंध हृदय के ज्ञान में कारण नहीं है। मन अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से हृदय को

जानता है। केवल हृदय के साथ ही नहीं, जिनका हृदय के साथ संबंध है इस प्रकार के रुधिर आदि के साथ भी मन का संबंध अपरिहार्य है, परन्तु मन रुधिर आदि को नहीं जानता जिस प्रकार रुधिर आदि के साथ मन का संबंध केवल संबंध है वह रुधिर आदि के ज्ञान में कारण नहीं है-इस प्रकार हृदय के साथ मन का संबंध केवल संबंध है, वह हृदय के ज्ञान में कारण नहीं है। मन जिस प्रकार संबन्ध के बिना वृक्ष आदि को जान सकता है इस प्रकार हृदय आदि को भी जानने में समर्थ है। शरीर के अन्दर मन और हृदय दोनों हैं। हृदय आदि मन के संबन्धी हैं। इस कारण अपरिहार्य रूप से हृदय आदि के साथ मन का संबंध है पर वह हृदय आदि के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें कारण नहीं है। मन के द्वारा ज्ञान में संबंध सहकारी नहीं इसलिये मन अप्राप्यकारी है।

मूलम्-क्षयोपशमपाटवेन मनसः प्रथममर्थानुपलब्धिकालसम्भवाद्वा, श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारकालेऽपि मनोव्यापारस्य व्यञ्जनावग्रहोत्तरमेवाभ्युपगमात्,

अर्थ-तीव्र क्षयोपशम के कारण प्रथम समय में अर्थ की अनुपलब्धि का काल मन के विषय में संभव नहीं है इस कारण भी मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। श्रोत्र आदि इन्द्रियों का व्यापार जिस काल में होता है उस काल में भी मन का व्यापार व्यंजनावग्रह के अनन्तर स्वीकार किया जाता है।

विवेचना-जिस काल में व्यञ्जनावग्रह होता है उस काल में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये उत्तरवर्त्ती काल में अर्थ की प्रतीति होती है। त्वचा आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम तीव्र नहीं, इसलिये प्रथम समय में उनके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। मन का क्षयोपशम तीव्र है इसलिये प्रथम काल में ही अर्थावग्रह होता है, व्यंजनावग्रह का अवसर ही नहीं है। तीव्र क्षयोपशम के कारण जिस प्रकार चक्षु प्रथम समय में अर्थ को देखती है इस प्रकार मन प्रथम समय में ही अर्थ को जानता है। इस प्रकार का कोई काल नहीं जिसमें विषय के साथ मन का संबंध हो पर अर्थ की प्रतीति न हो। इस कारण मन का व्यञ्जनावग्रह असंभव है।

इतना ही नहीं श्रवण आदि इन्द्रियों के द्वारा जब शब्द आदि का ज्ञान होता है तब भी व्यंजनावग्रह के हो चुकने पर मन का व्यापार होता है। जब शब्द आदि के साथ श्रवण आदि इन्द्रियों का संबंध होता है तब मन का व्यापार नहीं होता। जिस काल में श्रवण आदि इन्द्रियों से अर्थावग्रह होता है उस काल में ही मन व्यापार करता है।

मूलम्-'मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः' इति मनः शब्दस्यान्वर्थत्वात्, अर्थभाषणं विना भाषाया इव अर्थमननं विना मनसोऽप्रवृत्तेः। तदेवं नयनमनसोर्न व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम्।

अर्थ-'जो पदार्थों का मनन करता है अथवा जिसके द्वारा पदार्थों का मनन होता है वह मन है। 'इस रीति

से मन शब्द अर्थ से अनुगत है । अर्थ के भाषण बिना भाषा के समान अर्थ के मनन बिना मन की प्रवृत्ति नहीं होती ।

विवेचना–व्यंजनावग्रह अर्थ का ज्ञानरूप नहीं है वह अर्थ ज्ञान का कारण है । परन्तु मन अर्थ का ज्ञानरूप है । मन पद की व्युत्पत्ति मन को अर्थज्ञानरूप कहती है । वाच्य अर्थों का प्रतिपादन करती हुई भाषा जिस प्रकार भाषा नाम से कही जाती है इस प्रकार मन अर्थों का मनन करता हुआ ही मन कहा जाता है । अवधि, मनः पर्यव और केवल-ज्ञान जब उत्पन्न होते हैं, तब अपने विषयों को प्रकाशित करते हुए ही उत्पन्न होते हैं । विषयों के प्रकाशन के बिना अवधि आदि ज्ञान की सत्ता नहीं है, अर्थ के मनन के बिना इसी प्रकार मन की प्रवृत्ति नहीं है । अतः मन का व्यंजना-वग्रह नहीं होता ।

इस रीति से सिद्ध हुआ नेत्र और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता ।

[अर्थावग्रह का निरूपण]

मूलम्-स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पना-रहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः ।

अर्थ–स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य की कल्पना से रहित सामान्य ज्ञान अर्थावग्रह है ।

विवेचना–रूप रस आदिका जो नियत स्वभाव चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रतीत होता है वह 'स्वरूप' है । इन अर्थों का वाचक शब्द 'नाम' है । रूपत्व रसत्व आदि 'जातियां'

हैं। यह रूप मनोहर है और यह रस बलदायक है इत्यादि प्रकार का व्यवहार 'क्रिया' है। शुक्ल नील आदि 'गुण' हैं। पृथ्वी आदि 'द्रव्य' हैं। इन स्वरूप, नाम, जाति आदि का मन में जो शब्द से जन्य ज्ञान प्रकट होता है उसका नाम 'कल्पना' है। अर्थ का इस कल्पना से रहित ज्ञान सामान्य ज्ञान है और वह अर्थावग्रह है। ग्राह्य अर्थ सामान्यविशेषात्मक हैं परन्तु अर्थावग्रह में विशेषों का ज्ञान नहीं होता।

मूलम्–कथं तर्हि 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति सूत्रार्थः, तत्र शब्दाद्युल्लेखराहित्याभावादिति चेत्,

अर्थ-शंका यदि अर्थावग्रह में शब्द के संबंध से रहित प्रतीति होती है तो "उसने शब्द है इस रीति से अवग्रह किया" इस प्रकार सूत्र में जो कहा है उसकी संगति किस प्रकार होगी? यह प्रतीति शब्द के उल्लेख से रहित नहीं है।

विवेचना–"नन्दी सूत्र" में कहा है–"से जहा नामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जति तेणं सद्देति उग्गहिए न उण जाणइ के वेस सद्दाइति" इस नन्दी सूत्र के अनुसार जब कोई पुरुष शब्द को सुनता है तब "शब्द है" इस रीति से अर्थावग्रह होता है। इस प्रतीति में शब्द का संबंध है। आपके अनुसार शब्द के संबंध से रहित केवल सामान्य ज्ञान अर्थावग्रह है। इस रीति से नन्दी सूत्र के साथ विरोध होगा।

मूलम्–न, 'शब्दः' इति वक्त्रैव भणनात्, रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्यनवधारण-परत्वाद्वा।

अर्थ–'यह शब्द है' इस रीति से वक्ता कहता है । सुनने वाले को इस रीति से ज्ञान नहीं होता । अथवा रूप रस आदि से शब्द का जो भेद है उनका निश्चय नहीं होता । यह नन्दी सूत्र का अभिप्राय है ।

विवेचना द्रष्टा पुरुष जब रूप को देखता है तब अव्यक्त भाव से रूप का ज्ञान होता है । यह अर्थ रूप है और रूप पद इसका वाचक है इस रीति से ज्ञान नहीं होता इसी रीति से श्रोता जब शब्द को सुनता है तब अव्यक्त भाव से शब्द को जानता है । शब्द अर्थ है और शब्द पद उसका वाचक है इस रीति से उसको ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार से शब्द का अर्थावग्रह होता है । यह शब्द है इस प्रकार श्रोता नहीं कहता किन्तु अन्य वक्ता कहता है। वक्ता का ज्ञान वाचक शब्द के संबध से युक्त है श्रोता का नहीं नन्दी-सूत्र के उक्त वाक्य का अभिप्राय इसी प्रकार का है इसलिये उसके साथ विरोध नहीं है ।

अथवा सूत्र का अभिप्राय इस रीति से है–श्रोता जब शब्द को सुनता है तब रूप रस आदि से शब्द भिन्न है इस प्रकार का निश्चय उसको नहीं होता, उसको शब्द का ज्ञान सामान्य रूप से होता है। श्रोता शब्द को सुनता है पर शब्द रूप से उसको शब्द का निश्चय नहीं होता।

मूलम्–यदि च 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायोऽवग्रहे भवेत् तदा शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात्तथाविग्रहस्यैकसामा(म)यिकत्वं भज्येत ।

अर्थ–यदि अवग्रह में यह शब्द है इस रीति से अध्यवसाय हो तो शब्द का उल्लेख अंतर्मुहूर्त्त में होता है इस कारण अर्थावग्रह एक सामयिक नहीं रह सकेगा।

विवेचना- शब्द का उल्लेख अंतर्मुहूर्त्त काल में होता है और अर्थावग्रह एक समय में होता है यह आगम का सिद्धान्त है। यदि अर्थावग्रह में शब्द का संबंध हो तो उसमें अंतर्मुहूर्त्त काल जायगा। एक समय में अर्थावग्रह होता है इस सिद्धांत के साथ विरोध होगा।

मूलम्–स्यान्मतम्–'शब्दोऽयम्' इति सामान्यविशेषग्रहणमप्यर्थावग्रह इष्यताम्, तदुत्तरम्–'प्रायो माधुर्यादयः शङ्खशब्दधर्मा इह, न तु शार्ङ्गधर्माः खरकर्कशत्वादयः' इतीहोत्पत्तेः–इतिः

अर्थ–शंका करते हैं 'यह शब्द है' इस प्रकार के सामान्य विशेष के ग्रहण को भी अर्थावग्रह मान लीजिये, कारण, उसके अनन्तर-यहाँ प्रायः शंख शब्द के मधुरता आदि धर्म हैं, शृंग से उत्पन्न शब्द के तीव्रता कर्कशता आदि नहीं हैं–इस रीति से ईहा की उत्पत्ति होती है।

विवेचना-सामान्य रूप से शब्द का ज्ञान अर्थावग्रह है। इसके समान 'यह शब्द है' इस रीति का जो सामान्य विशेषरूप ज्ञान होता है वह भी अर्थावग्रह है-इस प्रकार जो माना जाय तो हानि नहीं है। सामान्य रूप से ज्ञान अर्था-

वग्रह के स्वरूप का मूल है। वह मूल "यह शब्द है" इस प्रकार के आकार वाले सामान्य विशेष ज्ञान में भी है। मधुर कठोर आदि शब्द विशेषरूप हैं उनकी अपेक्षा शब्द सामान्य रूप है। अवग्रह के पीछे ईहा होती है। यहाँ भी मधुरता आदि की प्रतीति के कारण यह शब्द शंख का होना चाहिये इस आकार की ईहा उत्पन्न होती है।

मूलम्–मैवम् ; अशब्दव्यावृत्त्या विशेषप्रतिभासेनास्याऽपायत्वात् स्तोकग्रहणस्योत्तरोत्तरभेदापेक्षयाऽव्यवस्थितत्वात्।

अर्थ–इस प्रकार नहीं, शब्द भिन्न रूप रस आदि से भेद की अपेक्षा के कारण "यह शब्द है" इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस कारण यह विशेष का ज्ञान है और इसलिये अपाय है। इस ज्ञान में अल्प विशेषों का ज्ञान होता है इस कारण यह ज्ञान अपाय नहीं, जो इस प्रकार कहो तो युक्त नहीं है। कारण, उत्तरवर्ती ज्ञानों की अपेक्षा अल्प विशेषों का ज्ञान नियत नहीं हो सकता।

विवेचना—जब तक रूप रस आदि से भेद का ज्ञान न हो जाय तब तक यह शब्द है इस प्कार का निश्चय नहीं हो सकता। अन्य अर्थों से भेद के कारण अर्थ का जो निश्चय होता है वह अपाय है। विशेष का अध्यवसाय होने से वह अर्थावग्रह नहीं हो सकता। अर्थावग्रह में केवल सामान्य का ज्ञान होता है। जो आप कहो, केवल शब्द का ज्ञान विशेष

का ज्ञान है पर वह विशेष अल्प है इसलिये यह ज्ञान अवग्रह है अपाय नहीं, तब कौन ज्ञान अपाय है ? इसका निर्देश करना चाहिये। यह शंख का शब्द है यह वीणा का शब्द है इत्यादि प्रकार का ज्ञान शब्द के अवान्तर भेदों का ज्ञान है। अनेक विशेषों का प्रकाशक होने से वह अपाय है । अल्प विशेषों का ज्ञान जो अपाय न हो और अर्थावग्रह रूप हो तो अपाय ज्ञान का स्वरूप नियत नहीं हो सकेगा। उत्तर काल के ज्ञानों की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती ज्ञानों में विशेषों की प्रतीति अल्प होती है। इस रीति से विशेषग्राही ज्ञान भी उत्तरकाल के ज्ञानों की अपेक्षा से अल्प विशेषों का प्रकाशक होने के कारण विशेषरूप न हो सकेंगे ।

मूलम्–किञ्च, 'शब्दोऽयम्' इति ज्ञान (नं) शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपादिव्यावृत्तिपर्यालोचन-रूपामीहां विनाऽनुपपन्नम् , सा च नागृहीतेऽर्थे सम्भवतीति तद्ग्रहणं अस्मदभ्युपगतार्थावग्रह-कालात् प्राक् प्रतिपत्तव्यम् , स च व्यञ्जना-वग्रहकालोऽर्थपरिशून्य इति यत्किञ्चिदेतत् ।

अर्थ–इस पक्ष में अन्य दोष भी है । शब्दगत अन्वयी धर्मों में रूप रस आदि की व्यावृत्ति की आलोचना रूप ईहा बिना "यह शब्द है" इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता और ईहा अज्ञात पदार्थ में नहीं होती। इस कारण हमने अर्थावग्रह का जो काल माना है उससे पूर्व काल में अर्थ का ज्ञान मानना पडेगा ।

और वह काल व्यञ्जनावग्रह का काल है और अर्थ की प्रतीति से शून्य है। इस कारण यह पक्ष युक्त नहीं।

विवेचना-रूप आदि से भेद का ज्ञान ईहा बिना असम्भव है और ईहा सामान्य रूप से वस्तु का ज्ञान न हो, तो होती नहीं। यदि आप ईहा से पूर्व सामान्य रूप में ज्ञान को स्वीकार करें तो उस ज्ञान का कोई काल होना चाहिये। यदि वह काल, हमने अर्थावग्रह का जो काल माना है वही हो तो अर्थावग्रह का जो स्वरूप हम कहते हैं उसको सिद्धि हो जायगी इसलिये आपके अभिप्राय के अनुसार अर्थावग्रह का जो काल हम मानते हैं उससे पूर्व काल में सामान्य ज्ञान के काल को मानना होगा। उससे पूर्व में व्यंजनावग्रह का काल है। उस कालमें सामान्यरूप अथवा विशेषरूप अर्थ को प्रतीति नहीं होती, कारण, उस काल में केवल इन्द्रिय का व्यापार है। मन का व्यापार उस काल में नहीं है। इसलिये हम सामान्यज्ञानरूप जिस अर्थावग्रह को मानते हैं वही उचित है। उसके पीछे अन्वयी और व्यतिरेकी धर्मों की आलोचना रूप ईहा होती है। उसके पीछे 'यह शब्द है' इस प्रकार का निश्चयात्मक अपाय होता है।

मूलम्-नन्वनन्तरम्-'क एष शब्दः' इति शब्दत्वावान्तरधर्मविषयकेहानिर्देशात् 'शब्दोऽयम्' इत्याकार एवावग्रहोऽभ्युपेय इति चेत्,

अर्थ-शंका-अर्थावग्रह के पीछे यह कौनसा शब्द है? इस रीति से शब्दत्व के अवान्तर धर्म के विषय में

ईहा का निर्देश है, इसलिये "यह शब्द है" इस आकार में ही अवग्रह को मानना चाहिये।

विवेचना-शंका करते हैं नन्दी सूत्र में शब्द का ज्ञान अवग्रह रूप में कहा गया है। इस अवग्रह के स्वरूप का प्रतिपादन करता हुआ सूत्र कहता है यह कौनसा शब्द है। यह शंख का शब्द है अथवा धनुष का शब्द है इस रूप से वह नहीं जानता। इस प्रकार के शब्द भेद का अज्ञान अर्थावग्रह में कहा गया है, इससे प्रतीत होता है-सामान्यरूप में शब्द ज्ञान को वह अवग्रह रूप में स्वीकार करता है। सामान्य रूप से यदि शब्द का ज्ञान न हो तो शब्द के अवान्तर भेदों की जिज्ञासा नहीं होती। अवान्तर भेद की जिज्ञासा ईहा रूप है इसलिये उससे पूर्व में "शब्द है" इस आकार का अर्थावग्रह आवश्यक है।

मूलम्-नः 'शब्दः शब्दः' इति भाषकेणैव भणनात्, अर्थावग्रहेऽव्यक्तशब्दश्रवणस्यैव सूत्रे निर्देशात्, अव्यक्तस्य च सामान्यरूपत्वादनाकारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयत्वात्।

अर्थ-'शब्द शब्द' इस रीति से तो वक्ता कहता है। अर्थावग्रह में अव्यक्त शब्द का श्रवण होता है केवल इतना निर्देश सूत्र में है और अव्यक्त सामान्यरूप है और सामान्य, आकार रहित उपयोग का विषय होता है।

विवेचना-अर्थावग्रह के काल में शब्द का भान नहीं होता। जो अवग्रह का निरूपण करता है वह 'शब्द शब्द' इस प्रकार बोलता है। श्रोता को शब्द का भान अव्यक्त रूप में होता है। अव्यक्त रूप में जो भान है वही अर्थावग्रह है। जिसमें वाच्य वाचक भाव का भान होता है वह अर्थावग्रह नहीं है। यह शब्द है अथवा यह रूप आदि है इस रीति से जिसकी प्रतीति नहीं होती वह अव्यक्त कहा जाता है। "यह शब्द है" इस रीति से यदि प्रतीति हो तो वह अव्यक्त नहीं है। आकार रहित उपयोग के रूप में अर्थावग्रह है। उसका विषय, शब्द के उल्लेख से रहित होने पर ही अव्यक्त हो सकता है शङ्ख और धनुष आदि के शब्दों की अपेक्षा से यदि शब्द के ज्ञान को अव्यक्त कहा जाय तो वह युक्त नहीं। आगम आकार रहित उपयोग को अर्थावग्रह के रूप में कहता है यदि सामान्य से अतिरिक्त शब्द का भान हो तो वह आकार से रहित नहीं है।

मूलम्–यदि च व्यञ्जनावग्रह एवाव्यक्तशब्द-ग्रहणमिष्येत तदा सोऽप्यर्थावग्रहः स्यात्, अर्थ-स्य ग्रहणात्।

अर्थ–यदि व्यंजनावग्रह में ही अव्यक्त शब्द का भान माना जाय तो अर्थ का ज्ञान होने से वह भी अर्थावग्रह हो जायगा।

विवेचना–यदि आप कहते हैं, केवल सामान्य की प्रतीति व्यंजनावग्रह में होती है और अर्थावग्रह में 'यह शब्द है' इस प्रकार की प्रतीति होती है तो व्यंजनावग्रह का स्वरूप

लुप्त हो जायगा। व्यंजनावग्रह में अर्थ की प्रतीति नहीं होती और अर्थावग्रह में सामान्य रूप से अर्थ की प्रतीति होती है यह व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह का भेद है। व्यञ्जनावग्रह में सामान्य रूप से यदि अर्थ का भान हो तो वह अर्थावग्रह हो जायगा। अतः आकार से रहित जो सामान्य का ज्ञान है वही अर्थावग्रह है और उसमें शब्द का उल्लेख नहीं है।

[इस विषय में कुछ लोगों के मत का प्रत्याख्यान]

मूलम्–केचित्तु–'सङ्केतादिविकल्पविकलस्य जातमात्रस्य बालस्य सामान्यग्रहणम्, परिचितविषयस्य त्वाद्यसमय एव विशेषज्ञानमित्येतदपेक्षया 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति नानुपपन्नम्' इत्याहुः,

अर्थ-कुछ लोग कहते हैं, जो संकेत आदि विकल्पों से रहित है इस प्रकार का, तत्काल उत्पन्न बालक केवल सामान्य को जानता है। परन्तु जो विषयों से परिचित है उसको प्रथम समय में ही विशेष का ज्ञान होता है। नन्दी सूत्र में "उसने शब्द का अवग्रह किया" इस प्रकार का कथन इस अपेक्षा से है। अतः यह कथन अयुक्त नहीं।

विवेचना-कुछ लोग अर्थावग्रह में विशेष की प्रतीति को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार समस्त विशेषों से रहित सामान्य का ज्ञान जात मात्र बालक को होता है। उसका अर्थावग्रह शब्द के उल्लेख से रहित है। जो मनुष्य

संकेत को जानता है और विषयों से परिचित है उसको जब शब्द का श्रवण होता है, तभी विशेष का ज्ञान होता है इस अपेक्षा से नन्दीसूत्र अर्थावग्रह में शब्द की प्रतीति को कहता है। इस मत में अर्थावग्रह पुरुष भेद से दो प्रकार का है तत्काल उत्पन्न बालक का अव्यक्त ज्ञानरूप है और विषयों से परिचित मनुष्य का विशेष ज्ञानरूप है।

मूलम्–तन्न; एवं हि व्यक्ततरस्य व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि सुबहुविशेषग्रहप्रसङ्गात् न चेष्टापत्तिः; 'न पुनर्जानाति क एष शब्दः' इति सूत्रावयवस्याविशेषेणोक्तत्वात्, प्रकृष्टमतेरपि शब्दं धर्मिणमगृहीत्वोत्तरोत्तरसुबहुधर्मग्रहणानुपपत्तेश्च ।

अर्थ–यह मत युक्त नहीं। इस रीति से तो विशेष ज्ञानी को व्यक्त शब्द के ज्ञान से भी आगे बढकर अत्यन्त अधिक विशेषों का ज्ञान होना चाहिये। यदि आप इस आपत्ति को स्वीकार करो तो भी युक्त नहीं। "वह जानता नहीं यह शब्द कौनसा है" सूत्र का यह भाग सामान्य रूप से कहा गया है। उत्कृष्ट बुद्धिवाला भी धर्मी शब्द को जाने बिना उत्तर काल के अनेक धर्मों को नहीं जान सकता।

विवेचना–यदि विशेष ज्ञानी को प्रथम क्षण में "यह शब्द है" इस रीति से निश्चयात्मक ज्ञान हो, तो उसकी

अपेक्षा अधिक विशेष ज्ञानी को विशेष धर्मों का अधिक संख्या में ज्ञान होना चाहिये । यह शंख शब्द है अथवा यह वीणा का शब्द है, इत्यादि रूप से विशेष ज्ञान भी अर्थावग्रह के प्रथम समय में होना चाहिये। लोगों में ज्ञान की न्यूनाधिकता रहती है। सूत्र अर्थावग्रह के भेद को अल्प और अधिक ज्ञान वाले पुरुषों के भेद से नहीं कहता । "वह जानता नहीं यह कौनसा शब्द है" सूत्र का यह भाग समस्त लोगों के लिये है जात मात्र बालक और संकेत आदि के ज्ञाता के लिये समान रूप से है । प्रथम काल में धर्मी का ज्ञान और उत्तर काल में विशेषों का ज्ञान यह सामान्य नियम है । उत्कृष्ट बुद्धिवाला मनुष्य भी धर्मी को बिना जाने अनेक विशेष धर्मो को नहीं जान सकता । अतः यह मत अयुक्त है ।

[इस विषय में अन्यों के मत का प्रत्याख्यान]

मूलम्-अन्ये तु-"आलोचनपूर्वकमर्थावग्रहमाचक्षते, तत्रालोचनमव्यक्तसामान्यग्राहि, अर्थावग्रहस्त्वितरव्यावृत्तवस्तुस्वरूपग्राहीति न सूत्रानुपपत्तिः'-इति;

अर्थ-अन्य लोग कहते हैं-पहले आलोचन होता है पीछे अर्थावग्रह होता हैं । उनमें आलोचन अव्यक्त सामान्य को जानता है और अर्थावग्रह अन्यों से भिन्न वस्तु के स्वरूप को जानता है। इसलिये सूत्र के साथ असंगति नहीं है ।

विवेचना-इस मत के अनुसार समस्त ज्ञाताओं को पहले अव्यक्त सामान्य का ज्ञान होता है। जात मात्र बालक और विशेष ज्ञानी पुरुष के भेद से सामान्य और विशेष ज्ञान में भेद नहीं होता। सामान्य ज्ञान पहले होता है और वस्तु के अन्यों से भिन्न स्वरूप का ज्ञान पीछे होता है। प्रथम काल का ज्ञान आलोचन है और पीछे के कालका ज्ञान अर्थावग्रह हैं। यह मत भी अर्थावग्रह को विशेष का प्रकाशक मानता है और सूत्र को भी इस अर्थका प्रकाशक कहता है।

मूलम्–तदसत्; यत आलोचनं व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं स्यात्, पश्चाद्वा, स एव वा? नाद्यः; अर्थव्यञ्जनसम्बन्धं विना तदयोगात्। न द्वितीयः; व्यञ्जनावग्रहान्त्यसमयेऽर्थावग्रहस्यैवोत्पादादालोचनानवकाशात्। न तृतीयः; व्यञ्जनावग्रहस्यैव नामान्तरकरणात्, तस्य चार्थशून्यत्वेनार्थालोचनानुपपत्तेः।

अर्थ–यह मत युक्त नहीं, इसमें हेतु इस प्रकार है–आप आलोचन को अर्थावग्रह का कारण कहते हो। वह आलोचन व्यञ्जनावग्रह से पूर्वकाल में होता है अथवा उत्तर काल में अथवा व्यञ्जनावग्रह ही आलोचन है? इन तीनों में से प्रथम कल्प नहीं हो सकता, कारण अर्थ और व्यंजन के संबंध से पूर्व आलोचन संभव नहीं है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं। व्यञ्जना-

वग्रह के अन्तिम समय में अर्थावग्रह ही उत्पन्न होता है, इसलिये आलोचन के लिये समय नहीं है। तृतीय-पक्ष भी अयुक्त है। इस पक्ष के अनुसार तो व्यञ्जनावग्रह का दूसरा नाम आलोचन हो जाता है और वह अर्थ से शून्य है इसलिये वह अर्थ का आलोचन नहीं हो सकता।

विवेचना-आलोचन और अर्थावग्रह को स्वीकार करने वाला व्यंजनावग्रह को मानता है। इस कारण आलोचन के विषय में जिज्ञासा होती है, वह आलोचन व्यञ्जनावग्रह से भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो व्यंजनावग्रह से पूर्वकाल में होता है अथवा उत्तर काल में ? अर्थ ज्ञान के लिये शब्द आदि रूप अर्थ के साथ कान आदि इन्द्रियों का संबंध आवश्यक है यह संबंध व्यञ्जनावग्रह से पूर्व काल में नहीं हो सकता इस कारण आलोचन ज्ञान की उत्पत्ति पूर्व काल में नहीं हो सकती। इन्द्रिय और अर्थ का संबंध कारण है और आलोचन कार्य है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि व्यञ्जनावग्रह के उत्तर काल में आलोचन हो तो प्रथम व्यञ्जनावग्रह फिर आलोचन और उसके पीछे अर्थावग्रह यह क्रम होगा। परन्तु व्यञ्जनावग्रह के अन्तिम काल में अर्थावग्रह ही उत्पन्न होता है, इन दोनों के मध्य में इस प्रकार का कोई काल नहीं जिसमें आलोचन नामक ज्ञान की उत्पत्ति हो सके। तृतीय पक्ष के अनुसार व्यञ्जनावग्रह का नाम आलोचन हो जाता है। परन्तु व्यञ्जनावग्रह अर्थ से शून्य है इसलिये वह अर्थ का आलोचन

रूप नहीं हो सकता। व्यञ्जन रूप इन्द्रिय का शब्द आदि रूप अर्थ के साथ संबंध ही व्यञ्जनावग्रह है और संबंध आलोचनात्मक नहीं है।

मूलम्—किञ्च, आलोचनेनेहां विना झटित्येवार्थावग्रहः कथं जन्यताम्? युगपच्चेहावग्रहौ पृथगसङ्ख्येयसमयमानौ कथं घटेताम्? इति विचारणीयम्।

अर्थ—अन्य आपत्ति भी है। ईहा के बिना आलोचन तुरन्त ही अर्थावग्रह को किस प्रकार उत्पन्न करेगा? यदि कहो ईहा और अवग्रह एक काल में होते हैं तो वह भी युक्त नहीं है। ईहा और अवग्रह में से प्रत्येक का काल भिन्न है। ईहा का काल असंख्येय समय का है और अर्थावग्रह का काल एक समय का है इसलिए वे दोनों एक काल में किस प्रकार हो सकेंगे? यह विचारना चाहिये।

विवेचना—आपके मत के अनुसार "यह शब्द है" इस प्रकार का निश्चय अर्थावग्रह है। ईहा बिना निश्चय नहीं हो सकता, इसलिये व्यञ्जनावग्रह रूप आलोचन अनन्तर क्षण में ही निश्चय की उत्पत्ति नहीं कर सकता। इस आपत्ति को दूर करने के लिये यदि आप ईहा और अवग्रह को एक काल में उत्पन्न मानें तो वह युक्त नहीं है। आपके मत में अर्थावग्रह निश्चय रूप है और ईहा अनिश्चय रूप है। अनिश्चय और निश्चय स्वभाव वाले एक काल में नहीं उत्पन्न हो सकते। परस्पर

विरोधी अर्थ अन्धकार और प्रकाश के समान भिन्न काल में रहते हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों के काल के परिमाण में भी भेद है। अर्थावग्रह का काल एक समय का है और ईहा का काल असंख्येय समय का है। इस दशा में दोनों की सत्ता एक समय में असंभव है।

मूलम्–नन्ववग्रहेऽपि क्षिप्रेतरादिभेदप्रदर्शनादसङ्ख्यसमयमानत्वम्, विशेषविषयत्वं च विरुद्धमिति चेत्, नः तत्त्वतस्तेषामपायभेदत्वात्, कारणे कार्योपचारमाश्रित्यावग्रहभेदत्वप्रतिपादनात्, अविशेषविषये विशेषविषयत्वस्यावास्तवत्वात्।

अर्थ–शंका करते हैं–अवग्रह में भी क्षिप्र और अक्षिप्र आदि भेदों का प्रकाशन है, इसलिये अवग्रह का काल भी असंख्येय समय का है और उसका विषय विशेष भी है इसमें कोई विरोध नहीं है। उत्तर में कहते हैं–क्षिप्र और अक्षिप्र आदि भेद वास्तव में अपाय के हैं। कारण में कार्य का उपचार करके अवग्रह के भेद रूप में प्रतिपादन है। विशेष से रहित अवग्रह में विशेष का भान सत्य रूप में नहीं हो सकता।

विवेचना-शीघ्र अवग्रह करता है चिरकाल में अवग्रह करता है बहु अवग्रह करता है, अल्प अवग्रह इत्यादि रूप से अवग्रह के बारह भेदों का प्रकाशन किया जाता है। इससे प्रतीत होता है–अर्थावग्रह का काल जिस प्रकार एक समय

का है इस प्रकार चिरकाल का भी है। यदि अर्थावग्रह का काल केवल एक समय का हो तो चिर काल का अर्थावग्रह नहीं होना चाहिए। परन्तु शास्त्र चिरकाल वाले अर्थावग्रह को भी कहता है इसलिये अर्थावग्रह के समय का परिमाण असंख्येय भी हो सकता है।

इसी प्रकार वीणा शंख आदि के शब्द जब हो रहे हैं तब कोई समस्त प्रकार के शब्दों के समूह को जानता है। कोई पुरुष यह शंख का शब्द है, यह वीणा का शब्द है, इस रीति से अनेक भिन्न शब्दों को जानता है। कोई मनुष्य यह मधुर शब्द है, यह कर्कश है यह तीव्र है, और यह मन्द है, इस रीति से शब्दों को अनेक धर्मों के साथ जानता है। कोई मनुष्य इस प्रकार के अनेक धर्मों के बिना शब्द का अवग्रह करता है। अवग्रह के इन भेदों से प्रतीत होता है, किसी काल में अवग्रह से सामान्य का ग्रहण होता है और किसी काल में अवग्रह से विशेषों का भी ग्रहण होता है। इसलिये अवग्रह में सामान्य और विशेष दोनों का ग्रहण काल भेद से हो सकता है इसमें विरोध नहीं है।

"यह शब्द है इस रीति से अवग्रह करता है" नन्दी सूत्र के इस वाक्य के अनुसार भी शब्द रूप विशेष के ज्ञान का प्रतिपादन है, सहज भाव से अर्थ करने पर यह वस्तु स्पष्ट हो जाती है। इस के अनुसार भी अर्थावग्रह और विशेष ज्ञान में विरोध नहीं सिद्ध होता।

इसके उत्तर में कहते हैं-जो ज्ञान अनेक अथवा अनेक प्रकार के शब्दों का प्रकाशक है वह विशेष का प्रकाशक होने के कारण निश्चय रूप है। सामान्य अर्थ के ज्ञानरूप अर्थावग्रह और ईहा के बिना निश्चय नहीं हो सकता इसी लिये निश्चय अर्थावग्रह नहीं है। अनेक और अनेक प्रकार के

शब्दों का ज्ञापक बोध वास्तव में अपाय है। नन्दी सूत्र में अवग्रह को जो विशेषों का प्रकाशक कहा गया है वह उपचार से कहा गया है। कारण में कार्य उत्पन्न करने की योग्यता है इसलिये योग्यता द्वारा कारण में कार्य है। अवग्रह कारण है और अपाय कार्य है, योग्यता की अपेक्षा से अवग्रह में अपाय का स्वरूप है, इस कारण अवग्रह को बहु और बहुविध अर्थों का बोधक कहा गया है। अर्थावग्रह का विषय सामान्य है विशेष नहीं, इसलिये विशेष को अवग्रह के विषयरूप में कहना युक्त नहीं है।

[निश्चय और व्यवहार के द्वारा अवग्रह के दो भेद]

मूलम्–अथवा अवग्रहो द्विविधः नैश्चयिकः, व्यावहारिकश्च। आद्यः सामान्यमात्रग्राही, द्वितीयश्च विशेषविषयः तदुत्तरमुत्तरोत्तरधर्माकाङ्क्षारूपेहाप्रवृत्तेः अन्यथा अवग्रहं विनेहानुत्पादप्रसङ्गात् अत्रैव क्षिप्रेतरादिभेदसङ्गतिः, अत एव चोपयुक्तपरिज्ञानप्रवृत्तिरूपसन्तानव्यवहार इति द्रष्टव्यम्।

अर्थ–अथवा अवग्रह के दो भेद हैं नैश्चयिक और व्यावहारिक। प्रथम केवल सामान्य को जानता है और दूसरे का विषय विशेष है, कारण उसके पीछे उत्तरोत्तर धर्मों के जानने की इच्छारूप ईहा की उत्पत्ति होती है। अवग्रह बिना ईहा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी अवग्रह में क्षिप्र और अक्षिप्र आदि भेदों की

संगति है। इसी कारण पीछे पीछे के काल में ज्ञान संतति रूप व्यवहार होता है। धारावाही रूप ज्ञानों की प्रवृत्ति ही ज्ञान सन्तान है।

विवेचना–निश्चय से जो अर्थावग्रह प्रथम काल में होता है उसमें शब्द आदि वस्तु का ज्ञान अव्यक्त सामान्य रूप से होता है। उसमें शब्द का स्वरूप रूप आदि से भिन्न नहीं प्रतीत होता। पीछे उसमें ईहा होती है। जो ज्ञान मुझे हुआ है वह कान से हुआ है इसलिये प्रायः वह शब्द होना चाहिये, इस ईहा के अनन्तर यह शब्द ही इस प्रकार का निश्चय रूप अपाय होता है। उसके अनन्तर काल में यह शब्द शंख का है अथवा धनुष का है इत्यादि रूप से शब्द के अवान्तर भेद के विषय में ईहा होती है उसके उत्तर काल में यह शंख का ही शब्द है इत्यादि रूप से अपाय होता है। इस ईहा और अपाय की अपेक्षा से यह शब्द ही है इस प्रकार का निश्चय अर्थावग्रह रूप में कहा गया है। अपाय में अर्थावग्रह का व्यवहार उपचार से है। शंख शब्द अथवा वीणा शब्द के रूप में ज्ञान भावी है इसकी अपेक्षा पूर्ववर्त्ती यह शब्द है इस प्रकार का ज्ञान शब्द रूप सामान्य के विषय में है इसी रीति से उत्तरोत्तर काल के विशेषों की अपेक्षा से पूर्व पूर्व काल का विशेष सामान्य होता है। जिसके अनन्तर ईहा और अपाय हों और जो सामान्य का प्रकाशक हो वह अर्थावग्रह है। रूप आदि से भिन्न रूप में बिना जाने शब्द का अव्यक्त रूप से ज्ञान नैश्चयिक अर्थावग्रह है। उसके पीछे ईहा और अपाय की प्रवृत्ति होती है। इस रीति से नैश्चयिक अर्थावग्रह की अपेक्षा यह शब्द ही है इत्यादि निश्चय अपाय है। शब्द

का निश्चय रूप यह प्रथम अपाय उत्तरवर्ती "यह शब्द शङ्ख का ही है" इत्यादि अपाय की अपेक्षा से सामान्य का प्रकाशक है। भावी काल की अन्य ईहा और अन्य अपाय की अपेक्षा से यह शब्द शङ्ख का ही है इस प्रकार का विशेष ज्ञान भी सामान्य ज्ञान कहलाता है। इस रीति से सामान्य और विशेष का व्यवहार अपेक्षा से वस्तु के अंतिम विशेष तक चलता है। जिस विशेष के अनंतर वस्तु के अन्य विशेष न हों वह अन्तिम विशेष है। अथवा अन्य विशेष के होने पर भी जिस विशेष के अनन्तर ज्ञाता की जिज्ञासा दूर हो जाती है वह अन्तिम है। व्यावहारिक अर्थावग्रह ईहा और अपाय के लिये अन्तिम विशेष तक सामान्य और विशेष की अपेक्षा चलती है क्षिप्र और अक्षिप्र आदि भेद व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही है।

उत्तर-उत्तर काल के ज्ञानों की जो प्रवृत्ति है वह ज्ञान-सन्तान कही जाती है। इस ज्ञान संतान के कारण सामान्य विशेष का व्यवहार व्यवहारिक अवग्रह में उत्पन्न होता है। यदि व्यावहारिक अवग्रह स्वीकार न किया जाय तो प्रथम अपाय के अनन्तर ईहा न हो, और उसके अनन्तर उत्तरवर्त्ती विशेषों का ज्ञान न हो। इस दशा में प्रथम अपाय से जो अर्थ निश्चित है वह विशेष ही होगा, सामान्य नहीं। इस कारण अपेक्षा मूलक सामान्य विशेष व्यवहार असंभव हो जायगा। अन्तिम विशेष तक सामान्य विशेष के व्यवहार के लिये व्यावहारिक अर्थावग्रह आवश्यक है।

ध्यान रहे, निश्चय से जो अर्थावग्रह है उसका विषय अव्यक्त सामान्य है। वह किसी अपेक्षा से विशेष नहीं है उसकी अपेक्षा पूर्व काल में यदि सामान्य ज्ञान हो तो वह विशेष हो सकता है। पर इस प्रकार नहीं होता अतः वह

सामान्य रूप ही है। जिस अपाय के अनन्तर उत्तरवर्ती धर्म को जानने के लिये ईहा होती है और उसके अनन्तर फिर अपाय होता है वह प्रथम अपाय व्यावहारिक अवग्रह है। जिस अपाय के पीछे ईहा और अपाय नहीं होते वह अपाय व्यावहारिक अवग्रह नहीं कहा जा सकता वह केवल अपाय है।

[ईहा का स्वरूप]

मूलम्-अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणम्-ईहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तो बोध इति यावत्, यथा-'श्रोत्रग्राह्यत्वादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यम्' 'मधुरत्वादिधर्मयुक्तत्वात् शाङ्खादिना' वा इति।

अर्थ-अवग्रह से जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है उसके विशेष के जानने की इच्छा 'ईहा' है। अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान व्यतिरेक धर्म का निषेध करता है और अन्वय धर्मका संबंध करता है वह ईहा है। जैसे-कान से ज्ञान हुआ है इस लिये यह अर्थ 'शब्द' होना चाहिये। अथवा मधुरता आदि धर्मों से युक्त है इस लिये यह शब्द शङ्ख का होना चाहिये।

विवेचना-श्रोत्र से केवल शब्द की ही प्रतीति होती है। रूप रस आदि का ज्ञान श्रोत्र से नहीं होता। श्रोत्रग्राह्यत्व रूप असाधारण धर्म के कारण यह रूप रस आदि नहीं है इस प्रकार रूपत्व रसत्व आदि व्यतिरेक धर्मों का निषेध होता

है और शब्दत्वरूप अन्वय धर्म का संबंध होना है। नैश्चयिक अवग्रह सामान्य मात्र का प्रकाशक है। उसके अनन्तर उक्त रीति से ईहा होती है।

"यह शब्द है" इस रीति से विशेष का प्रकाशक बोध व्यावहारिक अवग्रह है। उसके उत्तर काल में इस शब्द में मधुरता आदि की प्रतीति होती है। मधुरता आदि शङ्ख आदि से उत्पन्न शब्द का असाधारण धर्म है। वह शृङ्ग आदि से उत्पन्न शब्द में नहीं है। इस असाधारण धर्म के द्वारा अशांखत्व रूप व्यतिरेक धम का निषेध और शांखत्व रूप अन्वय धर्म का संबंध होता है। मधुरता आदि के कारण यह शब्द शंख का होना चाहिये इस प्रकार का बोध व्यावहारिक अवग्रह के पीछे होता है। इस रीति से दोनों ईहाओं में भेद है।

मूलम्–न चेयं संशय एव; तस्यैकत्र धर्मिणि विरुद्धनानार्थज्ञानरूपत्वात्, अस्याश्च निश्चयाभिमुखत्वेन विलक्षणत्वात्।

अर्थ–यह ईहा संशय ही नहीं है। एकधर्मी में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का ज्ञान संशय है। ईहा निश्चय की दशा में जाती है-इसलिये संशय से भिन्न है।

विवेचना–संशय भाव रूप और अभाव रूप धर्मों में समानरूप से प्रवृत्ति करता है। यह स्थाणु है अथवा पुरुष इस प्रकार का ज्ञान संशय है। इस ज्ञान में एक कोटि स्थाणुभाव की है और दूसरी कोटि अस्थाणुभाव की है। दोनों कोटियों में समान बल है, कोई एक कोटि प्रबल नहीं है। ईहा अभावरूप धर्म का निषेध करती है और भावरूप

धर्म का संबंध करती है। इस लिये निश्चयरूप न होने पर भी निश्चय की दिशा में बढती है, अतः ईहा संशय से भिन्न है।

[अपाय का स्वरूप]

मूलम्–ईहितस्य विशेषनिर्णयोऽवायः, यथा–'शब्द एवायम्,' 'शाङ्ग एवायम्' इति वा।

अर्थ–ईहा से जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है उसके विशेष का निश्चय अपाय है। जैसे–यह शब्द ही है अथवा यह शङ्ग का ही शब्द है।

[धारणा का स्वरूप]

मूलम्–स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। सा च त्रिविधा-अविच्युतिः, स्मृतिः, वासना च। तत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिः अविच्युतिः। तस्यैवार्थोपयोगस्य कालान्तरे 'तदेव' इत्युल्लेखेन समुन्मीलनं स्मृतिः। अपायाहितः स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना।

अर्थ–अत्यन्त दृढ अवस्था को प्राप्त वही अपाय धारणा कहा जाता है। वह धारणा तीन प्रकार की है–अविच्युति, स्मृति और वासना। उनमें किसी एक पदार्थ के विषय में निरन्तर रहने वाला उपयोग अविच्युति है। अर्थ के विषय में उसी उपयोग का

कालान्तर में 'वह' इस आकार से प्रकाशन स्मृति है। अपाय से उत्पन्न स्मृति का कारण संस्कार वासना है।

विवेचना–निश्चय होने के अनन्तर कुछ काल तक निश्चित अर्थ के विषय में उपयोग निरन्तर चलता रहता है। यह निरन्तर स्थिति धारणा का अविच्युति नामक प्रथम भेद है। कुछ काल के अनन्तर जब अन्य विषयों का ज्ञान होता है तब निश्चित अर्थ के विषय में पूर्व काल की अविच्युति नष्ट हो जाती है। परंतु उस धारणा से संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के कारण उत्तर काल में "वह अर्थ" इस रीति से ज्ञान प्रकट होता है। यही ज्ञान स्मृति है। अपाय अविच्युति के रूप में कुछ काल तक रहकर जब नष्ट हो जाता है तब नाश से पहले संस्कार को उत्पन्न करता है। ज्ञान का सूक्ष्म रूप संस्कार है। संस्कार ही कालान्तर में स्मृति को प्रकट करता है। स्मृति कार्य है और उसका कारण अविच्युति चिरकाल से नष्ट हो चुकी है। नष्ट कारण कार्य को नहीं उत्पन्न कर सकता इसलिये अनुमान होता है अविच्युति का सर्वथा विनाश नहीं होता। वह जिस संस्कार को उत्पन्न करती है वह संस्कार चिरकाल तक रहता है। स्मृति की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में संस्कार है अतः यह स्मृति होती है।

मूलम्-द्वयोरवग्रहयोरवग्रहत्वेन च तिसृणां धारणानां धारणात्वेनोपग्रहान्न विभागव्याघातः।

अर्थ–व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह का सामान्य अवग्रह में और तीन धारणाओं का सामान्य धारणा

में संग्रह होता है, इस लिये मति ज्ञान का पहले जो विभाग कहा गया है उस का विरोध नहीं है।

विवेचना-अवग्रह आदि के रूप में मति ज्ञान के चार भेदों का प्रतिपादन पहले हो गया है। अब जिन भेदों का प्रतिपादन हुआ है उनके अनुसार व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह ईहा, अपाय, अविच्युति, स्मृति और वासना के भेद से सात प्रकार का विभाग होता है। यहाँ जो परस्पर विरोध होता है वहाँ वास्तव में विरोध नहीं है। व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह अवग्रह रूप में एक हैं। अविच्युति स्मृति और वासना ये तीन धारणा रूप में एक हैं।

मूलम्-केचित्तु-अपनयनमपायः, धरणं च धारणेति व्युत्पत्त्यर्थमात्रानुसारिणः-"असद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणमपायः, सद्भूतार्थविशेषावधारणं च धारणा" इत्याहुः;

अर्थ-कुछ लोग व्युत्पत्ति से जो अर्थ प्रतीत होता उसके अनुसार निषेध को अपाय और धारणा को धारणा कहते हैं। अपनयनम्=अपायः, धरणं=धारणा, यह व्युत्पत्ति है। वस्तु में जो धर्म नहीं है उनके अभाव का निश्चय अपाय है। सामने जो अर्थ विद्यमान है उसका निश्चय धारणा है।

विवेचना-सामने जो स्थाणु हो तो वहाँ पुरुष नहीं है। शिर और हाथ आदि का हिलना पुरुष का विशेष धर्म है। इन विशेष धर्मों के अभाव का निश्चय अपाय है। व्युत्पत्ति के

द्वारा अभाव का निश्चय ही अपाय रूप में प्रतीत होता है। जो पदार्थ विद्यमान है उसके धर्म का अवधारण धारणा है। ऊपर की दिशा में लताकी गति और पक्षियों का संबंध आदि वृक्षों के विशेष धर्म हैं। इन धर्मों का अवधारण धारणा है। इस मत के अनुसार "यह पुरुष नहीं है" इस प्रकार का ज्ञान अपाय है। "यह स्थाणु ही है" इस प्रकार का निणय धारणा है।

मूलम्–तन्न; क्वचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्शात्, क्वचिदन्वयधर्मसमनुगमात्, क्वचिच्चोभाभ्यामपि भवतोऽपायस्य निश्चयैकरूपेण भेदाभावात्, अन्यथा स्मृत्यधिक्येन मतेः पञ्चभेदत्वप्रसङ्गात्।

अर्थ–किसी स्थान में जो धर्म विद्यमान हैं उनसे भिन्न धर्मों के अभाव का प्रतिपादन करने से और किसी स्थान में जो विद्यमान हैं उनके अनुगम का निरूपण करने से और किसी स्थान में दोनों प्रकार के धर्मों के द्वारा अर्थ का निश्चय होता है। समस्त स्थानों में निश्चय का स्वरूप एक ही है उसमें भेद नहीं। यदि इस प्रकार न माना जाय तो स्मृति की अधिकता के कारण मतिज्ञान के पाँच भेद हो जायेंगे।

विवेचना–यहां पुरुष के धर्म नहीं दिखाई देते इसलिए यह स्थाणु ही है और स्थाणु के धर्म दिखाई देते हैं इसलिए स्थाणु ही है इन दो प्रकारों से उत्पन्न निश्चय के स्वरूप

में कोई भेद नहीं है। केवल व्यतिरेक से अथवा केवल अन्वय से अथवा अन्वय और व्यतिरेक दोनों से उत्पन्न निश्चय का स्वरूप एक ही है। उसके स्वरूप में भेद की प्रतीति नहीं होती। अभाव के द्वारा अवधारण अपाय है और भाव के द्वारा अवधारण धारणा है इस रीति से यदि अपाय का भेद हो तो मतिज्ञान के पाँच भेद होने चाहियें। अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा ये चार भेद आपके अनुसार हैं ही। यह स्थाणु है इस प्रकार के निश्चय की निरंतर स्थिति अविच्युति है। जो स्थित रहता है वह अपाय है इसलिए अविच्युति का अन्तर्भाव हो सकेगा। वासना अर्थात् संस्कार स्मृति का कारण है इसलिए उसका अन्तर्भाव स्मृति में कहा जा सकेगा, परन्तु स्मृति का अन्तर्भाव आपके अभिमत अपाय अथवा धारणा में नहीं हो सकेगा। यह स्थाणु है इस प्रकार का स्वरूप आपके मत के अनुसार अपाय और धारणा दोनों का है परन्तु स्मृति का स्वरूप 'यह' इस आकार में है। यह और वह के आकारों में भेद स्पष्ट है। इस रीति से स्मृति का अन्तर्भाव न होने के कारण मतिज्ञान के पांच भेदों के होने की आपत्ति हो जायगी।

मूलम्–अथ नास्त्येव भवदभिमता धारणेति भेदचतुष्टया (य) व्याघातः, तथाहि उपयोगोपरमे का नाम धारणा ? उपयोगसातत्यलक्षणा अविच्युतिश्चापायान्नातिरिच्यते। या च घटाद्युपयोगोपरमे सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वासनाऽभ्युपगम्यते, या च 'तदेव' इति लक्षणा स्मृतिः सा मत्यज्ञरूपा धारणा न भवति मत्युपयोग-

स्य प्रागेवोपरतत्वात्, कालान्तरे जायमानोपयोगेऽप्यन्वयमुख्यां धारणायां स्मृत्यन्तर्भावादिति चेत्;

अर्थ—शंका=आप जिस धारणा को मानते हो उसकी सत्ता ही नहीं है इसलिए मतिज्ञान के चार भेदों के साथ विरोध नहीं है। वह इस रीतिसे—उपयोग का नाश हो जाने पर धारणा किस प्रकार हो सकती है? घट आदि का उपयोग समाप्त हो जाने के अनन्तर संख्येय अथवा असंख्येय काल तक जो वासना मानी जाती है और 'वह ही' इस आकार वाली जो स्मृति होती है वह मति का अंश रूप धारणा नहीं हो सकती। कारण, मति का उपयोग पहले ही समाप्त हो चुका है। कालान्तर में फिर जो उपयोग होता है उसमें अन्वयी धर्मों के द्वारा अर्थ का जो निश्चय होता है वह मेरे मत के अनुसार धारणा है। उसमें स्मृति का अन्तर्भाव होता है। इसलिए मेरे मत में ही चार भेद हो सकते हैं। आपके मत के अनुसार चार भेद उपपन्न नहीं होते।

विवेचना—व्यतिरेकी धर्म के द्वारा निश्चय अपाय है और अन्वयी धर्म के द्वारा निश्चय धारणा है। मेरे मत के अनुसार अपाय और धारणा का यह भेद है। इसी रीति से मति ज्ञान के अवग्रह आदि चार भेद हो सकते हैं। अन्वय और व्यतिरेक से युक्त दोनों प्रकार के धर्मों के द्वारा जो

अवधारणात्मक ज्ञान होता है वह निश्चय रूप है इस प्रकार जो स्वीकार किया जाय तो अवग्रह, ईहा, और अपाय ये तीन भेद ही हो सकते हैं। उस दशा में धारणा नामक चतुर्थ भेद नहीं हो सकता। आप अपाय के पीछे तीन प्रकार की धारणा को स्वीकार करते हो। उनमें निरन्तर उपयोग रूप जिस अविच्युति को धारणा कहते हो वह अपाय से भिन्न नहीं है। अपाय निश्चय रूप है, वह यदि बार बार हो तो इस कारण उसके स्वरूप में किसी प्रकार का भेद नहीं आ सकता। काल के भेद से एक ही निश्चय अनेक बार होता है। काल का भेद वस्तु के स्वरूप में भेद को नहीं उत्पन्न करता। इस लिए अविच्युति का अपाय में अन्तर्भाव है।

अपाय से संस्कार उत्पन्न होता है वह अपाय के नष्ट हो जाने पर भी चिर काल तक रहता है। इसी संस्कार को आप वासना नामक धारणा कहते हो। परन्तु यह वासना मतिज्ञान का अंश रूप नहीं हो सकती। मति ज्ञान अनुभवात्मक है पर वासना अनुभव रूप नहीं। जिस काल में मतिज्ञान विद्यमान नहीं है उस काल में भी वासना विद्यमान है। जो वर्तमान है वह अतीत वस्तु का अंश नहीं हो सकता। वासना अपने स्वरूप को चिर काल तक धारण करती है इस लिए यह धारणा नामसे कही जा सकती है, परन्तु उसका संबंध मतिज्ञान के साथ नहीं हो सकता। इस कारण वासना मति का भेद नहीं।

अपाय से संस्कार और संस्कार से कालान्तर में स्मृति होती है यह स्मृति जब मति का नाश होता है उसके अनन्तर बहुत काल के बीत जाने पर भी उत्पन्न होती है इस लिए वह भी मति का अंश नहीं हो सकती। स्मृति उपयोग रूप है अपाय

भी उपयोग रूप है, परन्तु इतने से स्मृति अपाय का अंश नहा सिद्ध होती। एक वस्तु का सर्वथा नाश हो जाने पर जिस वस्तु का अनुभव होता है वह वस्तु नष्ट वस्तु का अंश नहीं। वह नष्ट वस्तु के समान हो सकती है परन्तु नष्ट वस्तु के साथ उसका अंश-अंशी भाव नहीं है। मेरे मत के अनुसार इस स्मृति में अन्वय धर्मों के द्वारा वस्तु का निश्चय होता है, इसलिए वह धारणा कही जा सकती है इसलिए मेरे मत में ही अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा ये चार भेद हो सकते हैं। पर आपके मत के अनुसार अन्वय धर्मों के द्वारा वस्तु का जो अवधारण है वह भी अपाय रूप है। इसलिए स्मृति भी अपायरूप हो जायगी। अविच्युति और स्मृति अपाय रूप हैं वासना मति का अंश रूप नहीं। इस रीति से आपके पक्ष में अवग्रह ईहा और अपाय ये तीन भेद ही हो सकेंगे।

मूलम्--नः; अपायप्रवृत्त्यनन्तरं क्वचिदन्तर्मुहूर्त्तं यावदपायधाराप्रवृत्तिदर्शनात् अविच्युतेः, पूर्वापरदर्शनानुसन्धानस्य 'तदेवेदम्' इति स्मृत्याख्यस्य प्राच्यापायपरिणामस्य, तदाधायकसंस्कारलक्षणाया वासनायाश्च अपायाभ्यधिकत्वात्।

अर्थ—आपका पक्ष युक्त नहीं। अपाय ज्ञान की प्रवृत्ति के अनन्तर किसी किसी काल में अंतर्मुहूर्त काल तक अपाय की धारा चलती है इसलिए अविच्युति और पूर्वकाल तथा वर्तमानकाल के ज्ञान का संयोजन रूप

"यह वही है" इस आकारवाला परिणाम पूर्व काल के अपाय का स्मृति नामक होता है। स्मृति को उत्पन्न करने वाला संस्कार वासना कहा जाता है। अतः अपाय से ये तीनों भिन्न हैं।

विवेचना-अविच्युति. वासना और स्मृति का कारण अपाय है। कारण और कार्य में भेद और अभेद होता है। कार्यों की जो परम्परा चलती है उसमें किसी कार्य का स्वरूप इस प्रकार का होता है, जिसमें कार्य और कारण के अन्तर की मात्रा अत्यन्त अल्प होती है। किसी काल का स्वरूप अति भिन्न रूप में प्रतीत होता है। न्यून और अधिक भेद के होने पर भी कार्यों में कारण की अनुगत प्रतीति रहती है। प्रथम काल का जो अपाय है उसका परिणाम उत्तरकाल का अपाय है। पूर्व काल के अपायों की अपेक्षा उत्तर काल के अपाय दृढतर और दृढतम होते जाते हैं। बीज से जो अंकुर उत्पन्न होता है वही वर्षों पीछे विशाल वृक्ष के रूप में परिणत होता है। अंकुर और वृक्ष में जिस प्रकार भेद है इस प्रकार अपाय और अविच्युति में भेद है। अंकुर पुष्प फल आदि को नहीं उत्पन्न करता परन्तु वृक्ष उत्पन्न करता है। प्रथम समय का अपाय संस्कार और स्मृति के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है परन्तु जब अपाय निरंतर स्थिर रहकर दृढ हो जाता है तब संस्कार और स्मृति को उत्पन्न कर सकता है। अपाय की धारा रूप अविच्युति अपाय के क्षणिक आकार से भिन्न है और धारणा कही जाती है।

जिस काल में अपाय होता है उसी काल की वस्तु का स्वरूप अपाय में प्रकाशित होता है। 'वही यह वस्तु है' इस

आकार में जब स्मृति होती है तब अतीत और वर्तमान-काल में वस्तु का जो स्वरूप है उसकी प्रतीति होती है। अतीत और वर्तमानकाल का संबंध अपाय में नहीं प्रतीत होता इसलिए स्मृति अपाय से भिन्न है। अपाय ही कालांतर में स्मृति रूप को धारण करता है इसलिये स्मृति मतिज्ञान रूप है। परिणामी कारण कालान्तर में भिन्न आकार धारण करता है परन्तु कार्य में वह अनुगत रहता है। दही मक्खन और घी के रूप में दूध हो जाता है। मक्खन के आकार में दूध के आकार से भेद है। मक्खन की अपेक्षा घी के आकार में अधिक भेद है। न्यून और अधिक भेद के होने पर भी दूध मक्खन में जिस प्रकार अनुगत है इस प्रकार घी में भी अनुगत है। रूपान्तर के होने पर भी दूध मक्खन और घी में जिस प्रकार भेद और अभेद है इस प्रकार अपाय स्मृति और सस्कार में भेद और अभेद हैं। स्मृति संस्कार के बिना नहीं उत्पन्न हो सकती इसलिए संस्कार आवश्यक है। अपाय का स्वरूप संस्कार में बहुत अव्यक्त है। यदि सन्कार में उपयोग रूप का सर्वथा अभाव हो तो चिर काल के अनन्तर उत्पन्न स्मृति में उपयोगमय रूप की प्रतीति न होनी चाहिये। परन्तु होती है इसलिए संस्कार भी मतिज्ञानात्मक है। इस रीति से अभेद होने पर भी तीन प्रकार की धारणा अपाय से भिन्न है।

मूलम्-नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्नप्रमाणम्, संस्कारश्च किं स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा, तज्ज्ञानजनन-शक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो वेति त्रया गतिः ? तत्र-आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्, ज्ञानरूपत्वाभावात्

तद्भेदानां चेह विचार्यत्वात् । तृतीयपक्षोऽप्य-युक्त एव; सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वास-नाया इष्टत्वात्, एतावन्तं च कालं वस्तुविक-ल्पायोगादिति न कापि धारणा घटत इति चेत्;

अर्थ--शंका-अविच्युति और स्मृति ये दोनों ज्ञान गृहीत-ग्राही हैं। पहले जिस अर्थ का ज्ञान हुआ था उसीको ये दोनों ज्ञान फिर से जानते हैं इसलिए प्रमाण नहीं हैं और जो संस्कार है उसका स्वरूप क्या है ? स्मृति ज्ञानावरण का क्षयोपशम रूप है ? अथवा स्मृति ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति रूप है ? अथवा उस वस्तु के विषय में विकल्प ज्ञानरूप है ? ये तीन प्रकार हो सकते हैं। इन तीन में से पहले के दो पक्ष युक्त नहीं हैं। क्षयोपशम और शक्ति दोनों ज्ञान रूप नहीं। यहाँ ज्ञान के भेदों का विचार है। अज्ञानात्मक वस्तु ज्ञान का भेद नहीं हो सकती। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं। संख्येय अथवा असंख्येय काल तक संस्कार की स्थिति है परन्तु वस्तु के विषय में विकल्प रूप ज्ञान इतने काल तक स्थिर नहीं रह सकता। इस रीति से आप जिन धारणाओं को कहते हो उनमें से कोई एक भी युक्ति से सिद्ध नहीं होती।

विवेचना—मतिज्ञान प्रमाण है। अज्ञात अर्थ को यथार्थ रूप में जो जानता है वह प्रमाण कहा जाता है। अवग्रह और ईहा ये दो ज्ञान अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करते हैं परंतु अविच्युति और स्मृति ये दो ज्ञान जिस अर्थ का ज्ञान पहले हो चुका है उसीको प्रकाशित करते हैं। इन दो में से जो अविच्युति हैं वह पहले हो चुके अपाय का ही बार-बार आवर्तन है। आवर्तन से वस्तु का स्वरूप भिन्न नहीं होता प्रत्युत वही स्वरूप दृढ हो जाता है। अतः पहली बार का अपाय जिस वस्तु को जानता है उसीको ही दूसरी बार का अपाय जानता है। इसी रीति से तीसरी और चौथी आदि बारों के अपाय भी पहले जाने हुए अर्थ को ही जानते हैं, इसलिये गृहीत-ग्राही होने के कारण अविच्युति प्रमाण नहीं है प्रमाण न होने से मतिज्ञान का भेद नहीं है।

स्मृति भी पूर्व काल में जिस अर्थ का अनुभव हो चुका है उसी अर्थ में होती है। अज्ञात अर्थ का प्रकाशक न होने के कारण वह भी प्रमाण नहीं है। इसी कारण मतिज्ञान का भेद रूप भी नहीं हो सकती।

जो संस्कार है वह चाहे कर्म का क्षयोपशम रूप हो, अथवा ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति के रूप में हो, अज्ञानात्मक है। इस कारण ज्ञानात्मक मति का भेद नहीं हो सकता। संस्कार का स्वरूप विकल्पात्मक भी नहीं हो सकता, कारण संस्कार चिर काल तक रहता हैं पर विकल्प की स्थिति अल्प काल की है। इस रीति से अवग्रह, ईहा, और अपाय से भिन्न मतिज्ञान का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होता।

मूलम्–न, स्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमभिन्नधर्मक-वासनाजनकत्वेन अन्यान्यवस्तुग्राहित्वादवि –

च्युतेः, प्रागननुभूतवस्तुकत्वग्राहित्वाच्चस्मृतेः अगृहीतग्राहित्वात्, स्मृतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपायास्तद्विज्ञानजननशक्तिरूपायाश्च वासनायाः स्वयमज्ञानरूपत्वेऽपि कारणे कार्योपचारेण ज्ञानभेदाभिधानाविरोधादिति ।

अर्थ—आपका कथन युक्त नहीं है। प्रथम क्षण की अविच्युति स्पष्ट वासना को उत्पन्न करती है और द्वितीय क्षण की अविच्युति स्पष्टतर वासना को उत्पन्न करती है। तृतीय क्षण की अविच्युति स्पष्टतम वासना को उत्पन्न करती है इसलिए प्रत्येक क्षण की अविच्युति भिन्न भिन्न अर्थों को प्रकट करती है। अतः अविच्युति अज्ञात अर्थ की प्रकाशक है। पूर्व काल में जिस अर्थ का अनुभव हो चुका है उसका जब फिर से अनुभव होता है तब स्मृति वस्तु की एकता को प्रकाशित करती है। इस एकताका ज्ञान अतीत काल में नहीं हुआ था इसलिए स्मृति भी अज्ञात अर्थ की ज्ञापक है। स्मृति ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रूप अथवा स्मृति ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति रूप वासना स्वयं अज्ञानात्मक है, तो भी कारण में कार्य का उपचार करके ज्ञान के भेद रूप में उसको कहा गया है। इस में विरोध नहीं है।

विवेचना—प्रतिक्षण वस्तु के पर्याय भिन्न होते हैं। भिन्न भिन्न क्षणों में उत्पन्न अविच्युति एक वस्तु के भिन्न भिन्न पर्यायों को प्रकाशित करती है, इसलिए अपाय के समान अविच्युति अज्ञात अर्थ की ज्ञापक है। भिन्न प्रकार के कार्यों का उत्पादक होनेसे भिन्न भिन्न क्षणों की अविच्युति का स्वभाव भिन्न भिन्न है। स्पष्ट स्पष्टतर आदि भेद से संस्कार भिन्न है अतः संस्कारों की उत्पादक अविच्युतियाँ भी भिन्न स्वभाव वाली हैं। भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ जिन समान अर्थों को उत्पन्न करते हैं उनमें समानता होने पर भी धर्म का भेद होने से भेद रहता है। अतः द्रव्य रूप से ज्ञात अर्थ को और पर्याय रूप से अज्ञात अथ की प्रकाशक अविच्युति है अतः वह प्रमाण है।

इसी रीति से जब "यह वही वस्तु है" इस आकार के साथ स्मृति होती है तब प्राचीन और वर्तम नकाल के पर्यायों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है पूर्व काल के अपाय के द्वारा अतीत पर्यायों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान हुआ था। वर्तमानकाल के ज्ञान के द्वारा वर्तमान पर्यायों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान हुआ है। किसी एक अपाय से अतीत और वर्तमान पर्यायों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अतीत और वर्तमानपर्यायों में भेद होने पर भी उन दोनों प्रकार के पर्यायों से विशिष्ट वस्तु द्रव्य रूप से एक ही है, इस प्रकार वस्तु की एकता का जो ज्ञान होता है वह स्मृति का फल है। प्राचीन और अर्वाचीन अपाय से वस्तु की एकता प्रतीत नहीं हुई थी। अज्ञात एकता का ज्ञापक होने के कारण स्मृति प्रमाण है।

'यह वस्तु है' इस रूप में जो अपाय था, वह अब 'वह वस्तु थी' इस आकार में है। इस आकार के कारण ज्ञान रूप

होने पर भी स्मृति अपाय से भिन्न है। अपाय का स्वरूप स्मृति में आकर अन्य रूप में हो जाता है अपाय के न रहने पर स्मृति वस्तु के स्वरूप का धारण करती है इसलिए धारणा कही जाती है और मतिज्ञान का भेद है।

इसके अतिरिक्त ज्ञात अर्थ का ज्ञापक होनेसे स्मृति को अप्रमाण नहीं कहना चाहिए। 'वह वस्तु थी' और 'यह वही वस्तु है' इस रीति से दो प्रकार की स्मृतियाँ हैं। इनमें से 'वह वस्तु थी' इस आकारवाली स्मृति वस्तु की अज्ञात एकता को नहीं प्रकाशित करती। वस्तु के अतीत काल के ज्ञात पर्यायों को ही प्रकाशित करती है, पर सत्य रूप से प्रकाशित करती है। वस्तु का जो स्वरूप है उससे भिन्न स्वरूप को यदि ज्ञान प्रकाशित करे तो वह अप्रमाण होता है पर ज्ञात अर्थ का सत्य रूप में एक दो बार अथवा अनेक बार प्रकाशन अप्रामाण्य का कारण नहीं हो सकता।

अपाय और स्मृति का स्वरूप अनुभव से भिन्न रूप में सिद्ध है। अपाय स्मृति रूप में होता है इसलिए स्मृति मति-ज्ञान का भेद है।

अपाय आदि के रूप में अपाय आदि की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। अपाय आदि के समान विकल्प का भी विकल्प रूप में प्रत्यक्ष होता है। वासना का प्रत्यक्ष अपाय आदि के समान नहीं होता। स्मृति रूप कार्य के द्वारा उसकी अनुमिति होती है अतः वासना विकल्प ज्ञान स्वरूप नहीं है। अपाय जब वस्तु का प्रकाशन करता है तब उसका प्रत्यक्ष संवेदन होता है। कालान्तर में ज्ञान उत्पन्न करने की जो शक्ति अपाय में है उसका संवेदन नहीं होता। जब अपाय स्पष्ट रूप में प्रतीयमान नहीं रहता तब अव्यक्त रूप में

रहता है इसलिए वासना अस्पष्ट रूप के कारण शक्ति कहलाती है। अविच्युति का अनुभव स्पष्ट रूप से होता है। इस अविच्युति से वासना उत्पन्न होती है और स्पष्ट प्रतीयमान स्मृति को उत्पन्न करती है, इसलिए उपचार से वासना ज्ञान रूप कही जाती है।

कारण में कार्य का उपचार दो प्रकार का है। 'धन सुख है' यह उपचार है। यहाँ पर सुख के निमित्त कारण धन में कार्य सुख का उपचार है। निमित्त कारण का कोई सूक्ष्म अंश भी कार्य के रूप को नहीं धारण कर सकता। सुख का संवेदन स्वतः होता है। सोना चांदी आदि रूप धन का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों द्वारा होता है। धन स्वसंवेद्य नहीं है। सुखको उत्पन्न करता है इस लिए धन सुख कहा जाता है। असुख रूप धन में सुख शब्द का प्रयोग उपचार है।

इससे भिन्न प्रकार का कारण में कार्य का उपचार तब होता है जब उपादानकारण में कार्यवाची शब्द का प्रयोग होता है। दूध और घी में स्पष्ट भेद है। दूध घीको उत्पन्न करता है दूध घीका उपादान कारण है। धन जिस प्रकार सुख से भिन्न देश में रहता है इस प्रकार दूध घी से भिन्न देश में नहीं रहता। दूध ही घी के रूप में परिणाम को प्राप्त करता है। दूध और घी में द्रव्य एक है पर पर्याय भिन्न है। इसी रीति से 'इंटे भवन हैं' इस प्रकार का उपचार होता है। ईटें उपादान कारण हैं और भवन ईकार्य है। मुख्य रूप से कार्य के वाचक भवन शब्द का प्रयोग ईटों में होता है। इस रीति से जहाँ उपादान कारण में कार्यवाचक शब्द का प्रयोग होता है वहाँ पर उपादान कारण उपादेय कार्य के रूप में विद्यमान रहता है। अपाय रूप अविच्युति वासना

का परिणामी कारण है। अपने स्वसंवेद्य रूप को छोड़कर अविच्युति अव्यक्त रूप को धारण करती है। इस अव्यक्त रूप में अविच्युति ज्ञान रूप ही है। यदि वासना सूक्ष्म रूप में ज्ञान न हो तो कालान्तर में स्मृति रूप ज्ञान के आकार को न धारण कर सके। अतः वासना स्पष्ट रूप में प्रतीयमान न होने पर भी ज्ञानात्मक है वह मतिज्ञान का भेद हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

[—अवग्रह आदि का क्रम—]

मूलम्—एते चावग्रहादयो नोत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यन्ते, ज्ञेयस्येत्थमेव ज्ञानजननस्वाभाव्यात्। क्वचिदभ्यस्तेऽपायमात्रस्य दृढवासने विषये स्मृतिमात्रस्य चोपलक्षणेऽप्युत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव सौक्ष्म्यादवग्रहादिक्रमानुपलक्षणात्।

अर्थ—ये अवग्रह आदि ज्ञान विपरीत क्रम से अथवा क्रम के भंग से नहीं उत्पन्न होते। पदार्थ ज्ञान का विषय है। उसकास्वभाव इस प्रकार का है, जिस से वह ज्ञान को इसी क्रम से उत्पन्न करता है,। किसी अभ्यस्त विषय में केवल अपाय और जिस विषय में दृढ वासना होती है उस में केवल स्मृति प्रतीत होती है परन्तु वहाँ भी अवग्रह आदि के क्रम से ज्ञान होता है। जिस प्रकार कमल के सौ पत्तों का वेध क्रम से होता

है परन्तु क्रम का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार अवग्रह आदि क्रम से होते हैं पर शीघ्र होने से क्रम प्रतीत नहीं होता।

विवेचना–पीछे की आनुपूर्वी से उत्पत्ति 'उत्क्रम' है, जिस प्रकार प्रथम धारणा पीछे अपाय उसके पीछे ईहा और उसके पीछे अवग्रह। आनुपूर्वी के बिना उत्पत्ति 'व्यतिक्रम' है। जिस प्रकार किसी काल में अवग्रह के बिना ईहा, अथवा अवग्रह और ईहा के बिना अपाय और अपाय के बिना धारणा। इनमें से किसी एक की उत्पत्ति और अन्यों की अनुत्पत्ति 'न्यूनता' है। किसी काल में अवग्रह ही हो और इहा आदि न हो अथवा किसी काल में अवग्रह और ईहा ही हों, अन्य किसी काल में अवग्रह ईहा और अपाय ही हों, तो न्यूनता है। इन तीन प्रकारों से क्रम का विरोध नहीं होता। ये चारों जब क्रम से होते हैं तब वस्तु केस्वभाव का ज्ञान होता है। अवग्रह के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हुआ उसमें ईहा नहीं हो सकती। ईहा विचार रूप है इसलिए अज्ञात और विचार के योग्य वस्तु में नहीं हो सकती। इसकारण प्रथम अवग्रह और अनंतर ईहा होती है। धारणा में वस्तु का स्वरूप निश्चित रहता है इस लिए वह निश्चयात्मक अपाय के बिना नहीं हो सकती, इस क्रम से ही वस्तु की प्रतीति होती है अतः अवग्रह आदि का क्रम युक्त है।

जिस अर्थ का ज्ञान अनेक बार हो चुका है वह जब किसी काल में झटपट प्रतीत होता है, तब प्रथम समय में अपाय हुआ है इस प्रकार प्रतीत होता है। पर इस प्रकार होता नहीं। जब वस्तुओं की उत्पत्ति अत्यंत सूक्ष्म काल में होती

है तब उत्पत्तिमें क्रम होने पर भी प्रतीत नहीं होता। जब केवल अपायकी प्रतीति होती है तब भी अवग्रह और ईहा की उत्पत्ति अपायसे पूर्व कालमें हो चुकी होती है, परन्तु शीघ्रगति से हुई है इस लिए उसकी प्रतीति नहीं होती। वहाँ पर अपाय ही हुआ है इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। इसी रीति से जिस अर्थ में अति दृढ संस्कार है उसमें प्रथमसे ही स्मृति प्रकट हुई है इस रीतिका ज्ञान होता है। यह ज्ञान भी भ्रम है वहाँ भी स्मृति से पूर्व कालमें अवग्रह ईहा और अपाय हो चुके होते हैं

[—: मतिज्ञान के भेद-प्रभेदः—]

मूलम्—तदेवम् अर्थावग्रहादयो मनइन्द्रियैः षोढा भिद्यमाना व्यञ्जनावग्रहचतुर्भेदैः सहाष्टाविंशति र्मतिभेदा भवन्ति। अथवा बहुबहुविध-क्षिप्रा ऽनिश्रित-निश्चित-ध्रुवैः सप्रतिपक्षैद्वादशभिर्भेदैर्भिन्नानामेतेषां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति।

अर्थ—इस रीति से अर्थावग्रह, ईहा, अपाय इनमें प्रत्येक ज्ञान मन और पाँच इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्नहोता है। इसलिए प्रत्येक अवग्रह आदि के छह भेद होजाते हैं। चारों में से प्रत्येक के छे भेद मिलकर चौबीस हो जाते हैं। ये चौबीस व्यञ्जनावग्रह के चार भेदों के साथ मिलकर अट्ठाईस हो जाते हैं। इस रीति से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद हैं।

अथवा बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित, ध्रुव और इनके विरोधी अबहु, अबहुविध, अक्षिप्र, निश्रित, अनिश्चित और अध्रुव इन बारह भेदोंसे अट्ठाईस भेदों के जब भेद होते हैं तब मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ।

मूलम्—बह्वादयश्च भेदा विषयापेक्षाः, तथाहि- कश्चित् नानाशब्दसमूहमाकर्णितं बहुं जानाति--'एतावन्तोऽत्र शङ्खशब्दा एतावन्तश्च पटहादिशब्दाः' इति पृथग्भिन्नजातीय क्षयोपशमविशेषात् परिच्छिनत्तीत्यर्थः । अन्यस्त्वल्पक्षयोपशमत्वात् तत्समानदेशोऽप्यबहुम् । अपरस्तु क्षयोपशमवैचित्र्यात् बहुविधम्, एकैकस्यापि शङ्खादिशब्दस्य स्निग्धत्वादिबहुधर्मान्वितत्वेनाप्याकलनात् । परस्त्वबहुविधम् स्निग्धत्वादिस्वल्पधर्मान्वितत्वेनाकलनात् । अन्यस्तु क्षिप्रम् शीघ्रमेव परिच्छेदात् । इतरस्त्वक्षिप्रम्, चिरविमर्शेनाकलनात् । परस्त्वनिश्रितम्, लिङ्गं विना स्वरूपत एव परिच्छेदात् । अपरस्तु निश्रितम्, लिङ्गनिश्रयाऽऽकलनात् । [कश्चित्तु निश्रितम्, विरुद्धधर्मानालिङ्गितत्वेनावगतेः । इतरस्त्वनिश्रितम्, विरुद्धधर्माङ्कितत्वावगमात् ।]

अन्यो ध्रुवम्, बह्वादिरूपेणावगतस्य सवदेव तथा बोधात्। अन्यस्त्वध्रुवम्, कदाचिद्बह्वादिरूपेण कदाचित्त्वबह्वादिरूपेणावगमादिति। उक्ता मतिभेदाः।

अर्थ-बहु आदि भेद, विषय की अपेक्षा से होते हैं। वह अपेक्षा इस प्रकार से--(१) कोई जीव अनेक शब्दों के समूह को सुनता है उन शब्दों में विशेष प्रकार के क्षयोपशम के कारण पृथक् पृथक् भिन्न जाति के शब्दों को जान लेता है। इस शब्द समूह में शंख के इतने शब्द हैं और ढोल आदि के इतने शब्द हैं इस रीति से जान लेता है। (२) अन्य कोई व्यक्ति अल्प क्षयोपशम होने से उसी स्थान में होने पर भी इस प्रकार नहीं जानता वह किसी एक शब्द को ही जानता है अन्य शब्दों को होने पर भी नहीं जानता। (३) अन्य कोई व्यक्ति क्षयोपशम की विचित्रता से एक एक वीणा आदि के शब्द को स्निग्धता आदि अनेक धर्मों के साथ जानता है। (४) जब कोई स्निग्धता आदि अल्प धर्मों के साथ वीणा आदि के शब्दों को जानता है तब अबहुविध ज्ञान होता है। (५) कोई जल्दी जानता है (६) कोई चिर काल में जानता है। चिर और अचिर काल के कारण क्षिप्र और अक्षिप्र भेद होते हैं। (७) कोई

अनिश्रित अर्थ को जानता है। हेतु के बिना स्वरूप से जब ज्ञान होता है तब अनिश्रित कहा जाता है। (८) कोई हेतु के आश्रय से जानता है। इस प्रकार का ज्ञान निश्रित कहा जाता है। [(९) अन्य व्यक्ति विरोधी धर्मों से रहित वस्तु को जानता है। उसका ज्ञान निश्चित कहा जाता है। (१०) कोई अनिश्चित अर्थात् विरोधी धर्मों के साथ जानता है।] (११) अन्य व्यक्ति ध्रुव रूप से जानता है। बहु आदि रूप से जिस शब्द आदि को जानता है। उसको सर्वदा उसी रूप में जानता है (१२) अन्य व्यक्ति अध्रुव रूप से जानता हैं। कभी बहु रूप से और कभी अबहु रूप से जानता है। इसी रीति से भिन्न भिन्न कालों में बहुविध और अबहुविध आदि रूप से ज्ञान अध्रुव ज्ञान है।

मति के भेद कहे जा चुके।

—[श्रुतज्ञान का निरूपण]—

मूलम्—श्रुतभेदा उच्यन्ते--श्रुतम् अक्षर-सञ्ज्ञि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिकाऽङ्ग --प्रविष्टभेदैः सप्रतिपक्षै-श्चतुर्दशविधम्।

अर्थ--श्रुतज्ञान के भेद कहे जाते हैं—अक्षर, संज्ञि, सम्यक्, सादि, सपर्यवसित, गमिक, अङ्गप्रविष्ट

ये भेद अपने विरोधियों के साथ मिलकर चौदह प्रकार के हो जाते हैं। वे इस प्रकार—(१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञिश्रुत (४) असंज्ञिश्रुत (५) सम्यक् श्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिश्रुत (८) अनादिश्रुत (९) सपर्यवसितश्रुत (१०) अपर्यवसितश्रुत (११) गमिकश्रुत १२ अगमिकश्रुत (१३) अङ्गप्रविष्टश्रुत (१४) अनङ्गप्रविष्टश्रुत।

मूलम्—तत्राक्षरं त्रिविधम्-सञ्ज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभेदात्। सञ्ज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि--एते चोपचाराच्छ्रुते।

अर्थ-(१) इन में अक्षरश्रुत तीन प्रकार का है (१) संज्ञा अक्षर (२) व्यञ्जन अक्षर और (३) लब्धि अक्षर। लिपि का अक्षर संज्ञा अक्षर है। लिपियाँ अनेक प्रकार की हैं इसलिए संज्ञाक्षर अनेक प्रकार का है। वक्ता जिनका उच्चारण करता है, वे अकारादि व्यञ्जन अक्षर हैं ये दोनों अक्षर उपचार से श्रुत हैं।

विवेचना—शब्दों को सुनकर अर्थ का जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। लिपि अक्षर और व्यञ्जनाक्षर ज्ञानमय नहीं है, इसलिए वे मुख्य रूप से श्रुत नहीं हैं। परन्तु लिपि को देखकर और शब्द को सुनकर पद और वाक्य का ज्ञान

होता है । इसके अनन्तर अर्थ की प्रतीति होती है । इस रीति से लिपि अक्षर और व्यञ्जनाक्षर श्रुतज्ञान के कारण हैं । श्रुतज्ञान के कारण होने से उनमें श्रुत शब्द का व्यवहार उपचार से है । प्राण की रक्षा का साधन होनेसे जिस प्रकार अन्न प्राण कहा जाता है इसी प्रकार शब्द से जन्य बोधरूप श्रुतज्ञान का साधन होनेसे ये दोनों श्रुत कहे जाते है ।

मूलम्—लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः तदावरणक्षयोपशमो वा—एतच्च परोपदेशं विनापि नासम्भाव्यम्, अनाकलितोपदेशानामपि मुग्धानां गवादीनां च शब्दश्रवणे तदाभिमुख्यदर्शनात्, एकेन्द्रियाणामप्यव्यक्ताक्षरलाभाच्च ।

अर्थ—(१) वचन को सुनकर इन्द्रिय और मनरूप निमित्त से जो श्रुतज्ञान होता है वह लब्धि अक्षर है । अथवा श्रुत ज्ञान के आवरण का क्षयोपशम लब्धि अक्षर है । परके उपदेश के बिना भी लब्धि अक्षर रूप श्रुत हो सकता है । जिन्होंने उपदेश नहीं प्राप्त किया इस प्रकार के मुग्ध लोग अश्व गौ आदि भी शब्द सुनकर जिस दिशा से शब्द आ रहा है उस दिशा की ओर देखते हैं । इतना ही नहीं एकेन्द्रिय जीवों को भी अक्षरश्रुत का अव्यक्त लाभ होता है ।

विवेचना—लिपि और व्यञ्जनाक्षरों का ज्ञान अन्य के उपदेश से ही होता है । परन्तु लब्धिअक्षरश्रुत का ज्ञान जिस प्रकार अन्य के उपदेश से होता है इस प्रकार अन्य के उपदेश के बिना भी हो सकता है। संकेत को जानकर वक्ता बोलता है और श्रोता सुनता है। वक्ता और श्रोता दोनों आरंभ में अन्य के उपदेश से शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्यरूप में जानते हैं। संकेत ज्ञान के बिना व्यवहार नहीं हो सकता। सामान्य रूप से शब्द को सुनकर अर्थ का जो ज्ञान होता है वह अन्य से संकेत का ज्ञान न हो तो भी हो सकता है । विधि पूर्वक जिन्होंने अन्यों से उपदेश प्राप्त किया इस प्रकार के मुग्ध जन अपना नाम सुनकर वक्ता की ओर देखते हैं। गौ आदि पशु भी गोपाल से अपना नाम जब सुनते हैं तब उसकी ओर देखते हैं और पूंछ आदि हिलाते हैं। मुग्ध जन और गाय आदिका यह ज्ञान लब्धिअक्षरश्रुत रूप है। असंज्ञि जीवों में आहार आदिकी प्रतीति होती है इस कारण एकेन्द्रिय आदि में स्वाभाविक चैतन्य जिस प्रकार सिद्ध होता है इस प्रकार लब्धि अक्षर रूप सामान्य ज्ञान भी युक्ति से सिद्ध होता है। क्षयोपशम आदि के कारण लब्धिअक्षररूप ज्ञान होता है। एकेन्द्रिय आदि असंज्ञि जीवों में क्षयोपशम आदि निमित्त हैं। इसलिए इनमें लब्धि अक्षर रूप ज्ञान हो सकता है।

मूलम्-अनक्षरश्रुतमुच्छ्वासादि, तस्यापि भाव-श्रुतहेतुत्वात्, ततोऽपि 'सशोकोऽयम्' इत्यादि-ज्ञानाविर्भावात्। अथवा श्रुतोपयुक्तस्य सर्वात्मनैवोपयोगात् सर्वस्यैव व्यापारस्य श्रुतरूपत्वेऽपि अत्रैव शास्त्रज्ञलोकप्रसिद्धा रूढिः।

अर्थ-(२) उच्छ्वास आदि अनक्षरश्रुत कहा जाता है। वह भी भाव श्रुत का कारण है। उच्छ्वास आदि के कारण यह 'शोक सहित है' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा श्रुतोपयोगवाला आत्मा जिस व्यापार को करता है उसको संपूर्ण रूप से करता है इसलिए उसका समस्त व्यापार श्रुत स्वरूप है। परन्तु शास्त्र ज्ञाता लोग उच्छ्वास आदि को ही श्रुत कहते हैं। इसलिये शास्त्र ज्ञाताओं की रूढि के अनुसार उच्छ्वास आदि ही अनक्षर श्रुत हैं।

विवेचना--जब कोई उच्छ्वास और निःश्वास लेता है तब शब्द सुनाई देता है। शब्द के सुनने से उच्छ्वास और निःश्वास आदिके करनेवाले पुरुष के शोक और हर्ष आदिका ज्ञान होता है। शब्द से उत्पन्न अर्थज्ञान मुख्यरूप से श्रुतज्ञान है। वही भावश्रुत कहा जाता है। शब्द भावश्रुत का कारण है। उच्छ्वास आदि केवल शब्द है, भावश्रुत का कारण होनेसे श्रुत कहा जाता है। उसमें श्रुत शब्द का प्रयोग उपचार से है। उच्छ्वास आदि के समान थूंक और खांसी आदि के सुननेसे किसी किसी काल में अभिप्राय विशेष का ज्ञान होता है। उस काल में थूंक आदि भी अनक्षर श्रुत है।

अथवा उपचार के बिना भी उच्छ्वास आदि श्रुत कहे जा सकते हैं श्रुत ज्ञानवाले आत्मा का जो कोई व्यापार होता है उसमें आत्मा संपूर्ण रूपसे कारण है। उस काल में श्रुत ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। आत्मा का जो व्यापार उस काल

में होता है उसमें श्रुतज्ञान हेतु है इसलिए वह व्यापार श्रुत है। श्रुतज्ञानवाला आत्मा आता जाता है, शिर और हाथ आदिको हिलाता है, इन चेष्टाओं के साथ श्रुत उपयोग वाले आत्मा का संबंध है। परन्तु शास्त्र ज्ञाता लोग इन व्यापारों के लिए श्रुत शब्द का प्रयोग नहीं करते। शास्त्र ज्ञाताओं को रूढि उच्छ्वास आदि में ही है। जो सुना जाता है वह श्रुत है। गमन आगमन और शिरका हिलाना आदि चेष्टायें दिखाई देती हैं पर सुनाई नहीं देतीं। अकार आदि शब्द सुने जाते हैं, परन्तु वे वर्णात्मक हैं। उच्छ्वास आदि वर्णात्मक नहीं और सुने जाते हैं। इसलिये वे शास्त्र ज्ञाताओं की रूढि के अनुसार अनक्षर श्रुत हैं।

मूलम्-समनस्कस्य श्रुतं सञ्ज्ञिश्रुतम्। तद्विपरीतमसञ्ज्ञिश्रुतम्। सम्यक्श्रुतम् अङ्गानङ्गप्रविष्टम्, लौकिकं तु मिथ्याश्रुतम्। स्वामित्वचिन्तायां तु भजना---सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतमेव वितथभाषित्वादिना यथास्थानं तदर्थविनियोगात्, विपर्यायान्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मिथ्याश्रुतमेवेति।

अर्थ--(३) संज्ञी-समनस्क जीवों का श्रुतज्ञान संज्ञि श्रुत है।

(४) असंज्ञीजीवों का श्रुत असंज्ञि श्रुत है।

(५) अंगप्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट भेद से सम्यक्

श्रुत दो प्रकार का है । आचारांग आदि बारह अङ्ग-प्रविष्ट हैं । इनसे भिन्न आवश्यक आदि अनंगप्रविष्ट हैं।

(६) लौकिक श्रुत मिथ्याश्रुत है । जिस शास्त्र का रचयिता आप्त नहीं है वह शास्त्र मिथ्याश्रुत है । सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत के स्वामियों का विचार किया जाय तो भजना विकल्प है । वह इस रीतिसे-सम्यग्दृष्टि जिस मिथ्याश्रुत को ग्रहण करता है वह मिथ्या श्रुत भी सम्यक्श्रुत है । सम्यग्दृष्टि मनुष्य भिन्न भिन्न स्थानों में विषय के विभाग से मिथ्याश्रुत की योजना मिथ्यावादी आदि रूप से करता है--इसलिये मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत हो जाता है । इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि मनुष्य जिस सम्यक्श्रुत को ग्रहण करता है उसकी योजना यथार्थ रूप से नहीं करता, इसलिये वह सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत हो जाता है ।

मूलम्—सादि द्रव्यत एकं पुरुषमाश्रित्य, क्षेत्रतश्च भरतैरावते । कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः भावतश्च तत्तज्ज्ञापकप्रयत्नादिकम् । अनादि द्रव्यतो नानापुरुषानाश्रित्य, क्षेत्रतो महाविदेहान्, कालतो नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणो-

लक्षणम, भावतश्च सामान्यतः क्षयोपशम-मिति ।

अर्थ---(७) द्रव्य से एक पुरुष का आश्रय लेकर, क्षेत्र से भरत और ऐरावत का आश्रय लेकर, काल से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का आश्रय लेकर, भाव से उस उस ज्ञापक गुरु के प्रयत्न आदिका आश्रय लेकर श्रुत आदिसहित है। (८) द्रव्य से अनेक पुरुषों का आश्रय लेकर, क्षेत्र से महाविदेह का आश्रय लेकर, काल से नोउत्सर्पिणी और नोअवसर्पिणी का आश्रय लेकर, और भाव से सामान्यरूप में क्षयोपशम भाव का आश्रय लेकर श्रुत अनादि है।

विवेचना—इस भव में किसी जीव को यदि पहले सम्यक्श्रुत का ज्ञान नहीं हुआ हो और अभी उत्पन्न हुआ हो तो उसकी अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि होता है। श्रुत-ज्ञानी जीव जब भवान्तर में जाता है तब उसके श्रुत का नाश हो जाता है। रोग और प्रमाद के कारण इस भव में भी श्रुत का नाश हो जाता है। इस प्रकार पुरुष के आश्रय से द्रव्य की अपेक्षा सम्यकश्रुत आदि और अन्त से युक्त है। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में प्रथम तीर्थंकर के काल में श्रुत का उद्भव होता है इसलिये वह क्षेत्र की अपेक्षा से सादि है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल में उसका उद्भव होता है इसलिये काल की अपेक्षा से सादि है। गुरु के उपदेश से उत्पन्न होता है इसलिये भाव की अपेक्षा से सादि है।

नारक-तिर्यंच-मनुष्य और देवों में श्रुतज्ञान सदा रहता है उसका विच्छेद किसी काल में नहीं होता, इसलिये द्रव्य विषय में अनेक जीवों का आश्रय लेकर अनादि है। पाँच महाविदेहों में नोअवसर्पिणी और नोउत्सर्पिणी रूप काल है, अतः इस क्षेत्र और काल की अपेक्षा अनादि है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी से रहित महाविदेहों में सामान्य रूप से द्वादशांगश्रुत का विच्छेद किसी काल में नहीं होता। उनमें तीर्थंकर और गणधर सदा रहते हैं। इस रीति से क्षयोपशम का आश्रय लेकर श्रुत अनादि है।

मूलम्—एव सपर्यवसितापर्यवसितभेदावपिभाव्यौ।

अर्थ—(९-१०) जिस द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से श्रुत सादि है उसी अपेक्षा से वह सपर्यवसित अर्थात् अन्त सहित है और जिस अपेक्षा से अनादि है उसी अपेक्षा से अपर्यवसित अर्थात् अनंत है।

विवेचना—भरत और ऐरावत क्षेत्रों में चरम तीर्थंकर के शासन में जब तीर्थ का अन्त होता है तब श्रुत का विच्छेद अवश्य होता है। काल की अपेक्षा से उत्सर्पिणी के चौथे आरे के आदि में और अवसर्पिणी के पांचवे आरे के अन्त में अवश्य विच्छेद होता है।

मूलम्—गमिकं सदृशपाठं प्रायो दृष्टिवादगतम्। अगमिकमसदृशपाठं प्रायः कालिकश्रुतगतम्।

अर्थ--(११) जिसमें समान पाठ होता है वह गमिकश्रुत कहा जाता है।

(१२) जिसमें प्रायः समान पाठ नहीं होता वह अगमिक श्रुत है। कालिक श्रुत में समान पाठ नहीं है।

मूलम्--अङ्गप्रविष्टं गणधरकृतम्। अनङ्ग-प्रविष्टं तु स्थविरकृतमिति।

अर्थ--(१३) जिस श्रुत की गणधरभगवानों ने रचना की है वह श्रुत अङ्गप्रविष्ट कहा जाता है।

(१४) स्थविर जिसकी रचना करते हैं वह अनंग-प्रविष्टश्रुत कहा जाता है।

विवेचना-श्री गणधर के प्रश्नों के उत्तर में भगवान श्री तीर्थंकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के प्रतिपादक तीन पदों का उपदेश करते हैं। इनसे जिनकी उत्पत्ति है वे आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग हैं। जिनमें प्रश्न बिना अर्थ का प्रतिपादन है वे आवश्यक आदि अङ्ग बाह्य श्रुत हैं। द्वादशांगी अर्थात् बारह अङ्ग प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में नियत हैं परन्तु तंदुल वैकालिक आदि श्रुत अनियत है। इस रीतिसे अङ्गप्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट में भेद है।

मूलम्--तदेवं सप्रभेदं सांव्यवहारिकं मति-श्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम्।

अर्थ--इस रीति से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

रूप सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान का निरूपण भेदों के साथ पूर्ण हुआ।

[पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद और उनमें से प्रथम अवधिज्ञान का निरूपण-]

मूलम्---स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम्। तत् त्रिविधम्-अवधिमनःपर्यय-केवलभेदात्।

अर्थ—जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में केवल आत्मा के व्यापार की अपेक्षा करता है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। उसके तीन भेद हैं (१) अवधिज्ञान (२) मनः पर्यवज्ञान और (३) केवलज्ञान।

मूलम्---सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम्।

अर्थ---समस्त रूपी द्रव्यों के विषय में केवल आत्मा की अपेक्षा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अवधिज्ञान है।

मूलम्---तच्च षोढा अनुगामि-वर्धमान-प्रतिपातीतरभेदात्।

अर्थ---वह छे प्रकार का है- (१) अनुगामी (२) अननुगामी (३) वर्धमान (४) हीयमान (५) प्रतिपाति (६) अप्रतिपाति।

मूलम्--तत्रोत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमानमानुगामिकम्, भास्करप्रकाशवत्, यथा भास्करप्रकाशः प्राच्यामाविर्भूतः प्रतीचीमनुसरत्यपि तत्रावकाशमुद्योतयति, तथैतदप्येकत्रोत्पन्नमन्यत्र गच्छतोऽपि पुंसो विषयमवभासयतीति।

अर्थ—सूर्य के प्रकाश के समान जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति के क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में ज्ञाता के साथ रहता है वह अवधिज्ञान आनुगामिक कहलाता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पूर्व दिशा में प्रकट होता है और सूर्य जब पश्चिम दिशा में जाता है तब भी वहाँ के क्षेत्र को प्रकाशित करता है इसी प्रकार आनुगामिक ज्ञान जिस स्थान पर पुरुष को उत्पन्न होता है उस स्थान से अन्य स्थान में जाने पर भी विषय को प्रकाशित करता है।

मूलम्-उत्पत्तिक्षेत्र एव विषयावभासकमनानुगामिकम, प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्, यथा प्रश्नादेशः क्वचिदेव स्थाने संवादयितुं शक्नोति पृच्छ्यमानमर्थम्, तथेदमपि अधिकृत एव स्थाने विषयमुद्योतयितुमलमिति।

अर्थ–(२) जो अवधिज्ञान अपनी उत्पत्ति के स्थान में ही विषय का बोध कराता है वह अनानुगामिक है। जिस प्रकार प्रश्नादेश पुरुष का ज्ञान। कोई कोई नैमित्तिक पुरुष किसी विशेष स्थान में ही पूछे प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ होता है। अन्य स्थान में वह यथार्थ रूप से निश्चय नहीं करा सकता। इसी रीति से यह ज्ञान भी उत्पत्ति के स्थान में ही विषय को प्रकाशित कर सकता है।

मूलम्–उत्पत्तिक्षेत्रात्क्रमेण विषयव्याप्तिमवगाहमानं वर्धमानम्, अधरोत्तरारणिनिमथनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमानाधीयमानेन्धनाद्यग्निवत्, यथा अग्निः प्रयत्नादुपजातः सन् पुनरिन्धनलाभाद्विवृद्धिमुपागच्छति एवं परमशुभाध्यवसायलाभादिदमपि पूर्वोत्पन्नं वर्धत इति।

अर्थ–(३) जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति के क्षेत्र से क्रम के साथ बढता हुआ विषयों को व्याप्त करता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। नीचे और ऊपर अरणिनामक दो काष्ठों को मथने से जो अग्नि उत्पन्न होती है वह सूखे काष्ठ की प्राप्ति से बढती जाती है। जिस प्रकार अग्नि प्रयत्न से उत्पन्न होती हैं और फिर काष्ठ

के समूह को प्राप्त करके बढने लगती है इसी प्रकार अत्यंत शुभ अध्यवसाय को पाकर यह अवधिज्ञान बढता है।

विवेचना—अगुल के असंख्येय भाग के तुल्य क्षेत्र में उत्पन्न होकर यह ज्ञान इतना बढता है जितने से सर्व लोक में व्याप्त हो जाता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक व्याप्त हैं वहाँ तक यह ज्ञान बढ सकता है।

मूलम्---उत्पत्तिक्षेत्रापेक्षया क्रमेणाल्पो-भवद्विषयं हीयमानम्, परिच्छिन्नेन्धनोपादान-सन्तत्यग्निशिखावत्, यथा अपनीतेन्धनाग्नि-ज्वाला परिहीयते तथा इदमपीति।

अर्थ---(४) उत्पत्ति के क्षेत्र की अपेक्षा से जिस का विषय क्रम से न्यून होता जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है, जिस अग्नि की ज्वाला में काष्ठ परिमित रूप में डाले जाते हैं उस अग्नि की ज्वाला के समान। एक बार परिमित प्रमाण में काष्ठ डालने के पीछे अधिक काष्ठ न डाला जाय तो अग्नि क्रम से न्यून होती जाती है। इसी रीति का यह अवधिज्ञान है।

विवेचना—असंख्येय द्वीप समुद्र, पृथ्वी और विमानों तक उत्पन्न होकर क्षीण होते होते जो ज्ञान सर्वथा नाश पाता है वह हीयमान है। अन्त में यह ज्ञान अंगुल के असंख्येय भाग को भी नहीं देख सकता।

मूलम्--उत्पद्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति, जलतरङ्गवत्, यथा जलतरङ्ग उत्पन्नमात्र एव निर्मूलं विलीयते तथा इदमपि।

अर्थ---(५) जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के अनन्तर मूल के साथ नष्ट हो जाता है वह प्रतिपाति कहा जाता है। यह ज्ञान जल की तरङ्ग के समान है। जिस प्रकार पानी में उत्पन्न तरङ्ग उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में ही नष्ट हो जाती है इस प्रकार यह ज्ञान भी उत्पत्ति के अनन्तर ही समूल नष्ट हो जाता है।

मूलम्-आकेवलप्राप्तेः आमरणाद्वा अवतिष्ठमानम् अप्रतिपाति, वेदवत्, यथा पुरुषवेदादिरापुरुषादिपर्यायं तिष्ठति तथा इदमपीति।

अर्थ---(६) जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक अथवा मृत्यु की प्राप्ति तक स्थिर रहता है वह अप्रतिपाति कहा जाता है, जिस प्रकार वेद। पुरुषवेद आदि वेद जिस प्रकार पुरुष आदि पर्याय जब तक रहते हैं तब तक स्थिर रहता है इस प्रकार यह अवधि ज्ञान भी स्थिर रहता है।

[---मनःपर्यवज्ञान का निरूपण---]

मूलम्--मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम् । मनःपर्यायानिदं साक्षात्परिच्छेत्तुमलम् . बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिनत्तीति द्रष्टव्यम् ।

अर्थ---जो ज्ञान केवल मन का साक्षात्कार करता है वह मनःपर्यव ज्ञान है । यह ज्ञान केवल मन के पर्यायों को साक्षात् करने में समर्थ है । बाह्य अर्थों को तो अनुमान से ही जानता है । मन के पर्याय बाह्य अर्थों के बिना नहीं हो सकते, इसलिए उन बाह्य अर्थों का उसको अनुमान होता है ।

विवेचना--मन में जो पर्याय होते हैं उनका प्रत्यक्ष मनःपर्यव ज्ञान कर सकता है । इन बाह्य पदार्थों का ज्ञान न हो तो इस प्रकार के मन के पर्याय नहीं उत्पन्न हो सकते इस रीति से मनःपर्याय ज्ञानी मनुष्य अनुमान करता है इसलिये बाह्य अर्थों का ज्ञान उसको अनुमान के द्वारा ही होता है ।

समस्त अर्थों के विषय में केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वह मन द्रव्य को भी प्रत्यक्ष करता है । परन्तु मनःपर्यव ज्ञान मन को ही प्रत्यक्ष करता है । केवल ज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान का इतना भेद है ।

रूपवाले द्रव्यों के विषय में अवधिज्ञान होता है मन पौद्गलिक है, इसलिए वह रूपी द्रव्य है । परन्तु कोई भी अवधिज्ञान इस प्रकार का नहीं है जो केवल मन का प्रत्यक्ष

करे और मन से भिन्न रूपवाले द्रव्यों का प्रत्यक्ष न करे। इस कारण मनःपर्यवज्ञान के लक्षण की अतिव्याप्ति अवधिज्ञान में नहीं होती।

अनेक अन्य कारणों से भी अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में भेद हैं। विशुद्धि, क्षेत्र स्वामी और विषय, इन कारणों से इन दोनों में भेद है अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यव ज्ञान अधिक शुद्ध है अवधिज्ञानी जिन रूपी द्रव्यों को जानता है उन द्रव्यों की विचारणा जब मन से होती है तब मन पर्यायज्ञानी अधिक पर्यायों के साथ उन द्रव्यों को जानता है। क्षत्र के कारण भी इन दोनों ज्ञानों में भेद है। ऊँगली के यदि असंख्येय भाग किये जाय तो एक असंख्येय भाग से परिमित क्षेत्र में जितने रूपी द्रव्य है उनको जो अवधिज्ञान जानता है वह सब से न्यून है। वही बढता बढता अनेक भिन्न प्रकार के द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है। जब वृद्धि की चरम सीमा में होता है तब समस्त लोक में जितने रूपी द्रव्य हैं उनको प्रत्यक्ष करता है। परन्तु मनःपर्यायज्ञान अढाई द्वीप समुद्र के मानुष क्षेत्र में होता है अढाईद्वीप में भी संज्ञी पंचेन्द्रियजीव मनोवर्गणा के जिन पुद्गलों को ग्रहण करते हैं उनको मनःपर्यायज्ञानी जानता है। शकराप्रभा आदि नरकों में मनःपर्याय ज्ञान नहीं होता। इन दोनों ज्ञानों के स्वामिभाव में भी भेद है। अवधिज्ञान विरतिवाले साधु, असंयत, और संयत असंयत को नारक आदि चार गतियों में होता है। मनःपर्यायज्ञान केवल मनुष्यों को होता है। मनुष्यों में भी केवल संयत को होता है, मिथ्यादृष्टि आदिको नहीं होता। मिथ्यादृष्टि आदि मनुष्य के समान देव आदिको भी नहीं उत्पन्न होता। विषय के कारण भी इन दोनों में भेद है।

अवधिज्ञानी समस्त रूपी द्रव्यों को जान सकता है। परन्तु उन द्रव्यों के समस्त पर्यायों को नहीं जान सकता। कभी एक परमाणु के असंख्येय पर्यायों को और कभी संख्येय पर्यायों को जानता है। जब सबसे न्यून परिमाण में जानता है तब एक परमाणु के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चार को जानता है। एक एक परमाणु के अनंत पर्यायों को अवधिज्ञानी नहीं जान सकता। समस्त रूपी द्रव्य मनःपर्यायज्ञान के विषय नहीं है। अवधिज्ञान जिन द्रव्यों को जानता है उनके यदि अनंत भाग हों तो उनमें जो एक अनंत भाग है वह मनःपर्यायज्ञान का विषय है।

मूलम्---तद् द्विविधम्--ऋजुमति-विपुलमति भेदात्। ऋजवो सामान्यग्राहिणो मतिः ऋजुमतिः। सामान्यशब्दोऽत्र विपुलमत्यपेक्षयाऽल्पविशेषपरः, अन्यथा सामान्यमात्रग्राहित्वे मनःपर्यायदर्शनप्रसङ्गात्।

अर्थ---मनःपर्यायज्ञान के दो भेद हैं। (१) ऋजुमति और (२) विपुलमति। सामान्य को ग्रहण करनेवाली मति ऋजुमति है। यहाँ विपुल मति की अपेक्षा से अल्प धर्म को सामान्य कहा गया है। यदि इस अर्थ को न लिया जाय और ऋजुमति को केवल सामान्य का प्रकाशक और विशेष धर्मों का अप्रकाशक माना जाय तो वह मनःपर्याय दर्शन के रूप में हो जायगा।

विवेचनाः-शास्त्रों में मनःपर्याय दर्शन रूप नहीं है, किन्तु ज्ञान रूप है यदि मनःपर्याय विशेष धर्मों से सर्वथा रहित शुद्ध पर्याय को जाने तो मनःपर्याय का एक भेद दर्शन रूप भी हो जायगा। अतः ऋजुमति नाम का जो मनः-पर्याय-सामान्य को जानता है वह विशेष रूप सामान्य को ही जानता है। (वह एक, दो अथवा तीन विशेषों को भी जान सकता है।) यहाँ पर सामान्य शब्द न्यून संख्या के विशेषों का बोधक है।

मूलमः-विपुला विशेषग्राहिणी मतिर्विपुल-मतिः। तत्र ऋजुमत्या घटादिमात्रमनेन चिन्तितमिति ज्ञायते, विपुलमत्या तु पर्यायशतोपेतं तत् परिच्छिद्यत इति।

अर्थः-बहु संख्या में विशेषों को जो मति ग्रहण करती है वह विपुलमति है इतना ही ऋजुमति जानता है। विपुलमति तो उसी घट को सैंकडों पर्यायों के साथ जानता है।

मूलमः-एते च द्वे ज्ञाने विकलविषयत्वाद्विकलप्रत्यक्षे परिभाष्येते।

अर्थः-अवधि और मनःपर्याय ये दो ज्ञान समस्त पर्यायों को नहीं जानते। इन दोनों का विषय विकल है, इसलिए ये विकल प्रत्यक्ष कहे जाते हैं।

[—:केवलज्ञान का निरूपण:—]

मूलम्:—निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलज्ञानम् । अत एवैतत्सकलप्रत्यक्षम् । तच्चावरणक्षयस्य हेतोरैक्यादभेदरहितम् । आवरणं चात्र कर्मैव, स्वविषयेऽप्रवृत्तिमतोऽस्मदादिज्ञानस्य सावरणत्वात्, असर्वविषयत्वे व्याप्तिज्ञानाभावप्रसङ्गात्, सावरणात्वाभावेऽस्पष्टत्वानुपपत्तेश्च । आवरणस्य च कर्मणो-विरोधिना सम्यग्दर्शनादिना विनाशात् सिद्ध्यति कैवल्यम् ।

अर्थः—समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को जो प्रत्यक्ष करता है वह केवलज्ञान है । इसी कारण से वह सकल प्रत्यक्ष है । आवरणों का क्षय केवलज्ञान का कारण है । यह कारण एक है इसलिए केवलज्ञान के भेद नहीं हैं । यहाँ पर आवरण, कर्म ही है । हमारा ज्ञान विषयों में प्रवृत्ति नहीं करता इसलिए आवरण से युक्त है । ज्ञान स्वभाव से समस्त विषयों का प्रकाशक न हो तो व्याप्ति ज्ञान नहीं होना चाहिए । हमारे ज्ञान में जो आवरण न हो तो उस में अस्पष्टता न हो । विरोधी सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा कर्म रूप

आवरण नष्ट हो जाता है और इस कारण केवलज्ञान सिद्ध होता है।

विवेचनाः–मति आदि चार ज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायों को प्रत्यक्ष नहीं करते, इसलिए केवलज्ञान के लक्षण की अतिव्याप्ति उन में नहीं होती। विषयों का प्रकाशन ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञानावरण कर्म उस स्वभाव को रोकता है। जब ज्ञानावरण का संपूर्ण रूप से नाश हो जाता है तब आवरण का सर्वथा अभाव होनेसे समस्त द्रव्यों और पर्यायों का प्रत्यक्ष होता है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं और यही जीव आदि पाँच काल के साथ छे द्रव्य हैं। जिसमें गुण और पर्याय रहते हैं-वह द्रव्य हैं। द्रव्य का सहभावी परिणाम गुण और क्रमभावी परिणाम पर्याय कहा जाता है। समस्त द्रव्यों और उनके पर्यायों को प्रत्यक्ष करता है। इसलिए केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। अवधि और मनःपर्यव ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं. परन्तु समस्त अर्थों को वे प्रकाशित नहीं करते इसलिए वे विकल प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। अवधि और मनःपर्यव ज्ञान का कारण है, आवरण का क्षयोपशम, इसमें अवान्तर न्यूनाधिक भाव होता है. इसलिए अवधिज्ञान के अनुगामी आदि छे भेद हैं और मनःपर्यवज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति दो भेद हैं। ज्ञानावरण का अत्यंत क्षय केवलज्ञान का कारण है। वह एक है उसमें न्यूनाधिक भाव नहीं हो सकता, अतः केवलज्ञान भेद रहित है। कारण में भेद न हो तो कार्य में भेद नहीं होता।

भींत वस्त्र आदिका व्यवधान हो तो नेत्र आदि अर्थों को प्रकाशित नहीं करते। ज्ञान जिस प्रकार समीप की वस्तु को प्रकाशित करता है इस प्रकार दूर की वस्तु को भी प्रकशित करता है। एक बार ज्ञान उत्पन्न हो जाय तो फिर वह समीप और दूर, स्थूल और सूक्ष्म, वर्तमान--अतीत और अनागत को समान रूप से प्रकाशित करता है। भींत आदि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को रोकते हैं। परन्तु अनुमान और शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको नहीं रोकते। कर्म इस प्रकार का आवरण है, जिसके होने पर ज्ञान समीप वस्तु को भी नहीं प्रकाशित करता। यदि कर्म का क्षयोपशम अथवा अत्यंत क्षय हो, तो देश और काल के द्वारा व्यवहित वस्तु को भी प्रकाशित करता है। विशिष्ट ज्ञानियों के समान सामान्य मनुष्यों का ज्ञान स्वभाव में समान है। आवरण के कारण साधारण लोगों का ज्ञान किसी अर्थ को प्रकाशित करता है और किसी अर्थ को नहीं प्रकाशित करता। परन्तु उसकी शक्ति समस्त अर्थों के प्रकाशन में है। जो लोग कहते हैं किसी काल में किसी भी रीत से ज्ञान समस्त अर्थों को नहीं प्रकाशित कर सकता, परिमित संख्या में विषयों को प्रकाशित करना उसका स्वभाव है, उनका मत युक्त नहीं है। साधारण लोगों का ज्ञान भी अस्पष्ट रूप से समस्त विषयों को प्रकाशित करता है। प्रमेयत्व और वाच्यत्व की व्याप्ति है। जहाँ जहाँ प्रमेयत्व है, वहाँ वहाँ वाच्यत्व है। सामान्य लोगों को इस व्याप्ति का ज्ञान होता है। यदि ज्ञान समस्त विषयों के प्रकाशन में सर्वथा असमर्थ हो तो इस व्याप्ति का ज्ञान नहीं होना चाहिए। इन्द्रिय साधारण रूप से अर्थों को प्रकाशित करती हैं। प्रायः वे अर्थ अल्प संख्या में होते हैं इससे अर्थों का प्रकाशन ज्ञान का स्वभाव है यह

सिद्ध होता है। परन्तु अल्प संख्या में प्रकाशन स्वभाव रूप में सिद्ध नहीं होता। कोई भी अर्थ स्वभाव से विरुद्ध कार्य को नहीं कर सकता। रूप का प्रकाशन चक्षु का स्वभाव है। वह किसी काल में रस, स्पर्श आदिका प्रकाशन नहीं कर सकती। एक दो अथवा तीन चार आदिकी संख्या में अर्थ का प्रकाशन जो ज्ञान का स्वभाव हो, तो अनुमान का मूल कारण व्याप्ति ज्ञान नहीं होना चाहिए। समस्त वस्तुओं के विषय में ही नहीं, एक वस्तु के विषय में जो अनुमान होता है-उसका मूलभूत व्याप्तिज्ञान भी नहीं होना चाहिए। धूम से वह्नि का अनुमान प्रसिद्ध है। जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि है, यह व्याप्ति यहाँ पर मूल है। वर्तमानकाल के और समीप देश के धूम और वह्नि को ही नहीं, किन्तु अतीत अनागत और दूर देश के धूम और अग्नि की भी व्याप्ति है इस रीति से जो व्याप्ति ज्ञान न हो. तो धूम से अग्नि का अनुमान न हो सके। धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान कालान्तर और देशान्तर में रहने वाले अर्थों के प्रकाशन में ज्ञान की शक्ति को प्रकट करता है। प्रमेयत्व और वाच्यत्व की व्याप्ति का ज्ञान सामान्य रूप से समस्त अर्थों के प्रकाशन में ज्ञान की शक्ति को सिद्ध करता है।

कर्म आवरण है। सम्यग्दर्शन आदि विरोधी कारण जितने परिमाण में उसका नाश करते हैं, उतने परिमाण में अर्थों का प्रकाशन होता है। सामान्य जन के ज्ञान में जो अस्पष्टता है, उसका कारण कर्मरूप-आवरण है। आवरण की न्यूनाधिकता के कारण-दीपक, चन्द्र, सूर्य आदि अस्पष्ट और स्पष्ट रूप से अर्थों को प्रकाशित करते हैं। ज्ञान का स्वभाव दीपक आदि के प्रकाश के समान है। वह भी ज्ञाना-

वरण कर्म की न्यूनाधिकता के होने पर अर्थों को स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है।

मलम्:–'योगजधर्मानुगृहीतमनोजन्यमेवेदमस्तु' इति केचित्, तन्न; धर्मानुगृहीतेनापि मनसा पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानवदस्य जनयितुमशक्यत्वात्।

अर्थः–कुछ लोग कहते हैं, समाधि से उत्पन्न धर्म जब मन का सहायक हो जाता है, तब मन से सकल प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है–यह मत युक्त नहीं। समाधि से उत्पन्न धर्म के सहकारी होने पर भी मन जिस प्रकार रूप आदि के ज्ञान की उत्पत्ति में समर्थ नहीं होता, इस प्रकार समाधि से उत्पन्न धर्म की सहायता लेकर भी केवलज्ञान को नहीं उत्पन्न कर सकता। आवरण के न होने पर पाँच इन्द्रिय जिस प्रकार रूप आदि को प्रकाशित करते हैं, इस प्रकार आत्मा कर्म रूप आवरण के नष्ट होने पर समस्त स्थूल, सूक्ष्म और व्यवहित आदि विषयों को प्रकाशित करता है।

विवेचनाः–जिस साधन का जो विषय है उस विषय मे वही स धन कार्य कर सकता है। सहकारी कारणों की सहायता पाकर साधन अपने विषय में ही उत्कर्ष के साथ कार्य करता है। जो अपना विषय नहीं है, उसमें सहायता के द्वारा प्रवत्ति नहीं होती। चक्षु का विषय रूप है अञ्जन

आदि चक्षु के सहकारी हैं। इनसे चक्षु की देखनेकी शक्ति बढ जाती है। इससे चक्षु पहले जिन स्थूल अर्थों को देखती थी उनकी अपेक्षा अब सूक्ष्म अर्थों को स्पष्ट रूप से देख सकती है। परंतु सहायता के कारण रस अथवा स्पर्श आदि को नहीं देख सकती। रस स्पर्श आदि चक्षु के विषय नहीं हैं। आत्मा सुख आदि मन के विषय हैं। समाधि से उत्पन्न धर्म की सहायता को प्राप्त करके मन, आत्मा आदि को अधिक स्पष्ट भाव से जान सकता है। रूप रस आदिको मन समाधि की सहायता से नहीं जानता। रूप रस आदि-के समान आत्मा आदिसे भिन्न विषय भी मन के विषय नहीं है। अतः मन समाधि की सहायता से समस्त विषयों में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकता। जब सब प्रकार से कर्म क्षीण हो जाता है, तभी आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान समस्त विषयों को प्रकाशित करता है।

मूलम्—'कवलभोजिनः कैवल्यं न घटते' इति दिक्पटः,

अर्थः—दिगम्बर कहता है, कवलाहारी को केवल-ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता।

मूलम्—तन्न, आहारपर्याप्त्यसातवेदनीयोदयादिप्रसूतया कवलभुक्त्या कैवल्याविरोधात् घातिकर्मणामेव तद्विरोधित्वात्।

अर्थः—यह युक्त नहीं। आहार पर्याप्ति नाम कर्म और असातवेदनीय कर्म के उदय आदि कारणों से कवलाहार उत्पन्न होता है। केवलज्ञान के साथ

उसका विरोध नहीं है, घातिकर्म ही केवलज्ञान के विरोधी हैं।

विवेचना:-दिगम्बर कहते हैं-ज्ञान का अत्यंत उत्कर्ष होनेसे केवली जिस प्रकार सामान्य जन की अपेक्षा भिन्न है, इस प्रकार सर्वथा आहार रहित होनेके कारण भी भिन्न है। बिना आहार के स्थिर दृढ शरीर का होना एक आवश्यक अतिशय है, जो केवली में प्रकट होता है। छद्मस्थ लोग कवलाहार करते हैं। केवली छद्मस्थ नहीं है. इसलिए उसका कवलाहार नहीं है। शरीर की स्थिति कवलाहार के बिना नहीं हो सकती। इसलिए केवली के लिए भी कवलाहार आवश्यक है। यह मत युक्त नहीं है। शरीरधारियों के शरीर की दशा सर्वथा समान नहीं होती। देव शरीरधारी हैं। परंतु वे मनुष्य पशु आदि के समान कवलाहार नहीं करते। आगम देवों के आहार को कवलाहार की अपेक्षा विलक्षण कहते हैं। कवलाहार के बिना मनुष्य आदि के शरीर की स्थिति चिरकाल तक नहीं रहती। इस कारण यदि केवली के लिए कवलाहार आवश्यक हो, तो केवली में सर्वज्ञता का का निश्चय नहीं हो सकेगा। मनुष्य आदि जो प्राणी कवलाहार करते हैं वे सर्वज्ञ नहीं है। यदि केवली कवलाहार करे तो वह भी अल्पज्ञ हो जाना चाहिए।

इसके उत्तर में श्वेताम्बर कहते हैं—

छद्मस्थ के साथ केवली का जो भेद है वह ज्ञान आदि के कारण है। छद्मस्थों के साथ केवली की समानता और असमानता दोनों हैं। सामान्य मनुष्य जिस प्रकार त्रस पंचेन्द्रिय मनुष्य है इस प्रकार केवली भी त्रस पंचेन्द्रिय और मनुष्य है। शरीरों में भेद हो सकता है, परंतु स्वभाव का

विरोधी भेद नहीं हो सकता। सामान्य जन की अपेक्षा बलवान का शरीर अधिक दिन तक रह सकता है, परंतु वर्षों तक कवलाहार के बिना उसकी स्थिति असंभव है। जहाँ कारण निरंतर उपस्थित रहते हैं वहाँ कार्य निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं। जब तक बत्ती और तेल विद्यमान है वहाँ तक दीपक की ज्वाला उत्पन्न होती रहती है। इसी रीति से जब तक कवलाहार होता रहता है। तब तक शरीर के परिणाम निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं पर्यायों की निरंतर उत्पत्ति कार्य की स्थिति है। बत्ती तेल के बिना जिस प्रकार कुछ काल के अनंतर नष्ट हो जाती है इस प्रकार कवलाहार के बिना कुछ काल के बीतने पर शरीर का विनाश अवश्यंभावी है।

कवलहार के साथ केवलज्ञान का विरोध नहीं है। आहार पर्याप्ति असातवेदनीय कर्म के उदय से कवलाहार होता है। केवलज्ञान के काल में ये कर्म नष्ट नहीं होते। इसलिए केवली कवलाहार कर सकता है। घाति कर्मों का केवलज्ञान के साथ विरोध है। घाति कर्मों के नष्ट हो जाने पर केवलज्ञान होता है, इसलिए केवलज्ञान की दशा में घाति कर्मों का कार्य नहीं हो सकता। कवलाहार घाति कर्मों का कार्य नहीं है, अतः केवलज्ञान के साथ कवलाहार रह सकता है।

मूलम्:–दग्धरज्जुस्थानीयात्ततो न तदुत्पत्तिरिति चेत्: नन्वेवं तादृशादायुषो भवोपग्रहोऽपि न स्यात्।

अर्थः–केवली में आहारपर्याप्ति और असातवेद-

नीय आदि कर्म हैं, परंतु जली हुई रज्जु के समान है, अतः उनके उदय से कवलाहार नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार कहो तो इस प्रकार के आयुकर्म से भव में केवली की स्थिति भी नहीं होनी चाहिए।

विवेचनाः-यदि असातवेदनीय कर्म, जली रज्जु के समान होनेसे कवलाहार को उत्पन्न करने में समर्थ न हो तो आयुकर्म को भी अपना कार्य नहीं उत्पन्न करना चाहिए। उसका कार्य है प्राणों का धारण। आयु कर्म भी भगवान में जली रज्जु के समान है। भगवान प्राणों का धारण करते हैं। जिस प्रकार आयु से प्राणों का धारण होता है, इस प्रकार आहार पर्याप्ति आदि से केवली का कवलाहार भी होता है। इसके अतिरिक्त सातवेदनीय कर्म से भगवान को सुख का अनुभव नहीं होना चाहिए, वह भी जली रज्जु के समान है।

मूलम्:-किञ्च, औदारिकशरीरस्थितिः कथं कवलभुक्तिं विना भगवतः स्यात्। अनन्तवीर्यत्वेन तां विना तदुपपत्तौ छद्मस्थावस्थायामप्यपरिमितबलत्वश्रवणाद् भुक्त्यभावः स्यादित्यन्यत्र विस्तरः।

अर्थः-अन्य हेतु भी है, कवलाहार के बिना भगवान का औदारिक शरीर कैसे रह सकता है? भगवान में अनंतवीर्य है, इसलिए भगवान का शरीर कवलाहार के बिना रह सकता है। यदि इस प्रकार आप कहो तो

छद्मस्थ दशा में भी भगवान का अपरिमित बल सुना जाता है, अतः उस दशा में भी कवलाहार न होना चाहिए। इस विषय में विस्तार अन्य ग्रन्थों में है।

विवेचनाः-आहार के बिना यदि भगवान के शरीर की स्थिति हो सकती हो, तो भगवान जब कर्मों के नाश के लिए तप करते हैं, तब प्राण धारण के लिए भोजन आदि नहीं करना चाहिए। छद्मस्थ दशा में क्षायोपशमिक वीर्य होता है, और केवली दशा में क्षायिक वीर्य होता है। क्षायिक वीर्य के होने पर भी शरीर की स्थिति के लिए भगवान कभी बैठते हैं और कभी खडे हो जाते हैं, अथवा कभी चलते हैं। शरीर की स्थिति के लिए बैठने और उठने आदि का क्षायिक वीर्य के साथ कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार कवलाहार का भी कोई विरोध क्षायिक वीर्य के साथ नहीं है। जब तक भूख है, तब तक उसकी निवृत्ति के लिए आहार आवश्यक है। केवली को भूख लगती है। इसलिए वह कवलाहार करता है। भूख के कारण अन्य प्राणियों के समान केवली के शरीर में विद्यमान भी हैं अतः केवली में भी भूख उत्पन्न होती है। वेदनीय कर्म भूख का कारण है और केवली में विद्यमान है केवली में मोहनीय कर्म का अभाव है। भूख मोहनीय कर्म का कार्य नहीं है और न मोहनीय कर्म का स्वभाव है। अतः मोहनीय के अभाव से भूख का अभाव नहीं हो सकता। अग्नि धूम का कारण है। जहां अग्नि नहीं वहां धूम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मोहनीय कर्म भूख का कारण नहीं है, इसलिए उसका अभाव भूख की उत्पत्ति को नहीं रोक सकता। आम्रवृक्ष का स्वभाव वृक्षत्व और आम्रत्व है। वृक्षत्व व्यापक है और आम्रत्व

व्याप्य है। वृक्षत्व और आम्रत्व में कार्य कारण भाव नहीं है किन्तु व्याप्य-व्यापक भाव है। पाषाण आदि में वृक्षत्व नहीं है और वहाँ आम्रत्व भी नहीं है। मोहनीय और भूख में व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है। जिन स्वभावों में व्याप्य-व्यापक भाव होता है, वे स्वभाव एक अधिकरण में रहते हैं, और उनमें भेदाभेद होता है। वृक्ष एक अधिकरण है, उसमें वृक्षत्व और आम्रत्व रहते हैं। आम्रत्व वृक्षत्व से सर्वथा भिन्न नहीं, और सर्वथा अभिन्न भी नहीं किन्तु भिन्नाभिन्न है। प्रत्यक्ष से एक अर्थ आम्र और वृक्ष रूप में दिखाई देता है। आम्र के समान कोई एक अर्थ नहीं है जो मोहनीय और भूख के रूप में प्रतीत हो। मोह का स्वभाव विरोधी भावना से निवृत्त होता है। क्रोध मोहनीय का भेद है वह क्षमा की भावना से दूर होता है। यदि भूख मोह के स्वभाव से युक्त हो, तो विरोधी भावना से उसकी निवृत्ति होनी चाहिए।

किन्तु भूखरूप पीड़ा की निवृत्ति विरोधी भावना से नहीं होती किन्तु भोजन से होता है। शास्त्र भी भूख की निवृत्ति के लिए विरोधी भावना का उपदेश नहीं करता किन्तु पिंडेषणा का उपदेश करता है। जब साधु महाराज गोचरी के लिए जाते हैं, तब अनेक क्लेश होते हैं, और ध्यान स्वाध्याय आदि में विघ्न होता है। यदि भूख विरोधी भावना से दूर हो सकती हो तो शास्त्र गोचरी के लिए भिन्न-भिन्न घरों में जाने का उपदेश न करते। शीत और उष्ण की पीडा के समान, भूख भी पीडा है, वह मोहरूप नहीं है। यदि भूख मोहरूप हो तो शीत उष्ण की पीड़ा भी मोह रूप होनी चाहिए।

बाह्य और आभ्यंतर कारणों से केवली कवलाहार करता है। भोजन का अभाव बाह्य कारण है, इसमें कोई

मतभेद नहीं है। पर्याप्ति, वेदनीय, तैजस, दीर्घ आयु नामक कर्म आभ्यंतर कारण हैं। शरीर और इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति जिससे होती है वह पर्याप्ति है और नामकर्म का अवान्तर भेद है। सुख दुःख का उत्पादक कर्म वेदनीय है। खाये हुए अन्न के पाक का कारण ऊष्मा रूप तैजस शरीर है उसका कारण तैजस कर्म है। वह भी नाम-कर्म का अवान्तर भेद है। चिरकाल तक जीवन का कारण दीर्घ आयु नाम का कर्म है। इन कर्मों के उदय से भूखरूप पीडा होती है। भगवान केवली में इन कर्मों का उदय है, इसलिए वह कवलाहार करते हैं।

मूलम्:-उक्तं प्रत्यक्षम्।

अर्थः-प्रत्यक्ष कहा जा चुका।

[परोक्ष प्रमाण के लक्षण और उसके पाँच विभाग।]

मूलम्:-अथ परोक्षमुच्यते अस्पष्टं परोक्षम्। तच्च स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्का-ऽनुमा-नाऽऽगमभेदतः पञ्चप्रकारम्।

अर्थः-प्रत्यक्ष के अनन्तर अब परोक्ष कहा जाता है। जो ज्ञान अस्पष्ट है, वह परोक्ष है। उसके पाँच भेद हैं। (१) स्मरण (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान और (५) आगम।

मूलम्:-अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत् तीर्थंकरबिम्बम्।

अर्थः—जो ज्ञान केवल अनुभव से उत्पन्न होता है वह स्मरण है। जिस प्रकार वह तीर्थंकर की प्रतिमा।

विवेचनाः—प्रथम काल में जो ज्ञान होता है, वह अनुभव है। प्रत्यक्ष, तर्क, अनुमिति, और शाब्दबोध-ये अनुभव के भेद हैं। पूर्वकाल के अनुभवों से उत्तरवर्त्ती काल में जो ज्ञान होता है, वह स्मरण है। 'वह वस्तु' इस आकार में स्मरण होता है। जब वह संस्कार जागता है—अपने कार्य की उत्पत्ति के लिए उद्यत होता है तब स्मरण की उत्पत्ति होती है। अनुभव करण है और संस्कार व्यापार है। जिस अर्थ का अनुभव न हुआ हो उस अर्थ की स्मृति नहीं होती। उस अर्थ को देखा था, उस अर्थ का अनुमान किया था, और उस अर्थ के विषय में सुना था, इस रीति से प्रायः स्मरण होता है। इस प्रकार के स्मरणों में जिन अर्थों की स्मृति होती है, उनकी प्रतीति 'वह' इस आकार में होती है। किसी काल में वह' पद के प्रयोग के बिना भी स्मृति होती है। जिस वस्तु का स्मरण हुआ है उसका सबध अतीत काल के साथ है-इस तत्व को 'वह' पद प्रकाशित करता है। जब वह पद का प्रयोग नहीं होता तब अतीत काल का संबंध स्मरण में अन्य रीति से होता है। 'हम गत वर्ष पजाब में गये थे' इस प्रकार के स्मरण में वह पद का प्रयोग नहीं है। परंतु 'गये थे' इत्यादि पदों के प्रयोग से अतीत काल के साथ संबंध स्पष्ट है। इस प्रकार के स्थानो में भी वह पद का प्रयोग हो सकता है।

मूलम्:-न चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात्।

अर्थः-प्रत्यक्ष आदि जिस प्रकार अविसंवादक हैं. इस प्रकार स्मरण भी अविसंवादक है-अतः अप्रमाण नहीं।

विवेचनः गौतमीय न्याय के अनुगामी वैशेषिक बौद्ध और मीमांसक स्मृति को प्रमाण नहीं मानते। उनके मत का निराकरण करने के लिए कहते हैं, जिस हेतु से प्रत्यक्षादि प्रमाण है, वह हेतु स्मरण में भी है इसलिए स्मरण को प्रमाण होना चाहिए। अविसंवाद के कारण प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण कहे जाते हैं जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है उस अर्थ की प्राप्ति अथवा उस अर्थ में अन्य प्रमाण की प्रवृत्ति अविसंवाद है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जब आम्रफल आदि का ज्ञान होता है तब प्रवृत्ति होने पर आम्रफल की प्राप्ति होती है। प्राप्ति के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष से जो अर्थ निश्चित है उस में अनुमान आदिकी प्रवृत्ति होती है, और अनुमान आदिसे जो निश्चित होता है उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है। इस रीति से प्रमाण परस्पर की पुष्टि करते हैं। दो प्रकार का यह अविसंवाद अर्थात् अर्थ प्राप्तिरूप और अन्य प्रमाणों का प्रवृति रूप स्मरण में भी है। जिस स्थान में आम्रफल के होने की स्मृति हुई है, उस स्थान पर जाकर मनुष्य उसको प्राप्त कर लेता है। उस स्थान में आम्रफल प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अर्थ की प्राप्ति और अन्य प्रमाण की प्रवृत्ति रूप अविसंवाद स्मृति में भी है।

मूलम्:-अतीततत्तांशे वर्तमानत्वविषयत्वाद-प्रमाणमिदमिति चेत्, नः सर्वत्र विशेषणं विशेष्यकालभानानियमात्।

अर्थः–शंका करते हैं, 'तत्ता' अंश में अतीतता है. उसकी वर्तमानता स्मृति में प्रतीत होती है, इसलिए स्मृति अप्रमाण है। इसके उत्तर में कहते हैं, यह युक्त नहीं। सब स्थानों में विशेष्य का काल विशेषण में प्रतीत हो, इस प्रकार का नियम नहीं है।

विवेचनाः–स्मृति को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए पूर्व-पक्षी कहता है-जिस ज्ञान का विषय प्रमाण के द्वारा बाधित हो जाता है, वह ज्ञान अप्रमाण होता है। जो घट रक्तवर्ण-वाला है, उसमें श्यामवर्ण की प्रतीति प्रत्यक्ष से बाधित है, अतः वह अप्रमाण है। 'वह वृक्ष है' इस प्रकार की स्मृति होती है। यहाँ पर 'वह' अंश वृक्ष की अतीतता को प्रकाशित करता है। और 'है' अंश उसकी सत्ता को वर्तमानकाल में प्रकाशित करता है। इस रीति से जो अतीत है, उसकी वर्तमानता स्मृति में प्रतीत होती है। अतीत की वर्तमानता प्रत्यक्ष से बाधित है। बाधित विषय से युक्त होने के कारण स्मरण अप्रमाण है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है-पूर्वकाल में वृक्ष का अनुभव हुआ था इसलिए अतीतकाल के साथ वृक्ष का संबंध 'वह' अंश से प्रकट होता है। वृक्ष वर्तमानकाल में है, इसलिए उसके साथ वर्तमानकाल का संबंध प्रतीत होता है। अतीत और वर्तमान दोनों कालों के साथ वृक्ष का सबंध है, इसमें प्रत्यक्ष और अनुमान का कोई विरोध नहीं है। अतीत की प्रत्यक्षता का विरोध प्रत्यक्ष प्रमाण करता है, पर स्मरण में अतीत प्रत्यक्ष रूप से नहीं प्रतीत होता।

इस पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है–'वह वृक्ष है' इस आकार की प्रतीति में 'वह' विशेषण है और 'वृक्ष' विशेष्य है। विशेष्य का जो काल है उस काल का संबंध विशेषण के साथ होता है। यह पुरुष दंडी है यह ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। इसमें दण्ड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है। विशेष्य पुरुष का संबंध वर्तमानकाल के साथ है। इस वर्तमानकाल का संबंध विशेषण दण्ड के साथ भी प्रतीत होता है। पुरुष के समान दण्ड भी वर्तमानकाल में प्रतीत होता है। इस कारण वह वृक्ष है इस आकार के स्मरण में विशेष्य वृक्ष के साथ जिस प्रकार वर्तमानकाल का संबंध है, इस प्रकार 'वह' रूप विशेषण से अतीतकाल की जो प्रतीति होती है उसके साथ वर्तमानता का संबंध प्रतीत होता है।

परन्तु यह आक्षेप युक्त नहीं है। जहाँ पर कोई बाधक न हो तो विशेष्य का जो काल है उसका संबंध विशेषण के साथ प्रतीत हो सकता है। वहाँ पर विशेषण और विशेष्य दोनों का एक काल प्रतीत होता है। परंतु जहाँ पर बाधक प्रमाण हो तो दोनों का काल भिन्न रहता है। पूर्वकाल में जो दण्डी था वह अब दण्ड रहित है इस प्रकार की प्रतीति में विशेष्य पुरुष के साथ वर्तमानकाल का संबंध प्रतीत होता है, परंतु दण्ड के साथ नहीं प्रतीत होता। दण्ड अतीतकाल में प्रतीत होता है। जब वह वृक्ष है' इस प्रकार का स्मरण होता है तब विशेषण के साथ वर्तमानकाल का संबंध नहीं प्रतीत होता। 'वह' इस प्रकार का उल्लेख अतीतकाल के साथ संबंध को प्रकट करता है। जो अतीत है वह वर्तमान नहीं है, अतः यह उल्लेख अतीतकाल को वर्तमान रूप में नहीं प्रकट करता। अतीत और वर्तमान इन दोनों

कालों के साथ वृक्ष का संबंध है। स्मरण केवल अतीतकाल के साथ वृक्ष के संबंध को प्रकट करता है और प्रत्यक्ष के द्वारा वर्तमानकाल के साथ संबंध प्रकट होता है। अतः स्मरण का विषय प्रमाण से बाधित नहीं है, अतः स्मरण प्रमाण है।

'वह वृक्ष है' इस प्रतीति में 'वह वृक्ष' इतना अंश ही स्मरणरूप है। 'है' अंश स्मृतिरूप नहीं है अतः विशेष्य के साथ वर्तमानकाल के संबंध को स्मृति नहीं प्रकट करती। वर्तमानकाल स्मृति का विषय नहीं है, इसलिए उसमें स्मृति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

मूलम्:-अनुभवप्रमात्वपारतन्त्र्यादप्रामात्वमिति चेत्, मैवम्; अनुमितेरपि व्याप्तिज्ञानादिप्रमात्वपारतन्त्र्येणाप्रमात्वप्रसङ्गात्।

अर्थः—स्मृति का प्रामाण्य अनुभव के प्रामाण्य के अधीन है इसलिए स्मृति अप्रमाण है, इस प्रकार यदि आप कहें तो युक्त नहीं है ; इस रीति से जो अप्रामाण्य होता हो, तो अनुमिति का प्रामाण्य भी व्याप्तिज्ञान के प्रामाण्य पर आश्रित है,—इसलिए उस में भी अप्रामाण्य आ जायगा।

विवेचनाः—अनुभव से स्मरण उत्पन्न होता है, इसलिए अनुभव के अनुसार स्मरण विषय को प्रकाशित करता है। जब अनुभव प्रमाण हो तो स्मरण प्रमाण रूप में और जब अनुभव अप्रमाण हो तो स्मरण अप्रमाण रूप में प्रकट होता

है। स्मरण का प्रामाण्य अनुभव पर आश्रित है. अतः स्मरण प्रमाण नहीं, इस प्रकार का आक्षेप युक्त नहीं है।

यद्यपि अनुभव पर आश्रित होकर स्मरण अर्थ को प्रकाशित करता है, तो भी मिथ्यारूप में नहीं प्रकट करता। मिथ्या रूप में अर्थ का प्रकाशन अप्रामाण्य का मूल कारण है। इसके न होने पर ज्ञान में अप्रामाण्य नहीं हो सकता। अनुभव जब सर्वथा स्वतंत्र होकर अर्थ को मिथ्या रूप में प्रकाशित करता है, तब वह अप्रमाण कहा जाता है। यदि अन्य की अपेक्षा का अभाव प्रामाण्य का कारण हो तो मिथ्या अनुभव भी प्रमाण होना चाहिए। स्वयं दुबल होनेसे अन्य पुरुष की अथवा दंड की सहायता से यदि कोई खडा हो तो, वह खडा हुआ ही समझा जाता है। वह बैठा हुआ नहीं माना जाता। अन्यकी अपेक्षा खडे होनेके स्वरूप को नहीं दूर करती। अनुभव की अपेक्षा भी स्मरण के प्रामाण्य को दूर नहीं कर सकती। व्याप्तिज्ञान से अनुमिति उत्पन्न होती है। यदि व्याप्तिज्ञान प्रमारूप हो तो अनुमिति प्रमात्मक होती है। व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा करने से अनुमिति अप्रमाण नहीं हो जाती। अनुमिति के समान स्मरण भी अनुभव की अपेक्षा होनेसे अप्रमाण नहीं है।

मूलम्:-अनुमितेरुत्पत्तौ परापेक्षा, विषय-परिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यमिति चेत्, नः स्मृतेरप्युत्पत्तावेवानुभवसव्यपेक्षत्वात्, स्वविषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यात्।

अर्थः-अनुमिति केवल उत्पत्ति में पर की अपेक्षा करती है परन्तु विषय के प्रकाशन में स्वतन्त्र है। यदि

आप इस रीति से कहो तो वह युक्त नहीं। स्मृति भी अपनी उत्पत्ति में ही अनुभव की अपेक्षा करती है, अपने विषय के ज्ञान में वह भी स्वतन्त्र है।

विवेचना:—साध्य के साथ नियत संबंध के कारण हेतु अनुमिति को उत्पन्न करता है। उत्पन्न होनेके अनन्तर अनुमिति स्वतन्त्र रूप से साध्य को प्रकाशित करती है, इस कारण यदि आप अनुमिति को प्रमाण कहो तो; आपका आक्षेप स्मृति के विषय में युक्त नहीं रहता। स्मृति भी उत्पत्ति में हां अनुभव की अपेक्षा करती है, परंतु अपने विषय के प्रकाशन में स्वतंत्र है। धूम का अग्नि के साथ नियत संबंध निश्चित है, इसलिए स्थान विशेष में धूम को देखकर अग्निरूप साध्य की अनुमिति होती है उत्पन्न होनेके अनन्तर साध्यरूप अग्नि के प्रकाश में अनुमिति धूम के साथ अपने संबंध की अपेक्षा नहीं करती। अन्य दीपक अपनी उत्पत्ति में जलते दीपक की अपेक्षा करता है। परंतु प्रज्वलित हो चुकने पर अर्थ के प्रकाशित करने में अपने उत्पादक दीपक की अपेक्षा नहीं करता। अर्थों के प्रकाशन में उत्पादक के समान उत्पन्न दीपक भी स्वतन्त्र है। उत्पादक दीपक यदि नष्ट हो जाय तो भी उत्पन्न दीपक अर्थ को प्रकाशित करता ही है। स्मरण अनुभव से उत्पन्न होता है। इस विषय में विवाद नहीं। परंतु जब स्मरण उत्पन्न होता है तब उससे बहुत पहले अनुभव का नाश हो चुका था। अब स्मरण अपने विषय के प्रकाशन में सर्वथा स्वतन्त्र है।

मूलम्—अनुभवविषयीकृतभावावभासिन्याः स्मृतेर्विषयपरिच्छेदेऽपि न स्वातन्त्र्य-

मिति, चेत्, तर्हि व्याप्तिज्ञानादिविषयीकृतानर्थान् परिच्छिन्दत्या अनुमितेरपि प्रामाण्यं दूरत एव।

अर्थः—अनुभव के द्वारा जिन विषयों का प्रकाशन होता है उन्ही विषयों को स्मृति प्रकाशित करती है, इसलिए विषय के प्रकाशन में भी स्मृति स्वतन्त्र नहीं है। यदि आप इस प्रकार कहो तो व्याप्ति ज्ञान आदि जिन विषयों को प्रकाशित करता है, उन्हीको अनुमिति भी प्रकाशित करती है, इस कारण अनुमिति का भी प्रामाण्य दूर हो जायगा।

विवेचना—अनुभव जिन जिन विषयों को प्रकाशित करता है उन उन को ही स्मृति प्रकाशित कर सकती है। विषय के जिस अंश का प्रकाशन अनुभव में नहीं उसका प्रकाशन स्मृति नहीं कर सकती। इस कारण स्मरण अपने प्रकाशन में भी पराधीन कहा जाय तो अनुमिति को भी पराधीन मानना पडेगा। व्याप्ति ज्ञान आदि से जिन जिन विषयों का प्रकाशन होता है, उन उन विषयों का ही अनुमिति प्रकाशन करती है।

मूलम्—नैयत्येनाऽभात एवार्थोऽनुमित्या विषयीक्रियत इति चेत्; तर्हि तत्तयाऽभात एवार्थः स्मृत्या विषयीक्रियत इति तुल्यमिति न किञ्चिदेतत्।

अर्थः—जो अर्थ नियत देश काल में प्रतीत नहीं हुआ उसको अनुमिति प्रकट करती है, यदि आप इस प्रकार कहो तो जो अर्थ 'वह' रूप में प्रतीत नहीं हुआ, उसको स्मृति प्रकट करती है, इस रीति से समानता है, अतः आक्षेप युक्त नहीं।

विवेचनाः-सामान्य रूप से हेतु और साध्य का संबंध निश्चित हो तो उत्तरकाल में अनुमिति होती है। परंतु नियत देश और काल में संबंध के ज्ञान से साध्य की प्रतीति नहीं होती। अनुमिति नियत देश और काल में साध्य की प्रतीति कराती है। धूम और अग्नि की व्याप्ति के ज्ञान से पर्वत आदि नियत देश में और वर्तमानकाल में अग्नि की प्रतीति नहीं होती। यह कार्य अनुमिति का है इसीलिए अनुमिति प्रमा है। इसके समान स्मृति भी उन्हीं विषयों को प्रकाशित कर सकती है जो विषय पूर्वकाल में अनुभव से प्रकाशित हो चुके थे। एक बार प्राचीन अनुभव के नष्ट होने पर उत्तरकाल में फिरसे जो अनुभव होता है, वह पूर्वकाल के साथ अर्थ को नहीं प्रकाशित कर सकता। यह कार्य स्मरण का है। जिन वस्तुओं को मैं देखता हूँ, वे नवीन हैं, अथवा पूर्वकाल में मैंने जिनको देखा था वही हैं, इस प्रकार के अवसर पर पूर्वकाल के संबंध का ज्ञान आवश्यक होता है और उसका ज्ञान वर्तमानकालीन अनुभव से नहीं हो सकता। इस अपेक्षा के कारण स्मृति भी वर्तमानकालीन अनुभव से अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित करती है। प्राचीन-काल का अनुभव अर्थ के साथ प्राचीनकाल के संबंध को प्रकाशित करता है। वर्तमानकाल का अनुभव अर्थ के साथ

वर्तमानकाल के संबंध को प्रकाशित करता है। वर्तमान-काल में अर्थ के साथ प्राचीनकाल के संबंध को प्रकाशित करने का सामर्थ्य इन दोनों में से किसी भी एक अनुभव में नहीं है. इस कार्य में स्मरण समर्थ है यह स्मरण का स्वतन्त्र कार्य है।

अनुमिति भी व्याप्ति की स्मृति की अपेक्षा रखती है। धूम और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण यदि न हो तो पर्वत में अग्नि की अनुमिति नहीं हो सकती। इस रीति से अनुमिति का प्रामाण्य स्मृति के ऊपर आश्रित है। यदि स्मृति अप्रमाण हो तो अनुमिति प्रमाण नहीं हो सकती। अनुमिति से भिन्न स्थलों में स्मृति प्रामाण्य के लिए जिस प्रकार अनुभव की अपेक्षा रखती है. इस प्रकार अनुमिति भी अनुमिति के स्थल में व्याप्ति की स्मृति के प्रामाण्य की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार स्मृति उत्पत्ति में यदि अनुभव की अपेक्षा रखती है, तो अनुमिति रूप अनुभव भी उत्पत्ति के लिए स्मृति की अपेक्षा करता है। अतः अनुभव के समान स्मृति भी प्रमाण है।

[प्रत्यभिज्ञान का निरूपण]

मूलम्:–अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वता-सामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्य-भिज्ञानम्।

अर्थः–अनुभव और स्मृति जिसको उत्पन्न करती है, तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य आदि जिसका विषय है, और संकलन जिसका स्वरूप है, वह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है।

विवेचनाः-अनुभव और स्मरण मिलकर संकलन स्वरूप एक ज्ञान को उत्पन्न करते है । इसके द्वारा प्रत्यभिज्ञान के कारण का निर्देश हुआ है । तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य आदि प्रत्यभिज्ञान का विषय है । अनुभव और स्मरण के जो विषय हैं, उनमें विशेषण-विशेष्यभाव का प्रकाशक सङ्कलन स्वरूपज्ञान प्रत्यभिज्ञान है, अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का असाधारण स्वरूप संकलन है । किसी प्रत्यभिज्ञान का विषय तिर्यक् सामान्य होता है और किसी प्रत्यभिज्ञान का विषय ऊर्ध्वता सामान्य होता है । सादृश्य-विलक्षणता-दूरता-समीपता-ऊंचाई और नीचाई आदि धर्म भी प्रत्यभिज्ञान के विषय हैं । भिन्न देश काल में रहने वाली वृक्ष आदि व्यक्तियों में समान आकारवाला परिणाम, वृक्षत्व आदि सामान्य है । यह तिर्यक् सामान्य कहा जाता है । कुंडल-कंकण आदि पूर्वापर पर्यायों में एक अनुगत सुवर्ण आदि द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है ।

मूलम्:-यथा 'तज्जातीय एवायं गोपिण्डः' 'गो-सदृशो गवयः' 'स एवायं जिनदत्तः' 'स एवा-नेनार्थः कथ्यते' 'गोविलक्षणो महिषः' 'इदं तस्माद् दूरम्' 'इदं तस्मात् समीपम्' 'इदं तस्मात् प्रांशु ह्रस्वं वा' इत्यादि ।

अर्थः-जिस प्रकार यह गौ उसी जाती की है, गवय गौ के समान होता है, यह वही जिनदत्त है, वही अर्थ इसके द्वारा कहा गया है, भैंस गौ से विलक्षण है; यह

उससे दूर है, यह उससे समीप है, यह उससे ऊंचा अथवा नीचा है—इत्यादि ।

विवेचनाः—पूर्वकाल में किसी गौ को देख चुकने पर पीछे कोई अन्य गाय जब देखने में आती है तब पहले देखी हुई गौ का स्मरण करके 'यह गौ उसी जाती की है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। पहले की देखी गौ में जिस प्रकार का आकार था इस प्रकार का आकार सामने खड़ी गौ में दिखाई देता है। यह समान आकाररूप परिणाम गोत्व जाति है। यही जाति तिर्यक् सामान्य कही जाती है। सामने खड़ी गौ में इस सामान्य का ज्ञान होता है।

जब सामने गवय होता है और उसमें पहले देखी हुई गौ के समान आकार दिखाई देते हैं, तब सादृश्य का प्रकाशक प्रत्यभिज्ञान होता है।

यह वही जिनदत्त है—इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान में ऊर्ध्वता सामान्य का ज्ञान होता है पांच छे वर्ष पहले जिस जिनदत्त को देखा था, उसी को जब फिर देखता है, तब यह वही जिनदत्त है इस प्रकार का ज्ञान होता है। पहले देखे और पीछे देखे शरीर में भेद है। इन दोनों शरीरों में अनुगत एक शरीर द्रव्य है। यह द्रव्य रूप ऊर्ध्वता सामान्य को लेकर होनेवाला प्रत्यभिज्ञान है।

पूर्वकाल का कोई एक पुरुष जिस अर्थ को कहता है उस अर्थ में जो जाति है। वही जाति वर्तमानकाल के किसी अर्थ में भी हो सकती है। भिन्न काल के अर्थ दो भिन्न व्यक्ति हैं, परंतु इनकी जाति एक है। जब व्यक्तिओं के भिन्न होने पर भी वर्तमानकाल के अर्थ को पूर्वकाल में देखे हुए अर्थ को जाति से युक्त कहा जाता है,

तो जाति का प्रत्यभिज्ञान होता है। इस प्रकार की जाति के प्रत्यभिज्ञान में जो जाति होती है। वह तिर्यक् सामान्य कही जाती है। पहले किसी मनुष्य ने एक आम्रवृक्ष को देखा। वही मनुष्य कुछ समय के बीत जाने पर अन्य आम्रवृक्ष को देखे तो उसको यह आम्र भी उसी आम्र जाति का है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता हैं। देखनेवाला दोनों आम्रों के व्यक्तिभेद को जानता है और उस जाति को एक समझता है। यह प्रत्यभिज्ञान वृक्षत्वरूप तिर्यक्सामान्य को प्रकाशित करता है।

जब कोई मनुष्य एक स्थान पर आम्रवृक्ष को देखकर फिर तीन चार वर्ष के अनन्तर उसी आम्रवृक्ष को देखे तो–यह वही आम्र वृक्ष है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। यह प्रत्यभिज्ञान आम्र के विषय में है तो भी पहले उदाहरण के प्रत्यभिज्ञान से भिन्न है। पहले उदाहरण में दो आम्रवृक्ष थे। इस उदाहरण में आम्र वृक्ष वही एक है। इसलिए यहाँ पर तिर्यक्सामान्य का ज्ञान नहीं है। तीन वर्ष पहले जो आम्र था उसका आकार छोटा था। अब उसका आकार बड़ा हो गया है। लंबाई चौड़ाई अधिक हो गई है शाखा-पत्र आदिके पर्यायों में भेद हो जाने पर भी वृक्ष रूप एक द्रव्य-प्रतीत होता है। इसलिए यहां पर वृक्षरूप ऊर्ध्वता सामान्य का प्रत्यभिज्ञान है। यहां पर व्यक्ति एक है इसलिए तिर्यक् सामान्य प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं है।

जब कोई भैंस को जानने की इच्छा करे और अन्य मनुष्य कहे यह सामने गौ आदिका झुंड है इसमें गौओं

से जो विलक्षण है वह भैंस है । तब सुननेवाले को जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है और उसका विषय विलक्षणता है।

परस्पर की अपेक्षा से वस्तुओं में दूर और समीप का ज्ञान होता है। अनुभव और स्मृति इन दोनों से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान है।

इस प्रकार के समस्त ज्ञानों में अनुभव और स्मरण का संबंध है।

मूलम्:-तत्तेदन्तारूपस्पष्टास्पष्टाकारभेदान्नैकं प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमस्तीति शाक्यः ।

अर्थः-बौद्ध कहते हैं-प्रत्यभिज्ञान में दो आकार प्रतीत होते हैं, स्पष्ट और अस्पष्ट । इनमें 'वह' आकार अस्पष्ट हैं और 'यह' आकार स्पष्ट है। आकार भेद के कारण प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप एक नहीं है ।

विवेचना:-जहाँ विरोधी धर्मों का संबंध होता है, वहां वस्तु एक नहीं होती । शीत और उष्ण इन दो विरोधी धर्मों की प्रतीति एक वस्तु में नहीं हो सकती । शीत स्पर्शवाली वस्तु जल है और उष्ण स्पर्शवाली वस्तु अग्नि है । पहले जाने हुए पदार्थ में यह वही अर्थ है इत्यादि रूप से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान में शीत और उष्ण स्पर्श के समान दो विरोधी आकार हैं । 'वह' आकार अस्पष्ट है और 'यह' आकार स्पष्ट है। स्पष्ट और अस्पष्टरूप दो विरोधी आकारों के साथ सबंध होने से यह ज्ञान एक नहीं हो सकता।

मूलम्–तन्न, आकारभेदेऽपि चित्रज्ञानवेदकस्यैतस्यानुभूयमानत्वात्, स्वसामग्रीप्रभवस्यास्य वस्तुतोऽस्पष्टैकरूपत्वाच्च, इदन्तोल्लेखस्य प्रत्यभिज्ञा निबन्धनत्वात्।

अर्थः–वह कथन युक्त नहीं है। आकार में भेद होने पर भी जिस प्रकार चित्रज्ञान एक है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान नामक ज्ञान की प्रतीति भी एक रूप में होती है और वास्तव में अपनी सामग्री से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञान अस्पष्टरूप एक आकारवाला है। इसमें 'इदम्'–यह का उल्लेख प्रत्यभिज्ञान का कारण है।

विवेचनाः–भिन्न धर्मियों में जो विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं, वे यदि एक धर्मी में प्रतीत हों तो एक काल में नहीं प्रतीत होते, जल जब शीतल प्रतीत होता है तब उष्ण नहीं प्रतीत होता। जल में प्रवेश करनेवाले, अग्नि के परमाणु जब बाहर निकल जाते हैं, तब जल शीतल प्रतीत होता है। अग्नि सदा उष्ण ही प्रतीत होता है। जो जल पूर्वकाल में उष्ण प्रतीत हुआ था वह पीछे केवल शीत स्पर्श के साथ प्रतीत होता है। एक काल में शीत और उष्ण दोनों स्पर्शों की प्रतीति एक वस्तु में नहीं होती। परन्तु जब एक काल में एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों की प्रतीति होती है तब धर्मों में भेद होता है परंतु धर्मी में भेद नहीं होता। एक ही मणि जब चित्ररूपवाली प्रतीत होती है तब नील पीत-रूप में और पीत नीलरूप में प्रतीत नहीं होता, परंतु नील और पीत एक काल में एक ही मणि

में प्रतीत होते हैं। चित्रज्ञान के समान प्रत्यभिज्ञान में 'वह' और 'यह' इस प्रकार के अस्पष्ट और स्पष्ट आकार प्रतीत होते हैं। दर्शन और स्मरण परस्पर विरोधी होने पर भी एक प्रत्यभिज्ञान के कारण हैं। इन कारणों के साथ प्रत्यभिज्ञान का भेद और अभेद है-सर्वथा भेद नहीं है। जिस प्रकार चित्र ज्ञान एक है और उस में नील पीत आकारों का भेदाभेद है, इस प्रकार एक प्रत्यभिज्ञान का स्पष्ट और अस्पष्ट आकारों के साथ भेदाभेद है।

बौद्धों के आक्षेप का इस रीति से उत्तर देने पर प्रत्यभिज्ञान को एक ज्ञान माना जाता है, और स्पष्ट अस्पष्ट दो परस्पर विरोधी आकारों के साथ सबंध भी स्वीकार किया जाता है। वास्तव में तो एक प्रत्यभिज्ञान के स्पष्ट और अस्पष्ट दो आकार नहीं हैं। अपनी कारण सामग्री से प्रत्यभिज्ञान अस्पष्ट रूप में ही उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान में इदन्ताका अर्थात् 'यह' का जो उल्लेख है वह प्रत्यभिज्ञान के स्वभाव के कारण है। वह आकार भी प्रत्यभिज्ञान के अस्पष्ट आकार में अन्तर्भूत है। केवल अस्पष्ट आकारवाला होने से प्रत्यभिज्ञान एक ही ज्ञान है।

मूलम्:-विषयाभावान्नेदमस्तीति चेत्; नः; पूर्वापरविवर्त्तवर्त्यकद्रव्यस्य विशिष्टस्यैतद्विषयत्वात्।

अर्थः--विषय नहीं है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान नामक कोई अतिरिक्त ज्ञान नहीं है, यदि आप इस प्रकार कहो तो वह युक्त नहीं। पूर्व और अपर पर्यायों में रहनेवाला विशिष्ट एक द्रव्य इस ज्ञान का विषय है।

विवेचनाः—यह वही है. इस रीति से जब ज्ञान होता है तब वस्तु के साथ पूर्वदेश और पूर्वकाल के समान वर्तमानकाल और समीपवर्ती देश के साथ संबंध भी प्रतीत होता है। जब वस्तु का संबंध पूर्वदेश और काल के साथ था तब वस्तु भिन्न थी, जब वर्तमानकाल और समीप देश के साथ संबंध होता है तब वस्तु भिन्न है। इस प्रकार की कोई एक वस्तु नहीं है जिसका पूर्व और पर देश काल के साथ संबध हो सके। प्रतिक्षण वस्तु भिन्न होती है। पूर्वकाल में प्राचीन प्रत्यक्ष था, अब वर्तमान प्रत्यक्ष है। वर्तमान प्रत्यक्ष के साथ स्मरण है। इतना भेद प्राचीन और वर्तमान प्रत्यक्ष में है. स्मरण का विषय अतीत वस्तु है और वर्तमान वस्तु प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार की कोई एक वस्तु नहीं है, जो प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों का विषय हो सके। एक रूप के साथ वस्तु अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु परमार्थ में वह एक नहीं है।

पूर्व और परकाल में नदी के प्रवाह को देखकर यह वही नदी है इस रीति से प्रतीति होती है। पानी की बूंदों का समूह प्रवाह है पूर्वकाल में बूंदों का जो समूह था वह आगे चला गया। उसके स्थान को दूसरा समूह लेता है। प्रवाहों में सर्वथा भेद होने पर भी यह वही प्रवाह है, इस रीति से एकता का ज्ञान होता है। प्रवाहों में समानता है एकता नहीं। एकता का ज्ञान भ्रान्त है। इस रीति से भेद रहित किसी एक वस्तु के न होनेके कारण ज्ञान की एकता का प्रकाशक प्रत्यभिज्ञान वास्तव में एक ज्ञान ही नहीं है दो ज्ञान हैं स्मरण और प्रत्यक्ष। समान वस्तुओं के साथ उनका संबंध है, इसलिए वे दोनों प्रकार के ज्ञान एकरूप में प्रतीत होते हैं। यह बौद्धों का आक्षेप है।

सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहता है-स्मरण का संबंध पूर्व देश काल के साथ है और वर्तमान देश काल के साथ अनुभव का संबंध है। पूर्व और पर दोनों देश कालों के साथ प्रत्यभिज्ञान का सबध है. प्रत्यभिज्ञान अनुभव और स्मृति का समूह रूप नहीं है, किन्तु अनुभव और स्मृति से भिन्न ज्ञान है। उसका विषय भी एक है जो पूर्व और पर पर्यायों में अनुगत है। पर्यायों का विनाश प्रतिक्षण होता है, परंतु द्रव्य का विनाश क्षण क्षण में नहीं होता। पर्यायों के समान यदि द्रव्य का नाश क्षण में हो जाय तो उत्तरवर्ती क्षण में अन्य पर्याय की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। पर्यायों में भेद है उनमें समान आकार के कारण एकता की भ्रान्त प्रतीति होती है। परंतु भिन्न पर्यायों में स्थिर रहनेवाले एक द्रव्य का ज्ञान एकता के विषय में भ्रान्त नहीं है। पर्यायों के साथ द्रव्यका भेद और अभेद है। द्रव्य पर्यायों से भिन्न ही नहीं अभिन्न भी प्रतीत होता है। यह अभिन्न एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान का विषय है। पर्यायों की भिन्नता युक्ति से सिद्ध है, इसलिए उनकी एकता का ज्ञान भ्रान्त है। परंतु द्रव्य की अभिन्नता युक्तिसिद्ध है, इसलिए उसकी एकता का ज्ञान भ्रान्त नहीं। बाधित विषय में ज्ञान अप्रमाण होता है। जो विषय अबाधित है उसका ज्ञान अप्रमाण नहीं हो सकता। अतः प्रत्यभिज्ञान अनुभव और स्मृति से भिन्न है और प्रमाणभूत है।

मूलम्:-अत एव 'अगृहीतासंसर्गकमभव-स्मृतिरूपं ज्ञानद्वयमेवैतद्, इति निरस्तम्; इत्थं सति विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदापत्तेः।

अर्थः-इसीलिए एक अन्य मत का भी खंडन हो जाता है। इस अन्य मत के अनुसार प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान नहीं है; किन्तु अनुभव और स्मरण रूप दो ज्ञानों के रूप में है। जिनमें असंसर्ग का ज्ञान न हो इस प्रकार के अनुभव और स्मरण दो होने पर भी प्रत्यभिज्ञान इस एक नाम से कहे जाते हैं। इस मत का खंडन करने वाला कहता है-इस रीति से यदि प्रत्यभिज्ञान दो ज्ञानों के रूप में हो, तो समस्त विशिष्ट ज्ञानों का विनाश हो जायगा।

विवेचनाः-प्रभाकर मत के अनुगामी लोग कहते हैं-अनुभव और स्मरण रूप दो ज्ञानों का एक नाम प्रत्यभिज्ञान है। दो ज्ञानों में जो भेद है, उसका ज्ञान न होनेसे एकता की प्रतीति होती है। वस्तु एक है पर उसके भिन्न भिन्न कालों में विरोधी धर्मों का संबंध होता है। जो विरोधी धर्म एक काल में एक वस्तु में नहीं रह सकते; वे भिन्न काल में एक वस्तु में रह सकते हैं। हरित रूप और पीत रूप परस्पर विरोधी हैं। वे एक काल में एक वस्तु में नहीं रह सकते। परंतु काल भेद से वे एक वस्तु में रह सकते हैं। आम्रवृक्ष का जो फल पूर्व काल में हरित था, वही पीछे पीत वर्णवाला हो जाता है। इसी रीति से पूर्व देश काल के साथ वस्तु का जो संबंध है वह वर्तमान देश काल के संबंध से भिन्न है। एक काल में एक वस्तु में अतीत और वर्तमान देश काल का संबंध नहीं हो सकता। काल भेद से परस्पर विरोधी देश काल

का संबंध एक वस्तु में हो सकता है । आम्र का फल एक है, उसका अतीतकाल और अतीतदेश वर्तमान काल और देश से भिन्न है । एक ही काल में फल का अतीत और वर्तमान के साथ संबंध असंभव है । काल भेद से इस संबंध में कोई विरोध नहीं है । एक ही फल का अतीत काल में अतीत-काल और देश के साथ संबंध था और वर्तमान काल में वर्तमानकाल और देश के साथ संबंध है। अतीत के साथ संबंध को जो प्रकट करता है वह ज्ञान स्मरण रूप है । जो वर्तमान के साथ संबंध को प्रकट करता है, वह अनुभव है । एक वस्तु के साथ स्मरण और अनुभव का संबंध है और भिन्नरूप होने पर भी विशिष्ट रूप में दोनों एक प्रतीत होते हैं । दण्ड भिन्न है और पुरुष भिन्न है, परंतु जब पुरुष हाथ में दण्ड धारण करता है तब दण्डी पुरुष के रूप में प्रतीति होती है। अनुभव और स्मरण परस्पर भिन्न हैं और उन दोनों का संबंध एक वस्तु के साथ है । भेद होने पर भी भेद की प्रतीति नहीं होती। इस रीति से प्रभाकर मत के अनुगामी प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मरण रूप दो ज्ञानों की सत्ता को प्रकट करते हैं।

सिद्धान्ती कहता है–अनुभव और स्मरण दो ज्ञान हैं और उनका स्वरुप भी भिन्न है, परन्तु जब प्रत्यभिज्ञान होता है तब केवल अनुभव और स्मरण नहीं होते, किन्तु उन दोनों से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञान नाम का तृतीय ज्ञान होता है। अकेले स्मरण अथवा अकेले अनुभव में जो सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य इन दोनों से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञान में है ।

जैन मत के अनुसार वस्तु द्रव्यरूप से स्थिर है। उसके साथ अतीत और वर्तमान देश काल का संबंध हो सकता है।

परस्पर विरोधी देशकाल से विशिष्ट एक वस्तु की प्रतीति को अनुभव और स्मरण उत्पन्न नहीं कर सकते। विषय के भेद से ज्ञान भिन्न होते हैं। नील और पीत भिन्न हैं, इसलिए इनके प्रकाशक ज्ञान भिन्न हैं। स्मरण का विषय अतीत देशकाल है और अनुभव का विषय वर्तमान देश-काल है। अतीत और वर्तमान देश काल से विशिष्ट वस्तु केवल अतीत और केवल वर्तमान से भिन्न है। विशिष्ट बुद्धि विशेषण विशेष्य और इन दोनों का संबंध इन तीन वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित करती है। तीनों अर्थ परस्पर भिन्न हैं, परंतु विशिष्टरूप से एक हैं। इस रीति से विशिष्ट अर्थ तीन वस्तुओं से भिन्न है। परस्पर विरोधी देशकाल से विशिष्ट एक वस्तु का प्रकाशक प्रत्यभिज्ञान अनुभव और स्मरण से भिन्न है। इस रीति से प्रत्यभिज्ञान को यदि स्मरण और अनुभव से भिन्न स्वीकार न किया जाय तो जितने विशिष्ट ज्ञान हैं उन सब की एकता नष्ट हो जायगी।

दण्ड विशिष्ट पुरुष का ज्ञान भी तब दण्ड ज्ञान और पुरुषज्ञान इन दोनों ज्ञानों के रूप में हो जायगा। इन दोनों से भिन्न उसकी सत्ता नहीं सिद्ध होगी। दण्ड और पुरुष का समूह रूप में जब समूहालंबन ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान में दण्ड और पुरुष दोनों प्रकाशित होते हैं। 'दण्डी पुरुष' यह ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। समूहालंबन ज्ञान से उसका भेद स्पष्ट है। अनुभव से सिद्ध विशिष्ट ज्ञान को यदि केवल विशेषण और केवल विशेष्य के ज्ञान से भिन्न माना जाय तो परस्पर विरोधी देश कालों से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशक प्रत्यभिज्ञान को भी अनुभव और स्मरण से भिन्न स्वीकार करना चाहिए। अनुभव और स्मरण केवल विशेषण के प्रकाशक हैं, विशिष्ट के प्रकाशक नहीं।

मूलम्:–तथापि 'अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रत्यक्षरूपमेवेदं युक्तम्' इति केचित्,

अर्थः–कुछ लोग कहते हैं, इन्द्रिय के साथ प्रत्यभिज्ञान के अन्वय और व्यतिरेक हैं, इसलिए यह प्रत्यक्ष ही है।

विवेचना:–इन्द्रिय के द्वारा जो उत्पन्न होता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। रूप, रस, गन्ध, आदिका ज्ञान इन्द्रियों से होता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष है। "वही यह फल है" इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान इन्द्रिय के बिना नहीं होता। इस ज्ञान के 'वही' अंश में स्मरण है। 'यह' इतने अंश में प्रत्यक्ष है। इस प्रकार आप भी मानते हो। इसलिए पूर्व काल के स्मरण की और उत्तर काल के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति स्पष्ट है। स्मरण के अनन्तर उत्पन्न होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रत्यक्षभाव दूर नहीं हो सकता। स्मरण से पूर्वकाल में अथवा स्मरण से उत्तरकाल में अर्थ के साथ इन्द्रिय के संबंध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष ही है। कुमारिल भट्ट के अनुगामी और नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को इस रीति से प्रत्यक्ष ज्ञान रूप कहते हैं।

मूलम्:–तन्न; साक्षादक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यासिद्धेः, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्प्रत्यक्षस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनानुभूयमानत्वात्, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेऽप्युत्पत्तिप्रसंगात्।

अर्थः—प्रत्यभिज्ञान में इन्द्रियों के साथ साक्षात् अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता । प्रत्यक्ष और स्मरण इन दो ज्ञानों के साथ साक्षात् अन्वय और व्यतिरेक का अनुभव होता है । यदि इस प्रकार न हो तो अर्थ जब पहली बार दिखाई दे तब भी प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति हो जानी चाहिए ।

विवेचनाः—इन्द्रियों के साथ प्रत्यभिज्ञान का अन्वय और व्यतिरेक परम्परा संबंध से है । ज्ञान को प्रत्यक्ष भाव के लिए इन्द्रियों के साथ अन्वय और व्यतिरेक साक्षात् संबंध से होने चाहिएँ । जब रूप आदिका ज्ञान इन्द्रियों से होता है, तब रूप आदिके साथ इन्द्रियों का संबंध साक्षात् होता है । परम्परा के द्वारा इन्द्रियों के साथ सबध होनेसे ज्ञान में प्रत्यक्ष भाव यदि हो तो अनुमान में भी प्रत्यक्ष भाव हो जाना चाहिए । प्रत्यक्ष से हेतु का जानकर अनुमान होता है इसलिए इन्द्रियों के साथ परम्परा का संबध अनुमान में भी है । जिस प्रकार अनुमान प्रत्यक्ष नहीं है इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है । यदि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियों के साथ साक्षात् संबंध से हो तो जब पहली बार फल आदिका ज्ञान होता है, तभी "यह वही फल है" इस रीति से प्रत्यभिज्ञान होना चाहिए । परंतु इस आकार के साथ प्रत्यभिज्ञान नहीं होता । यह फल है, इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है । प्रत्यक्षज्ञान में प्राचीन अनुभव से उत्पन्न स्मरण की अपेक्षा नहीं होती । जहां इन्द्रियों का साक्षात् संबंध होता है, वहां स्मरण बिना ही प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान में यदि इन्द्रियों का साक्षात् संबंध हो तो

स्मरण के बिना "वही यह फल है" इत्यादि रूप से प्रथम काल में ज्ञान होना चाहिए।

मूलम्:-अथ पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसंस्कार-प्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञान-मुत्पादयतीत्युच्यते।

अर्थः-एक वस्तु जब फिर देखी जाती है, तब पूर्वकाल के दर्शन से जो संस्कार उत्पन्न हुआ था उसके जागरण से स्मृति उत्पन्न होती है, इस स्मृति की सहायता लेकर इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान रूप प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है।

विवेचनाः-जब अर्थ के साथ अकेली इन्द्रिय संबंध करती है, तब वर्तमानकाल में रहनेवाले अर्थ के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती है। स्मृति की सहायता के बिना इन्द्रिय अतीतकाल के अर्थ के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान को नहीं उत्पन्न कर सकती। स्मृति से युक्त इन्द्रिय अर्थ के साथ पूर्वकाल में संबंध को भी प्रकाशित कर सकती है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान का प्रत्यक्ष भाव स्वभाव है। सहायता लेनेसे वस्तु का स्वभाव दूर नहीं होता। स्मृति के बिना इन्द्रिय का जो स्वभाव है, वह स्मृति के सहायक होनेसे दूर नहीं होता। अतः अकेली इन्द्रिय के समान स्मृति सहित इन्द्रिय भी प्रत्यक्ष को ही उत्पन्न करती है।

मूलम्:-तदनुचितम्, प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात्। अन्यथा पर्वते वह्निज्ञानस्यापि

व्याप्तिस्मरणादिसापेक्षमनसैवोपपत्तौ अनुमान-स्याप्युच्छेदप्रसङ्गात्।

अर्थः—यह कथन उचित नहीं। प्रत्यक्ष स्मृति की अपेक्षा नहीं करता। यदि इस प्रकार न माना जाय तो व्याप्ति स्मरण आदिकी सहायता को पाकर मन के द्वारा पर्वत में अग्नि के ज्ञान की उत्पत्ति होनेके कारण अनुमान का विनाश हो जायगा।

विवेचनाः-कार्य की उत्पत्ति में मुख्य कारण जिनकी अवश्य अपेक्षा करता है, जिनके बिना यह अकेला कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता वे कारण सहकारी कहे जाते हैं। बीज अंकुर की उत्पत्ति में मुख्य कारण है, परंतु वह अकेला अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। भूमि, जल, आतप और वायु की उसको आवश्यकता होती है, अतः भूमि आदि बीज के सहकारी हैं। बीज अंकुर का उपादान कारण है और भूमि आदि सहकारी कारण हैं। उपादान कारण के समान निमित्त कारण को भी सहाकारियों की अपेक्षा होती है। लकडी को काटने में काटनेवाला कर्त्तारूप निमित्त कारण है। कुल्हाड़ा उसका सहायक है। कुल्हाडे के बिना लकड़ी नहीं काटी जा सकती। सूत्र अथवा पत्र आदि लकडी के काटने में सहायक नहीं होते। सूत्र और पत्र के बिना लकडी काटी जा सकती है। प्रकृत में इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त कारण है। सूर्य और दीपक आदि नेत्र इन्द्रिय के सहकारी कारण हैं। सूर्य आदिके प्रकाश के बिना चक्षु नहीं देख सकती, देखनेमें स्मरण की अपेक्षा नहीं है।

अकेली चक्षु स्मरण के बिना प्रकाश की सहायता से देखती है। जब प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, तब स्मरण इन्द्रिय का सहकारी नहीं होता। संस्कार से स्मरण और इन्द्रिय से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। ये दोनों ज्ञान मिलकर प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करते हैं। अतः प्रत्यभिज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्ष से उत्पन्न है।

जो इस प्रकार न माना जाय तो अनुमान भी प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं हो सकेगा। धूम और अग्नि की व्याप्ति के स्मरण से पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। स्मरण की सहायता से मन पर्वतीय अग्नि के ज्ञान में कारण है, अतः पर्वतीय अग्नि का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, इस प्रकार की आपत्ति होगी। अतः स्मरण मन का सहायक नहीं और स्मृति सहित मन से उत्पन्न अनुमान प्रत्यक्ष नहीं, इस प्रकार मानना पडेगा। स्मरण की सहायता पाकर मन अनुमान को उत्पन्न करता है और अनुमान प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान स्मरण और अनुभव से उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष से भिन्न है। स्मरण इन्द्रिय का सहायक नहीं सिद्ध हो सकता, इसलिए स्मृति की सहायता न होनेसे प्रथम दर्शन में इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान को नहीं उत्पन्न करती, इस प्रकार नहीं कहा जा सकता। अब यदि अकेली इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति में कारण हो तो प्रथम वार के ज्ञान में ही "यह वही फल है" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होना चाहिए, यह आपत्ति स्थिर रहेगी।

मूलम्:-किञ्च, 'प्रत्यभिजानामि' इति विलक्षणप्रतीतेरप्यतिरिक्तमेतत्।

अर्थः—इसके अतिरिक्त 'मैं पहचानता हूँ' इस विलक्षण प्रतीति से भी प्रत्यभिज्ञान भिन्न सिद्ध होता है।

विवेचनाः—मैं प्रत्यक्ष करता हूँ, यह प्रत्यक्ष की प्रतीति है। मैं अनुमान करता हूँ, यह अनुमान की प्रतीति है। प्रतीति के भेद से अनुमान प्रत्यक्ष से भिन्न सिद्ध होता है। इसी रीति से मैं पहचानता हूँ इस प्रतीति के द्वारा प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष करता हूं, और पहचानता हूं, इन दो प्रतीतियों का भेद अनुभव सिद्ध है।

मूलम्:—एतेन, 'विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षसत्वाद्विशेषणज्ञाने सति विशिष्टप्रत्यक्षरूपमेतदुपपद्यते' इति निरस्तम्, 'एतत्सदृशः सः' इत्यादौ तदभावात्, स्मृत्यनुभवसङ्कलनक्रमस्यानुभविकत्वाच्चेति दिक्।

अर्थः—विशेष्य के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने से विशेषण का स्मरण होने पर अनन्तर विशिष्ट प्रत्यक्ष रूप यह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है इस प्रकार के मत का निराकरण भी पहले कहे हेतुओं से हो जाता है। फिर 'वह इसके समान है' इत्यादि ज्ञान में उसका विशेष्य के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का अभाव है और स्मृति और अनुभव की संकलना का क्रम अनुभवसिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान भिन्न प्रमाण है, इस विषय में यह दिशा का प्रकाशन है।

विवेचना:-वही यह फल है-इस प्रत्यभिज्ञान में 'वह' इतना विशेषण अंश है और 'फल' विशेष्य है। विशेष्य फल के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है और पूर्व देश काल के संबंधरूप विशेषण का स्मरण होता है। इसके अनन्तर वही यह फल है इस आकारवाला प्रत्यभिज्ञान होता है। विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध और उसके द्वारा उत्पत्ति हुई है, इसलिए यह ज्ञान विशेषण सहित विशेष्य का प्रत्यक्ष है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान को जो लोग विशिष्ट प्रत्यक्षरूप कहते हैं उनका कथन भी पहले कहे हेतुओं से अयुक्त सिद्ध होता है। स्मरण इन्द्रिय का सहकारी नहीं हो सकता, अतः अतीत देश काल के स्मरण से विशिष्ट वस्तु प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। इसलिए केवल विशेष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है। यह दंडी पुरुष है, इत्यादि विशिष्ट प्रत्यक्ष जब होता है तब विशेषण दण्ड और विशेष्य पुरुष के साथ इन्द्रिय का संबंध होता है। अतः वहाँ विशिष्ट का प्रत्यक्ष हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान में विशेषण के साथ इन्द्रिय का सबंध नहीं है, अतः विशिष्ट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। स्मरण और अनुभव इन दोनों से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञान अतिरिक्त ज्ञान है। यह केवल प्रत्यक्ष नहीं, केवल स्मरण नहीं और प्रत्यक्ष और स्मरण का समुदाय रूप नहीं।

इसके अतिरिक्त इस प्रकार का भी प्रत्यभिज्ञान होता है जिसमें विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध नहीं हो सकता। 'इस के समान वह था' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान में 'इसके समान' इतना विशेषण अंश है, और 'वह' विशेष्य अंश है। पूर्व देश और काल में जिसका

अनुभव हुआ था, उसका निर्देश 'वह' पद से होता है, वही विशेष्य है। उसके साथ इन्द्रिय का संबंध नहीं हो सकता।

अतीत देश और काल के साथ संबंध करने में इन्द्रिय की शक्ति नहीं है। विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध आप के मत में ज्ञान के प्रत्यक्ष भाव का मुख्य कारण है, वह यहाँ नहीं है इसलिए यह ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न है यह वस्तु सिद्ध होती है। यह ज्ञान जिस प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न है, इस प्रकार 'यह वही फल है' इस प्रकार का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से भिन्न है।

'इसके समान वह था' इस ज्ञान में सादृश्य की प्रतीति है, सादृश्य बिना भी इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है, जिसमें विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध नहीं हो सकता। जिस प्रकार 'वही यह फल है" इस आकार का प्रत्यभिज्ञान होता है इस प्रकार "यही फल वह था" इस आकारवाला भी प्रत्यभिज्ञान होता है। वतमान देशकाल के साथ जिस फल का सबंध है उस फल का संबंध पूर्व देश काल के साथ था इस प्रकार को प्रतीति होती है। यहाँ जो विशेष्य है उसका पूर्व देश और काल के साथ संबंध है, अतः पूर्व देश और काल से विशिष्ट विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध नहीं हो सकता। जिस प्रकार यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष से भिन्न है, इसी प्रकार 'वही यह फल है' यह प्रत्यभिज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है।

जब प्रत्यभिज्ञान होता है तब स्मरण और अनुभव क्रम से संयुक्त होते हैं। इस क्रम का अनुभव सिद्ध करता है—प्रत्यभिज्ञान स्मरण और अनुभव के संबंध से उत्पन्न अतिरिक्त ज्ञान है और परोक्षरूप है।

ग्रन्थकार कहता है-इतना जो कहा है वह दिशा का प्रकाशन है । इस दिशा में यदि आगे जाओगे तो अधिक ज्ञान होगा । यह कथन सक्षेप से है ।

मूलम्-अत्राह भाट्टः नन्वेकत्वज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमस्तु, सादृश्यज्ञानं तूपमानमेव, गवयदृष्टे गवि च स्मृते सति सादृश्यज्ञानस्योपमानत्वात् ।

अर्थ-इस विषय में कुमारिल भट्ट का अनुगामी कहता है, एकत्व का प्रकाशक ज्ञान चाहे प्रत्यभिज्ञान हो, सादृश्य का प्रकाशक ज्ञान तो उपमान ही है । गवय (वन्य पशु) को देखने के अनन्तर और गाय का स्मरण करने के अनन्तर सादृश्य का ज्ञान उपमान होता है ।

विवेचना- विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध होनेसे "वही यह फल है" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षरूप है, इस आक्षेप के परिहार के लिए सिद्धान्तीने इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान उपस्थित किया जिसमें विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध नहीं हो सकता । "वह इसके समान है" यह सादृश्य का प्रकाशक प्रत्यभिज्ञान इस प्रकार का है जिसमें विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संबंध असंभव है । यह सुनकर कुमारिल भट्ट का अनुगामी कहता है, सादृश्य के प्रकाशक ज्ञान को आप प्रत्यभिज्ञान कहते हैं परन्तु यह युक्त नहीं । सादृश्य का बोधक ज्ञान उपमान होता है । गाय के दर्शन से

जिसके मन में संस्कार उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार का प्रमाता जब गवय को देखता है तब गाय का स्मरण होता है। स्मरण के पीछे "वह गाय इस गवय के समान है" इस रूप में ज्ञान होता है। सादृश्य का प्रकाशक होनेसे इस ज्ञान का उपमानभाव उचित है। जो वस्तु की एकता को प्रकाशित करता है वह प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। सादृश्यज्ञान एकता का प्रकाशक नहीं, अतः वह प्रत्यभिज्ञान नहीं।

मूलम्:–तदुक्तम्–

तस्माद्यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥१॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि, सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धे–रुपमानप्रमाणता ॥२॥

[श्लोक वा उप० ३७–३८] इति

अर्थः– कहा भी है—

सादृश्य से विशिष्ट जिस अर्थ का स्मरण होता है वह अर्थ उपमान का प्रमेय है अथवा उस पदार्थ से युक्त सादृश्य उपमान का विषय है। प्रत्यक्ष से सादृश्य का ज्ञान होता है और गाय का स्मरण होता है परन्तु विशिष्ट अर्थ की सिद्धि अन्य प्रमाण से नहीं होती, अतः उपमान प्रमाण है।

विवेचनाः–"इस गवय के समान गौ है" इस रीति से जब ज्ञान होता है तब गवय द्वारा निरूपित सादृश्य से विशिष्ट

गाय का स्वरूप होता है। जब गाय का स्मरण करके गवय से विशिष्ट सादृश्य का ज्ञान होता है, तब गाय में वर्तमान सादृश्य गवय से निरूपित होता है। गवय का प्रत्यक्ष ज्ञान है, अतः सादृश्य का भी प्रत्यक्ष है। गाय का स्मरण है इस रीति से सादृश्य के प्रत्यक्ष और गाय के स्मरण से यद्यपि ज्ञान होता है तो भी सादृश्य से विशिष्ट गाय का अथवा गाय में वर्तमान सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा स्मरण नहीं हो सकता। इस विशिष्ट अर्थ का ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है।

मूलम्—तन्न; दृष्टस्य सादृश्यविशिष्टपिण्ड-स्य स्मृतस्य च गोः सङ्कलनात्मकस्य 'गोसदृशो गवय.' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्र-मात्।

अर्थः—वह कथन युक्त नहीं, सादृश्य से विशिष्ट पिंड दिखाई देता है और गाय का स्मरण होता है। पीछे इस प्रत्यक्ष और स्मरण का संकलन होता है। गवय गाय के समान है—यह ज्ञान संकलन रूप है। प्रत्यभिज्ञान का मुख्य चिन्ह संकलन है, अतः "गवय गाय के समान है" यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान से भिन्न नहीं।

विवेचनाः—गवय के सादृश्य से विशिष्ट गाय का अथवा जिसका स्मरण हुआ है उस गो से विशिष्ट गवय में वर्तमान सादृश्य का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष अथवा केवल स्मरण से नहीं

हो सकता । इस तत्त्व को आप भी स्वीकार करते हो। प्रत्यक्ष अथवा स्मरण से यदि सादृश्य विशिष्ट गाय का अथवा गाय के स्मरण से विशिष्ट गवय के सादृश्य का ज्ञान हो सके तो उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष और स्मरण से अतिरिक्त नहीं सिद्ध होगा।

ध्यान रखना चाहिए—इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मरण की जो अशक्ति है वह सादृश्यरूप विषय के कारण नहीं। यदि सादृश्यरूप विषय न हो तो भी इस प्रकार की विशिष्ट वस्तु हो सकती है जिसको प्रकाशित करने में अकेला प्रत्यक्ष और अकेला स्मरण समर्थ नहीं हो सकता। मुख्य विषयों के प्रकाशन में सामर्थ्य और असामर्थ्य के कारण प्रमाणों में भेद होता है। विषयों के अवान्तर भेद को लेकर प्रमाणों का भेद नहीं होता चक्षु रूप को प्रकाशित करती है। रस अथवा गंध आदिको प्रकाशित करनेमें चक्षु का सामर्थ्य नहीं है, अतः चक्षु, जीभ और नासिका भिन्न इन्द्रिय हैं। नील-पीत, श्वेत और रक्त आदि रूपों के कारण चक्षु में भेद नहीं होता। नील पीत आदि रूप के अवान्तर भेद हैं। चक्षु जिस प्रकार नील को प्रकाशित करती है। इस प्रकार पीत आदिको प्रकाशित करती है। अतः चक्ष समस्त रूपों के प्रकाशन का साधन कही जाती है। अतीत देश-काल के ज्ञान में प्रत्यक्ष की शक्ति नहीं, उसमें स्मरण की शक्ति है। वर्तमान देश-काल के ज्ञान में प्रत्यक्ष की शक्ति है उसमें स्मरण की शक्ति नहीं। जब अतीत और वर्तमान देश काल से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है, तब केवल प्रत्यक्ष अथवा केवल स्मरण से विशिष्ट वस्तु प्रतीत नहीं हो सकती। एकता अथवा सादृश्य विशिष्ट वस्तु के अवान्तर भेद हैं।

इन अवान्तर भेदों के कारण ज्ञान के स्वरूप में भेद उचित नहीं। जिस प्रकार एकत्व विषय में पूर्वापर देश-काल के संबंध का प्रकाशक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है इस प्रकार सादृश्य में पूर्वापर देश-काल के साथ संबंध का प्रकाशक ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान स्वरूप ही होना चाहिए। संकलन प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप है। वह एकता और सादृश्य के ज्ञानों में समान रूप से है।

मूलम्:–अन्यथा 'गोविसदृशो महिषः' इत्यादेरपि सादृश्यविषयत्वेनोपमानातिरेके प्रमाणसंख्याव्याघात प्रसङ्गात्।

अर्थः–यदि इस प्रकार न हो तो 'भैंस गाय से विलक्षण है" इत्यादि ज्ञान भी सादृश्य के विषय में न होने के कारण उपमान से अतिरिक्त हो जायगा। इस रीति से प्रमाणों की नियत संख्या में व्याघात की आपत्ति आयगी।

विवेचनाः–यदि एकत्व का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान हो और सादृश्य का ज्ञान उससे भिन्न उपमान प्रमाण हो, तो विलक्षणता का ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान और उपमान से भिन्न प्रमाण हो जाना चाहिए। जिस प्रकार गवय का द्रष्टा गाय का स्मरण करके "इस गवय के समान गाय है" इस प्रकार जानता है, "इसी रीति से भैंस का द्रष्टा गाय का स्मरण करके भैंस गाय से विलक्षण है" इस प्रकार मानता है। विलक्षणता की प्रतीति का विषय एकता नहीं है, अतः विलक्षणता का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान रूप नहीं हो सकता। सादृश्य के विषय में नहीं

अतः उपमान नहीं हो सकता । इस कारण विलक्षणता का ज्ञान यदि अतिरिक्त प्रमाण हो, तो आप प्रमाणों की जो संख्या नियत करते हैं उसका विरोध होगा।

मूलम्–एतेन–'गोसदृशो गवयः' इत्यति-देशवाक्यार्थज्ञानकरणकं सादृश्यविशिष्टपिण्ड-दर्शनव्यापारकम् 'अयं गवयशब्दवाच्यः इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमुपमानम्-इति नैयायिकमतमप्यपहस्तितं भवति ।

अर्थ–भाट्ट मत के इस निराकरण से नैयायिक मत का भी निराकरण होता है। "गाय के समान गवय है" यह सादृश्य का प्रतिपादक वाक्य अतिदेशवाक्य है। अतिदेशवाक्य के अर्थ का ज्ञान करण है। सादृश्य से विशिष्ट गवय का दर्शन व्यापार है । यह गवय शब्द से वाच्य है इस रीति से संज्ञा और संज्ञी के संबंध का ज्ञान उपमान अर्थात् उपमिति है-यह नैयायिकों का मत है ।

विवेचना-अरण्यवासी पुरुष ग्रामवासी को कहता है "गाय के समान गवय होता है" । जब ग्रामवासी गवय को देखता है तब वह गवय पदको वाचक और गवयरूप अर्थ को वाच्य मानता है । गवय संज्ञा है और 'गवयरूप अर्थ संज्ञी है, गवय पद से गवयरूप अर्थ को समझना चाहिए' इस प्रकार की वक्ता की इच्छा संबंध है इस संबंध का ज्ञान उपमिति रूप फल है । इस फल का ज्ञान इन्द्रिय अथवा हेतु अथवा शब्द से नहीं हो सकता, अतः उपमान भिन्न प्रमाण

है। ग्रामवासी को पूर्वकाल में गवय का अनुभव नहीं हुआ। अतः अतिदेश वाक्य 'जिसमें गवयत्व है, वह गवय पद से वाच्य है, इस रीति से प्रतिपादन नहीं कर सकता। गवय का अनुभव पूर्वकाल में नहीं था. अतः गवयत्व का भी पूर्वकाल में अनुभव नहीं हो सकता। पूर्वकाल में जिसका अनुभव नहीं हुआ उस विषय में अतिदेश वाक्य संज्ञा संज्ञि के संबंध को नहीं प्रकाशित कर सकता। यदि इस प्रकार हो तो गोत्व और गवयत्व से भिन्न धर्मवाले पदार्थ का भी गवयपद वाचक है और अर्थ वाच्य है इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए। इन्द्रिय केवल गवय के अथवा गवय में वर्तमान सादृश्य के ज्ञान को उत्पन्न कर सकती है। वह भी संज्ञा और संज्ञी के संबंध का प्रतिपादन करने में असमर्थ है। गाय का स्मरण भी इस विषय में असमर्थ है।

यहां उपमान का जो निरूपण है वह नवीन नैयायिकों के मत के अनुसार है। प्राचीन न्यायमत के अनुसार गवय में गाय के सादृश्य का दर्शन करण है और अतिदेश वाक्य के अर्थ की स्मृति व्यापार है और संज्ञा-संज्ञी के संबंध का ज्ञान उपमितिरूप फल है।

मूलम्–अनुभूतव्यक्तौ गवयपदवाच्यत्व-सङ्कलनात्मकस्यास्य प्रत्यभिज्ञानस्यानन्तरानन्तरक्रमात् प्रत्यभिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषेण यद्धर्मावच्छेदेनातिदेशवाक्यानूद्यधर्मदर्शनं तद्धर्मावच्छेदेनैव पदवाच्यत्वपरिच्छेदोपपत्तेः।

अर्थः–जिस व्यक्ति का अनुभव प्रत्यक्ष में हो रहा है उसमें गवय पद की वाच्यता का संकलनरूप यह ज्ञान

प्रत्यभिज्ञान से भिन्न नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के आवरण कर्म के क्षयोपशम विशेष द्वारा जिस धर्म से विशिष्ट अर्थ में अतिदेश वाक्य द्वारा कथित धर्म का दर्शन होता है; उस धर्म से विशिष्ट अर्थ में पद की वाच्यता का ज्ञान होता है।

विवेचना:-गवय और गवयत्व धर्म का अनुभव पूर्वकाल में नहीं हुआ था. इसलिए अतिदेश वाक्य यद्यपि 'जो गवयत्व धर्म से विशिष्ट है उसका वाचक गवयपद है' इस प्रकार प्रतिपादन नहीं कर सकता, तो भी गाय के सादृश्य का उल्लेख करके जो अर्थ गाय के समान है वह गवय पद से वाच्य है इस प्रकार वाच्यता का विधान करता है। इस कारण अतिदेशवाक्य गौ का सादृश्यरूप धर्म गवयत्व धर्म से विशिष्ट जिस गवयरूप अर्थ में दिखाई देता है, वह अर्थ गवयत्व धर्म से विशिष्ट होने के कारण गवयपद से वाच्य है, इस प्रकार विधान करता है। गवय पद वाचक है और गवय-रूप अर्थ वाच्य है; इसके लिये पूर्वकाल में गवय के अनुभव की आवश्यकता नहीं है। गाय के सादृश्य के ज्ञान की अपेक्षा है और वर्तमानकाल में गवय सामने है उसमें गाय का सादृश्य दिखाई देता है। गाय पूर्वकाल में देखी हुई है, इसलिये उसका सादृश्य गवय में देखा जा सकता है। पूर्व-काल में गाय के सादृश्य का दर्शन आवश्यक नहीं। इसी प्रकार पूर्वकाल मे गवय और गवयत्व का दर्शन आवश्यक नहीं है। वर्तकाल काल में गवय और गवयत्व के दर्शन से 'यह गवय है और गवय पद इसका वाचक है, इस रीति से विधान हो सकता है। पूर्वकाल में देखा हुआ घडा जब फिर दिखाई

देता है तब "यह वही घडा है" यह ज्ञान जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञान है इस प्रकार 'जो गाय के समान है वह गवय है' इस संकेत के काल में गवयपद और गवय के वाच्यवाचक संबध को जानकर और पीछे गवय को देखकर उसी संबंध की प्रतीति प्रत्यभिज्ञान है। संकलन प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप है। यहाँ पर समान अर्थ का दर्शन और गवय पदके द्वारा वाच्यता इन दोंनों का संकलन है।

मूलम्–अत एव 'पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्" इत्यादिवाक्यार्थज्ञानवतां पयोम्बुभेदित्वादिवि-शिष्टव्यक्तिदर्शने सति 'अयं हंसपदवाच्यः' इत्यादिप्रतीतिर्जायमानोपपद्यते।

अर्थ–इसी कारण दूध और पानी का भेद करने-वाला हंस होता है–इत्यादि वाक्यों के अर्थ को जानने-वाले लोग जब दूध और पानी के भेदकत्व आदि धर्मों से विशिष्ट व्यक्ति को देखते हैं तब उनको यह "हंस" पद से वाच्य है इत्यादि प्रतीति होती है।

विवेचनाः-दो ज्ञानों का संकलन प्रत्यभिज्ञान के स्वरूप के लिये आवश्यक है। परन्तु सदा दो ज्ञानों का स्वरूप एक ही प्रकार का नहीं होता। सादृश्य के द्वारा जब वाच्य-वाचक भाव का प्रतिपादन होता है तब गवय का द्रष्टा जब गवय को देखता है तभी गवय में गाय के साथ सादृश्य का दर्शन कर लेता है पूर्वकाल में उसको सादृश्य का ज्ञान नहीं हुआ था। वस्तु के रूप आदि का पूर्वकाल में प्रत्यक्ष अनुभव

और उत्तरकाल में उसका स्मरण अनिवार्य नहीं है। वाक्य-द्वारा गाय और गवय के सादृश्य की प्रतीति हुई थी, अनन्तर गवय में सादृश्य प्रत्यक्ष होता है और उसके द्वारा वाच्य-वाचकभाव का ज्ञान होता है। वाच्य-वाचकभाव का ज्ञान भी सादृश्य के बोधक वाक्य द्वारा पूर्वकाल में नहीं हुआ था, उत्तरकाल में जब सादृश्य प्रत्यक्ष होता है, तब शब्द द्वारा अनुभूत वाच्य-वाचक भाव की प्रतीति फिर होती है। यहां पर प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य का ज्ञान सहकारी है। सादृश्य ज्ञान रूप सहकारी के कारण वाच्य-वाचकभाव के ज्ञान को यदि प्रत्यभिज्ञान से भिन्न उपमान प्रमाण माना जाय तो जहां सादृश्य के बिना अन्यधर्मों के प्रतिपादन द्वारा वाच्य-वाचक-भाव का प्रतिपादन होता है; वहाँ उपमान से भिन्न किसी प्रमाण को मानना पडेगा। वक्ता जब दूध और पानी के भेद करनेवाले को हंस कहता है, तब दूध और पानी के विभाजन रूप धर्म को वाच्य-वाचक भाव की प्रतीति में साधन-रूप कहता है। दूध और पानी को भिन्न करना सादृश्य नहीं है। यहां पर उपमान संभव नहीं है। प्रसिद्ध अर्थ के साथ सादृश्य का प्रतिपादन यहाँ नहीं है। इसलिए जहां पर सादृश्य आदि धर्मों के प्रतिपादन द्वारा दो ज्ञानों का संकलन होता है, वहां प्रत्यभिज्ञान को ही स्वीकार करना चाहिए।

मूलम्—यदि च 'अयं गवयपदवाच्यः' इति प्रतीत्यर्थं प्रत्यभिज्ञानातिरिक्तं प्रमाणमाश्रीयते तदा आमलकादिदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात्, 'अतस्तत् सूक्ष्मम्' इत्यादिप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरमन्वेषणीयं स्यात्।

अर्थ–"यह गवय पद का वाच्य है" इस प्रकार की प्रतीति के लिए यदि प्रत्यभिज्ञान से भिन्न प्रमाण माना जायगा तो आमलक आदिके दर्शन से उत्पन्न संस्कारवाले मनुष्य को बिल्वफल आदि को देखने पर "वह इससे सूक्ष्म है" इत्यादि प्रतीति होती है, उसके लिए अन्य प्रमाण मानना पडेगा।

विवेचना:–ज्ञानों का संकलन होने पर भी वाच्य-वाचक-भाव की प्रतीति यदि प्रत्यभिज्ञान के द्वारा न हो, तो जहां जहां प्रत्यक्ष वस्तु में अपेक्षा द्वारा ज्ञान होता है, वहां वहां अतिरिक्त प्रमाणों का स्वीकार आवश्यक हो जायगा। पूर्व-काल में जिसने आंवले को देखा है उसको 'आंवले का फल बिल्व के फल से छोटा है' इस प्रकार की प्रतीति अपेक्षा से होती है। इस प्रतीति में सादृश्य का ज्ञान नहीं है। पूर्वकाल में और उत्तरकाल में देखे हुए परिमाणों का ज्ञान अपेक्षा से करके यह छोटा है और यह बडा है इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान में भी दो ज्ञानों का संकलन है। इसी रीति से 'यह उससे दूर है और यह उससे समीप है यह उससे ऊँचा है और यह उससे नीचा है' इत्यादि ज्ञान अपेक्षा के द्वारा होता है। इन ज्ञानों में दो ज्ञानों का संकलन है, इसलिए ये सब ज्ञान प्रत्यभिज्ञानरूप हैं।

मूलम्–मानसत्वे चासामुपमानस्यापि मानसत्वप्रसङ्गात्।

अर्थ–यदि आप कहें–'ये सब ज्ञान मानसज्ञान हैं' तो उपमान भी मानसज्ञान है-इस प्रकार मानना पडेगा।

विवेचना: पानी और दूध को जो भिन्न करता है-वह हंस है, उससे यह दूर है-यह समीप है, इत्यादि ज्ञानों में बाह्य इन्द्रिय साक्षात् साधन नहीं । मन के द्वारा ये समस्त ज्ञान होते हैं। सुख-दुःख आदिका ज्ञान जिस प्रकार मन के द्वारा होता है । इस प्रकार ये सब ज्ञान मनके द्वारा होते हैं । सुख-दुःख आदिका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार अपेक्षा के द्वारा दूरत्व और समीपत्व आदिका ज्ञान भी मानस प्रत्यक्ष है। इस प्रकार यदि आप समस्त ज्ञानों का अन्तर्भाव मानस प्रत्यक्ष में करेंगे तो उपमान का भी मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव आवश्यक हो जायगा । उसकी भी प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाण के रूप में सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता । जब वृक्ष को देखता है, तब वृक्ष का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । यह प्रत्यक्ष ज्ञान किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता । सुख अथवा दुःख का साक्षात्कार जब मन के द्वारा होता है, तब किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती । परन्तु सादृश्य-उचाई-दूरत्व-आदिका ज्ञान जब मन के द्वारा होता है, तब अन्य ज्ञानों की अपेक्षा आवश्यक रूप से होती है। इसलिए ये समस्त ज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं हैं।

मूलम्–'प्रत्यभिजानामि' इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञानत्वमेवाभ्युपेयमिति दिक् ।

अर्थ–प्रत्यभिजानामि–अर्थात् "मैं पहचानता हूँ" इस प्रकार की प्रतीति होनेके कारण इन समस्त ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञान रूप ही स्वीकार करना चाहिए ।

विवेचनाः–बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जब अर्थ का प्रत्यक्ष होता है तब "मैं प्रत्यक्ष करता हूँ"-इस प्रकार की प्रतीति होती है। जब धूम से अग्नि का अनुमान करता है, तब 'मैं अनुमान करता हूँ' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रकार की प्रतीतियाँ ज्ञानों के स्वरूप के भेद में प्रमाण हैं। "मैं पहचानता हूँ" यह प्रतीति प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रतीति से भिन्न है। इसलिए ये सब ज्ञान प्रत्यभिज्ञान रूप हैं।

[तर्क का निरूपण]

मूलम्:–सकलदेशकालाद्यवच्छेदेन साध्य-साधनभावादिविषय ऊहस्तर्कः, यथा 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवति, वह्निं विना वा न भवति' 'घटशब्दमात्र घटस्य वाचकम्' 'घटमात्रं घटशब्दवाच्यम्' इत्यादि।

अर्थ–समस्त देश और काल आदिके साथ साध्य-साधनभाव आदि विषय को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान 'तर्क' है। उदाहरणः–जो कोई धूम है वह जब अग्नि हो तभी होता है और अग्नि न हो तो नहीं होता, जो जो घट पद है वह घट का वाचक है, जो जो घट है वह वह घट पद का वाच्य है–इत्यादि।

विवेचनाः–तीन काल में जो साध्य और साधन हैं उनका संबंध व्याप्ति है। व्याप्ति के विषय में जो ज्ञान है वह तर्क है। साध्य और साधन का किसी भी प्रमाण के द्वारा ज्ञान व्याप्ति के ज्ञान को उत्पन्न करता है। जिन वस्तुओं

का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है उन वस्तुओं के अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। धूम साधन है और वह्नि साध्य है-इन दोनों का प्रत्यक्ष होता है। जब धूम दिखाई देता है, तब अग्नि के साथ दिखाई देता है। जब अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता तब धूम भी नहीं दिखाई देता। इस रीति से धूम और वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होता है। जिन साध्य और साधनों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता उनमें साध्य-साधन भाव का ज्ञान आगम और अनुमान के द्वारा होता है। किसी काल में प्रमाणों के द्वारा साध्य-साधन के विषय में एक बार का ज्ञान व्याप्ति ज्ञानरूप तर्क को उत्पन्न कर देता है। कभी कभी भिन्न रीति से व्याप्ति ज्ञान होता है। अनेक बार साध्य और साधनों को एक साथ देखने पर उनमें साध्य-साधन भाव का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस दशा में एक बार के देखने से साध्य-साधन भाव की प्रतीति नहीं होती। साध्य-साधन भाव के प्रतीत हो जाने पर उत्तरकाल में साध्य-साधन का स्मरण होता है, पीछे प्रत्यभिज्ञान होता है। उसके अनन्तर व्याप्ति ज्ञान-रूप तर्क होता है। साध्य-साधन के समान वाच्य-वाचक के विषय में भी व्याप्ति ज्ञानरूप तर्क होता है इस तर्क का अन्य नाम 'ऊह' है।

मूलम्;-तथाहि-स्वरूपप्रयुक्ताऽव्यभिचार-लक्षणायां व्याप्तौ भूयोदर्शनसहितान्वयव्यतिरेकसहकारेणापि प्रत्यक्षस्य तावदविषयत्वादेवाप्रवृत्तिः, सुतरां च सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण तद्ग्रह इति साध्यसाधनदर्शन स्म-

रण-प्रत्यभिज्ञानोपजनितस्तर्क एव तत्प्रतीति-माधातुमलम् ।

अर्थः-इस विषय में हेतु इस प्रकार है-अव्यभिचार-रूप व्याप्ति स्वरूप से प्रयुक्त है । इस व्याप्ति के विषय में अनेक बार के दर्शन से युक्त अन्वय और व्यतिरेक की सहायता को लेकर भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती, कारण-यह व्याप्ति प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और जो व्याप्ति समस्त साध्य और साधन व्यक्तियों को लेती है उसके ज्ञान में तो सर्वथा शक्ति नहीं है, अतः साध्य और साधन के दर्शन-स्मरण और प्रत्य-भिज्ञान से उत्पन्न तर्क ही व्याप्ति ज्ञान को उत्पन्न कर सकता है ।

विवेचनाः-व्यभिचार का अभाव व्याप्ति का लक्षण है। जहाँ साध्य नहीं है वहाँ साधन की वृत्ति का अभाव-व्यभिचा-राभाव है, यही व्याप्ति है। जहाँ वह्नि नहीं वहाँ धूम नहीं रहता, इस कारण साध्य वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति कही जाती है । साध्य और साधन का स्वरूप अव्यभिचाररूप व्याप्ति का प्रयोजक है । जहाँ वह्नि और धूम साध्य-साधन है वहाँ वह्नि का स्वरूप वह्नित्व और धूम का स्वरूप धूमत्व व्याप्ति का प्रयोजक है। यह स्वरूप अन्य देश, काल और आकार आदिसे निवृत्त होकर अपने स्वरूप में भी व्याप्तिरूप सम्बन्ध को प्रकाशित करता है। देश और काल के बिना अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति का ज्ञान होता है।

व्याप्ति का यह ज्ञान स्वरूप से होता है। संसार में जितनी अग्नियाँ है उन सब का संग्रह वह्नि रूप से होता है। जितनी धूम व्यक्तियां है उन सब का संग्रह धूमत्व से होता है। साध्य के स्वरूप अग्नित्व आदि के द्वारा और साधन के स्वरूप धूमत्व आदिके द्वारा व्याप्ति व्यवस्थित होती है। इस कारण अव्यभिचाररूप व्याप्ति स्वरूप से प्रयुक्त कही जाती है। इस व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। जो विषय वर्तमानकाल और पुरोवर्ती देश में है उसी विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है। अतीत अनागत अथवा व्यवहित-दूरवर्ती विषय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वह्नित्व और धूमत्व इस प्रकार का स्वरूप है जो अतीत आदि समस्त अग्नि और धूमों का संग्रह करता है। इस प्रकार के स्वरूप में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जो लोग प्रत्यक्ष से व्याप्ति के ज्ञान को स्वीकार करते हैं उन लोगों के अनुसार प्रथम प्रत्यक्ष में भी धूम अग्नि का सम्बन्ध प्रतीत होता है। पहली बार के प्रत्यक्ष के द्वारा जब व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है तो उत्तरकाल में अन्वय और व्यतिरेक का जो अनेक बार ज्ञान होता है वह पहली बार के प्रत्यक्ष को दृढ करता है अथवा अनेक बार के दर्शन से अन्वय और व्यतिरेक का जो ज्ञान होता है उसकी सहायता पाकर प्रत्यक्ष प्रमाण व्याप्ति को जानता है, परन्तु यह कथन युक्त नहीं।

दो प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान है। एक इन्द्रिय से जन्य और दूसरा मन से जन्य। वर्तमान देश और काल में जो अर्थ है उसके साथ संबंध करके इन्द्रिय उसी अर्थ को प्रकाशित करती है। व्याप्ति का संबंध सकल देश-काल की व्याप्य और

व्यापक व्यक्तियों के साथ है। इन समस्त व्यक्तियों के साथ इन्द्रियों का संबंध नहीं हो सकता। इसलिए इन्द्रिय समस्त व्यक्तियों का ज्ञान नहीं कर सकती जब पहली बार प्रत्यक्ष होता है तब पुरोवर्ती देश में जो अग्नि दिखाई देती है उसके साथ धूम का संबंध प्रतीत होता है। इतने से व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। किसी एक नियत व्यक्ति के साथ व्याप्ति नहीं हो सकती। समस्त व्यक्तियों को लेकर व्याप्ति होती है। पहली बार के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का सबंध समस्त साध्य और साधन व्यक्तियों के साथ नहीं होता। इसलिये समस्त अग्नियों के साथ धूम के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह्नित्व और धूमत्व समस्त वह्नि और धूम व्यक्तियों के ग्राहकरूप हैं, परन्तु इस ग्राहकरूप का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। पुरोवर्ती देश और वर्तमानकाल के साथ सबधवाले स्वरूप का ही प्रत्यक्ष होता है।

आप कहते हैं अकेला प्रत्यक्ष व्यापकरूप के साथ वह्नित्व और धूमत्व के ज्ञान में यद्यपि असमर्थ है तो भी अनेक बार के दर्शनों द्वारा जाने हुए अन्वय और व्यतिरेक की सहायता को पाकर व्याप्ति के व्यापक रूप में वह्नित्व और धूमत्व को जान सकता है, यह कथन भी अयुक्त है। सहायकों की सहायता को पाकर साधन अपने विषय में ही प्रवृत्ति कर सकता है जो अपना विषय नहीं है उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। दीपक की सहायता लेकर आँख अपने विषय शुक्ल-नील आदि रूप में प्रवृत्त होती है। रस गंध आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। अतीत अनागत आदि अर्थ प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, इसलिए अन्वय और व्यतिरेक की सहायता पाकर भी प्रत्यक्ष व्याप्ति का ज्ञान नहीं कर सकता। सहकारी कारण इस

प्रकार का भी हो सकता है जो साधन की शक्ति में वृद्धि कर सकता है। शक्ति की वृद्धि भी अपने विषय में ही होती है। जब चक्षु रोग के कारण रूप को देखने में असमर्थ हो जाती है, तब अंजन के द्वारा संस्कार पाकर स्पष्ट देखने लगती है। अन्वय और व्यतिरेक प्रत्यक्ष में जिस संस्कार को उत्पन्न करते हैं उनके द्वारा प्रत्यक्ष अपने विषय को स्पष्टरूप से प्रकाशित कर सकता है। अग्नि और धूम का जो स्वरूप सामने है वही चक्षु का विषय है। समस्त व्यक्तियों का संग्रह करनेवाला जो वह्नित्व और धूमत्वरूप है वह समस्त व्यक्तियों के संबंधी स्वरूप में प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इसलिए स्वरूप से प्रयुक्त अव्यभिचाररूप व्याप्ति प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक सहायता देकर प्रत्यक्ष को व्याप्ति के ज्ञान में समर्थ नहीं कर सकते।

मन के द्वारा भी समस्त व्यक्तियों के व्यापक स्वरूप-वाली व्याप्ति का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। बाह्य विषयों में मन बाह्य इन्द्रियों की सहायता लेकर प्रवृत्ति करता है। स्वतन्त्र रूप से बाह्य विषयों में मन प्रवृत्ति नहीं कर सकता। वह्नि और धूम आदि में जो व्याप्ति है वह बाह्य अर्थ का धर्म है, अतः बाह्य है। उसको स्वतन्त्र रूप से मन नहीं जान सकता। इस कारण तीन काल के सम्बन्धी वह्नि और धूम आदिकी व्याप्त को जानने में बाह्य इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न प्रत्यक्ष असमर्थ है।

इस प्रकार की व्याप्ति के ज्ञान के लिये कोई अन्य प्रमाण होना चाहिये। वह प्रमाण तर्क है। तीन काल के सम्बन्धी साध्य और साधन उसके विषय हैं। यह तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट नहीं—परन्तु अस्पष्ट है।

मूलम् :—अथ स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यलक्षणाया व्याप्तेर्योग्यत्वाद् भूयोदर्शनव्यभिचारादर्शनसहकृतेनेन्द्रियेण व्याप्तिग्रहोऽस्तु, सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारस्यापि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सम्भवादिति चेत् ।

अर्थः—शंका करते हैं—व्याप्ति का लक्षण 'स्वव्यापकसाध्य समानाधिकरण्य' भी है। अपने व्यापक-साध्य के साथ एक अधिकरण में जो रहना—वह व्याप्ति है। यह व्याप्ति प्रत्यक्ष के योग्य है। अनेकबार का दर्शन और व्यभिचार का अदर्शन—इन दोनों से युक्त इन्द्रिय व्याप्ति का ज्ञान कर सकती है। समस्त साध्य व्यक्तियों और समस्त साधन व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान 'सामान्य रूप' प्रत्यासत्ति के द्वारा हो सकता है।

विवेचना—तीन काल के व्यक्तियों के सम्बन्धी वह्नित्व और धूमत्व साध्य और साधन के स्वरूप हैं। इस स्वरूप से प्रयुक्त अव्यभिचाररूप व्याप्ति प्रत्यक्ष का विषय यदि न हो, तो भी व्याप्ति का दूसरा स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। अपने व्यापक साध्य के साथ एक अधिकरण में वृत्ति व्याप्ति का दूसरा लक्षण है। "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थान में इस लक्षण का समन्वय इस रीति से होगा। लक्षण के अन्तर्गत 'स्व' पद का अर्थ है—हेतु, प्रकृत प्रयोग में 'धूम'

हेतु है, उसका व्यापक साध्य है–'वह्नि' उसके साथ एक अधिकरण पर्वत आदि में धूम रहता है। इसलिये साध्य का सामानाधिकरण्य धूम हेतु में है। एक अधिकरण में वृत्ति-सामानाधियरण्य पद का अर्थ है। यह लक्षण व्यापकता से घटित है। व्यापकता का लक्षण है–'तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावा-प्रतियोगित्वम्' यहां 'तत्' पद से हेतु का ग्रहण है। हेतु के अधिकरण में जो अत्यन्ताभाव रहता है उसका जो प्रतियोगी नहीं है वह व्यापक कहा जाता है। धूम हेतु के पर्वत आदि जो अधिकरण हैं। उनमें घट आदि का अत्यन्ताभाव मिलता है उनके प्रतियोगी घट आदि हैं, अप्रतियोगी वह्नि है। धूम के अधिकरण पर्वत आदि में वह्नि का अत्यन्ताभाव नहीं मिलता। इसलिये वह्नि धूम के अधिकरण में वर्तमान घटादि के अत्यन्ताभावों का अप्रतियोगी है अतः वह्निरूप साध्य धूम हेतु का व्यापक है। हेतु के व्यापक साध्य क साथ सामाना-धिकरणरूप व्याप्ति लक्षण का स्वरूप इस रीति से होगा। हेतु के व्यापक अर्थात् हेतु के अधिकरण में वर्तमान अत्यन्ता-भाव का अप्रतियोगी जो साध्य है, उस साध्य क साथ एक अधिकरण में वृत्ति-व्याप्ति है। इस लक्षण को अतिव्याप्त असत् हेतु में नहीं होती। "पर्वत धूमवाला है—वह्नि होने से" यह असत् हेतु का प्रसिद्ध उदाहरण है। इस प्रयोग में धूम साध्य है और अग्नि हेतु है। वह्निरूप हेतु में व्याप्ति का लक्षण नहीं जाता। धूम साध्य अग्निरूप हेतु का व्यापक नहीं है। अग्नि हेतु का अधिकरण तप्त लोह पिण्ड है। उसमें धूम का अत्यन्ताभाव है। उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी धूम है। अतः धूम वह्नि का व्यापक नहीं इसलिए व्याप्ति का यह लक्षण वह्निरूप दुष्ट हेतु में नहीं जाता।

इस लक्षण के अनुसार सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति है । हेतु में सामानाधिकरण्य रहता है और वह एक एक व्यक्ति में विश्रान्त होता है। वह्नि के साथ एक अधिकरण-में जो वृत्ति है वह प्रत्येक धूम में है । यदि हेतु व्यक्ति प्रत्यक्ष के योग्य हो तो हेतु में जो वृत्ति है उसका भी प्रत्यक्ष हो सकता है । धूम प्रत्यक्ष है इसलिए धूम में जो वह्नि के अधि-करण पर्वत आदिसे निरूपित वृत्ति है वह भी प्रत्यक्ष है । इस रीति से वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति प्रत्यक्ष हो सकती है । धूम और वह्नि का अनेकबार साथ दर्शन हुआ है और व्यभिचार का दर्शन नहीं हुआ अर्थात् वह्नि के बिना अकेले धूम का दर्शन नहीं हुआ। अनेकबार का दर्शन और व्यभि-चार का अदर्शन इन दोनों की सहायता से इन्द्रिय, हेतु व्यापक साध्य के साथ सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का ज्ञान कर सकती है । जो धूम और वह्नि सामने हैं उनकी इस व्याप्ति के इन्द्रियों द्वारा ज्ञान में कोई बाधक नहीं है । स्वरूप से प्रयुक्त अव्यभिचार रूप व्याप्ति को इन्द्रिय नहीं जान सकतीं । परन्तु साध्य-सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति के ज्ञान में इन्द्रियों का पूर्ण सामर्थ्य है।

अब यदि आप कहें–इस रीतिसे इन्द्रियों के द्वारा व्याप्ति का जो ज्ञान होता है वह वर्तमानकाल और पुरो-वर्ती देश में जो साध्य-साधन हैं उनका होता है । अन्यकालों में और अन्यदेशों में जो साध्य-साधन हैं उनकी व्याप्ति का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता, और वह अत्यन्त आवश्यक है तो यह कथन भी युक्त नहीं। अर्थों के साथ दो प्रकार के संनिकर्ष से इन्द्रिय ज्ञान को उत्पन्न करती हैं । एक संनिकर्ष लौकिक है, और दूसरा संनिकर्ष अलौकिक है। संयोग आदि

संनिकर्ष लौकिक है-इस संनिकर्ष के द्वारा वर्तमानकाल के और पुरोवर्ती देश के वृक्ष को अथवा वृक्ष के रूप आदिको इन्द्रिय जानती हैं। सामान्य स्वरूप अलौकिक संनिकर्ष के द्वारा समस्त काल और देश के साध्य और साधन व्यक्तियों के साथ इन्द्रियों का संबंध होता है। उसके द्वारा इन्द्रिय समस्त साध्य-साधन व्यक्तियों की व्याप्ति को जान सकती हैं। इस सामान्य स्वरूप अलौकिक संनिकर्ष का यथार्थ रूप इस प्रकार है-इन्द्रिय के साथ जिस अर्थ का संबंध होता है उस अर्थ के विषय में जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब उस ज्ञान का विषय विशेष्य होता है, इस प्रकारका ज्ञान इन्द्रिय संबंध विशेष्यक कहा जाता है। इस ज्ञान में जो सामान्य प्रकारभूत है उस सामान्य का ज्ञान अलौकिक संनिकर्ष है। चक्षु के साथ धूम का संबंध होने पर यह धूम है इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में धूमत्व प्रकार है। धूमत्व का यह ज्ञान चक्षु का अलौकिक संनिकर्ष है। धूमत्व के ज्ञानरूप अलौकिक सनिकर्ष से चक्षु कालान्तर और देशान्तर के धूमों को जान सकती है। इसी प्रकार समस्त वह्नियों का भी प्रत्यक्ष होता है। उत्तरकाल में समस्त धूम और वह्नियों की व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो सकता है।

मूलम्:-न; 'तर्कयामि' इत्यनुभवसिद्धेन तर्केणैव सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण व्याप्तिग्रहोपपत्तौ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पने प्रमाणाभावात्, ऊहं विना ज्ञातेन सामान्येनापि सकलव्यक्त्यनुपस्थितेश्च।

अर्थः—समाधान में कहते हैं—"तर्कयामि" में तर्क करता हूँ—इस अनुभव से तर्क सिद्ध होता है। इस तर्क के द्वारा समस्त साध्य और साधन व्यक्तियों के साथ व्याप्ति का ज्ञान होता है। आप जिस सामान्यरूप संबंध की कल्पना करते हो उसमें प्रमाण नहीं है। यदि सामान्य का ज्ञान हो भी जाय तो तर्क के बिना समस्त व्यक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता।

विवेचनाः—वर्तमानकाल और पुरोवर्ती देश में जितनी व्यक्तियाँ है उतनी व्यक्तियों में साध्य के साथ सामनाधिकरण्यरूप व्याप्ति का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है। इस विषय में इन्द्रियों की शक्ति अनुभव से सिद्ध है। परन्तु सामान्यरूप अलौकिक संनिकर्ष के द्वारा इन्द्रियों में जिस शक्ति को आप कहते हैं वह युक्त नहीं। व्यवहित देशकाल की व्यक्तियाँ इन्द्रियों का विषय ही नहीं हैं। सामान्यरूप संनिकर्ष—उनमें इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त सामान्य स्वरूप संनिकर्ष की सत्ता में प्रमाण भी नहीं है। तर्क के द्वारा समस्त साध्य साधन व्यक्तियों का ज्ञान हो सकता है। समस्त साध्य साधन व्यक्तियों के साथ तर्क का स्वाभाविक संबंध है। इन्द्रियों में यह शक्ति नहीं है। समस्त व्यक्तियों के बिना सामान्य नहीं रह सकता यह ज्ञान जब तक न हो तब तक सामान्य समस्त व्यक्तियों को उपस्थित नहीं कर सकता। समस्त व्यक्तियों के बिना सामान्य उत्पन्न नहीं होता। यह ज्ञान तर्क के बिना

असंभव है। धूमत्व सामान्य का संबंध समस्त धूम व्यक्तियों के साथ है कुछ एक व्यक्तियों के साथ नहीं–इसका कारण क्या ? यह प्रश्न यदि हो, तो तर्क की अपेक्षा होगी। समस्त धूम व्यक्तियों के साथ धूमत्व का संबंध यदि न हो, तो धूमत्व सामान्यरूप नहीं हो सकता। अनेक व्यक्तियों में वृत्ति सामान्य का आवश्यक स्वरूप है। यदि तर्क के बिना सामान्य समस्त व्यक्तियों के साथ अपने संबंध को नहीं सिद्ध कर सकता तो तर्क को ही प्रमाण मानना चाहिए। इस विषय में सामान्य स्वरूप संनिकर्ष की कल्पना युक्त नहीं है। समस्त साध्य–साधन व्यक्तियों का अस्पष्ट ज्ञान भी इस विषय में इन्द्रियों को असमर्थ सिद्ध करता है। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट होता है। जितने धूम हैं वे सब जब वह्नि होती है तभी होते हैं वह्नि के बिना नहीं होते। इस प्रकार का ज्ञान अस्पष्ट स्वरूप का है। इसलिये यह ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न तर्क स्वरूप है।

मूलम्–वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैवावगम्यते; तस्यैव सकलशब्दार्थगोचरत्वात्। प्रयोजकवृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टामवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकतां शब्देऽवधारयन्नो(यतो)ऽन्त्यावयवश्रवण-पूर्वावयवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयसङ्कलनात्मकप्रत्यभिज्ञानवत आवापोद्वापाभ्यां सकलव्यक्त्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभावप्रतीतिदर्शनादिति।

अर्थ–वाच्य वाचक भाव भी तर्क द्वारा प्रतीत

होता है कारण–समस्त वाच्य और वाचक तर्क के विषय हैं। इस विषय में हेतु इस प्रकार है--जो मनुष्य वाच्यवाचक भाव को नहीं जानता वह प्रयोजक वृद्ध से कहे हुए वाक्य को सुनकर प्रवृत्ति करनेवाले प्रयोज्य वृद्ध की चेष्टा को देखता है और उसके द्वारा निश्चय करता है। प्रयोज्य वृद्ध की प्रवृत्ति का कारण ज्ञान है और उस ज्ञान का कारण शब्द है। इसके अनन्तर उसको अन्तिम अवयव के श्रवण और पूर्व अवयव के स्मरण से वर्ण-पद और वाक्य के विषय में संकलन रूप प्रत्यभिज्ञान होता है। उसके अनन्तर आवाप और उद्वाप के द्वारा समस्त व्यक्तियों के साथ वाच्यवाचक भाव की प्रतीति होती है।

विवेचनाः-चक्षु, रसना, नासिका, और त्वचा ये चार इन्द्रिय रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चार विषयों में ज्ञान उत्पन्न करती हैं। श्रोत्र के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है, इस जातिका शब्द वाचक है और इस जाति का अर्थ वाच्य है. इस प्रकार का वाच्य-वाचक भाव किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है-उसकी प्रतीति के लिये तर्क चाहिये। प्रयोजक वृद्ध पुरुष जब कहता है 'गौ को लाओ' तब प्रयोज्य पुरुष गौ और लाओ इन दो पदों के वाच्य-वाचक भाव को जानता है, इसलिये गाय लाने के लिये प्रवृत्त होता है। जो पुरुष इन दो पदों के वाच्य-वाचक भाव को नहीं जानता वह प्रयोज्य पुरुष को गाय लाने के लिये प्रवृत्ति को देखकर समझता है,

प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति का कारण ज्ञान है और उस ज्ञान के कारण प्रयोजक पुरुष के शब्द हैं । इन शब्दों के विषय में उसको 'यह वर्ण है' ये पद हैं, ये वाक्य हैं, इस प्रकार सकलनरूप प्रत्यभिज्ञान होता है । गौ के शब्द के 'ग् औ' इतने वर्ण अवयव हैं । पूर्व पूर्व अवयव वर्णों के सुनने से संस्कार उत्पन्न होता है । जब अन्तिम अवयव वर्ण को सुनता है तब पूर्व वर्णों का स्मरण होता है । इस रीति से वह जानता है-यह वर्ण 'ग्' है और यह वर्ण 'औ' है । इस रीति से वर्णों के विषय में उसको प्रत्यभिज्ञान होता है । इसके उत्तरकाल में उसी मनुष्य को पूर्व पूर्व वर्णों के सुननेसे संस्कार उत्पन्न होते हैं । इसलिये जब अन्तिम वर्ण को सुनता है, तब क्रम से युक्त पूर्व वर्णों का स्मरण होता है । इसके अनन्तर इस पद का यह अर्थ है-इस प्रकार के संकेत का ज्ञान होता है-इसके द्वारा उसको यह नाम पद है और यह क्रिया पद है इस प्रकार का ज्ञान होता है । प्रकृत उदाहरण में 'गौ को' इतना नाम-पद है और 'लाओ' इतना क्रिया-पद है । इस रीति से नाम और क्रियापदों का ज्ञान हो जाने पर उसी मनुष्य को पूर्व पूर्व पदों के सुननेसे संस्कार उत्पन्न होते हैं और अन्तिम पद के सुनने पर क्रम से युक्त पूर्वपद और वाक्य के विषय में जो संकेत है उसका स्मरण होता है इसके अनन्तर वह वाक्य है इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान प्रकट होता है । इस रीति के द्वारा वर्ण-पद और वाक्य का ज्ञान प्रत्यभिज्ञानरूप होता है । प्रयोजक पुरुष के शब्द को सुनकर होनेवाली प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को देखकर वाच्य-वाचक भाव के ज्ञान से रहित पुरुष अनुमान करता है । प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति का कारण यह

शब्द है । प्रवृत्ति का कोई अन्य कारण उपस्थित नहीं है। प्रयोजक पुरुष ने जब शब्दों का प्रयोग किया उसके उत्तरकाल में इसकी प्रवृत्ति हुई। इस कारण प्रयोज्य पुरुष को अर्थ का ज्ञान शब्द द्वारा हुआ है। इस प्रकार वह मानता है। जब प्रयोज्य पुरुष 'गौ को लाता है' तब वह अनुमान करता है, प्रयोज्य पुरुष को इस अर्थ का ज्ञान इन शब्दों से हुआ है। जो वाक्य सुना है वह दो पदों का समूहरूप है। उत्तरकाल में किस पद का क्या अर्थ है इस प्रकार उसको संदेह होता है। अन्यकाल में वही मनुष्य "गौ को ले जा" इस प्रकार सुनता है। इससे वह विचार करता है-इस वाक्य में 'गौ' शब्द वही है जो पूर्व वाक्य में था, परन्तु 'लाओ' शब्द यहाँ नहीं है। उत्तरकाल में "घोडे को लाओ" इस प्रकार सुनता है। वहाँ पर गौ शब्द नहीं है, परन्तु "लाओ" वही शब्द है जो प्राचीन वाक्य में था। इस प्रकार जो निश्चय होता है उसके अनुसार वह गौ आदि शब्दों के समान गौ आदि अर्थों की भी अनुवृत्ति और व्यावृत्ति जान लेता है। इस रीति से एक पद के उद्वाप अर्थात् अपनय और अवाप अर्थात् अन्यपद के प्रयोग द्वारा इस प्रकार की जाति का अर्थ वाच्य है और इस प्रकार की जाति का शब्द वाचक है इस रीति से उसको समस्त शब्दों और समस्त अर्थों में वाच्य-वाचकभाव का ज्ञान तर्क से होता है।

मूलम्:-अयं च तर्कः सम्बन्धप्रतीत्यन्तर-निरपेक्ष एव स्वयोग्यतासामर्थ्यात्सम्बन्धप्रतीतिं जनयतीति नानवस्था।

अर्थः--यह तर्क प्रमाण संबंध की प्रतीति की

अपेक्षा के बिना ही अपनी योग्यता के बल से संबंध की प्रतीति को उत्पन्न करता है । इसलिये अनवस्था नहीं है ।

विवेचना:-कुछ लोग तर्क पर इस रीति से आक्षेप करते हैं-जिस साध्य साधन भाव और वाच्य-वाचक भाव को तर्क प्रकाशित करता है उसके साथ तर्क का कोई संबंध नहीं हो सकता । यदि वह संबंध के बिना अपने विषय का प्रतिपादन करता है तो रूप-रस-आदिका भी प्रतिपादन करना चाहिये । साध्य-साधन आदिके साथ जिस प्रकार तर्क का संबंध नहीं है इस प्रकार रूप-रस आदिके साथ भी नहीं है । यदि आप कहें-संबंध द्वारा तर्क अपने विषय का प्रतिपादन करता है, तो आप कहीए-अपने विषय के साथ तर्क का जो सम्बन्ध है, उस सबंध का ज्ञान किस प्रमाण से होता है ? इसके उत्तर में यदि आप कहते हैं-'प्रत्यक्ष से होता है' तो वह युक्त नहीं है । प्रत्यक्ष का विषय रूप आदि ही है समस्त साध्य- साधनों को और वाच्य वाचकों को व्याप्त करनेवाला साध्य साधन भाव अथवा वाच्य-वाचक भाव उसका विषय नहीं है । जो विषय नहीं है उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । यदि आप अनुमान के द्वारा उस संबंध की प्रतीति को कहते हैं तो वह भी युक्त नहीं है । जो अनुमान साध्य-साधन भाव आदिके साथ तर्क के संबंध को जानता है वह अनुमान भी तर्क द्वारा होता है । जिस तर्क के द्वारा वह अनुमान होता है वह तर्क भी अपने विषय के साथ जो सबंध है, उसके ज्ञान के लिये अन्य अनुमान की अपेक्षा करता है । जो अन्य अनुमान है वह भी तर्क की अपेक्षा करता है, इस रीति से अनवस्था होगी । इस

अनवस्था से बचने के लिये आप कहते हैं-प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा नहीं, किन्तु अन्य तर्क के द्वारा तर्क और विषय के संबंध का ज्ञान होता है-तो वह भी युक्त नहीं है। अन्य तर्क भी अपने विषय के साथ जो सबंध है उसको बिना जाने प्रवृत्ति नहीं कर सकता, इसलिये तर्क को भी अन्य तर्क की अपेक्षा होगी। इस रीति से अनवस्था यहाँ भी रहेगी।

इस आक्षेप के उत्तर में सिद्धान्ती कहता है-तर्क जब प्रवृत्ति करता है, तब अपने विषय के साथ तर्क का संबध होता है, परन्तु तर्क उसके ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। इस विषय में तर्क की प्रत्यक्ष के साथ समानता है। प्रत्यक्ष जब प्रवृत्त होता है तब अपने विषय के साथ उसका संबंध होता है, परन्तु उस संबंध के ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष नहीं करता। यदि प्रत्यक्ष संबंध के ज्ञान की अपेक्षा करे तो अनुमान के द्वारा उस संबध का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अनुमान की अपेक्षा होगी तो अनुमान भी अन्य प्रत्यक्ष की अपेक्षा करेगा। अन्य प्रत्यक्ष भी अपने विषय के साथ जो संबंध है उसके ज्ञान के लिये अन्य अनुमान की अपेक्षा करेगा। इस रीति से अनवस्था होगी। यदि आप अनवस्था से बचने के लिये कहते हैं अपने विषयों के साथ प्रत्यक्ष का जो संबंध है, उसका ज्ञान अन्य प्रत्यक्ष से होगा। तो अन्य प्रत्यक्ष भी अन्य प्रत्यक्ष की अपेक्षा करेगा। इस रीतिसे अनवस्था यहाँ भी है। इन दोषों का निराकरण प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वभाव से होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण अपने विषय में योग्यता के बलसे प्रवृत्ति करता है। अपने विषय के साथ जो संबंध है उसके ज्ञान की अपेक्षा वह नहीं करता। इसी प्रकार तर्क भी अपनी

योग्यता के बल से अपने विषय के ज्ञान को उत्पन्न करता है अपने विषय के ज्ञान में जो आवरण है उसका और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम तर्क का योग्यता विशेष है। प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रिय आदि जिस प्रकार योग्यता के सहकारी कारण हैं इस प्रकार उपलम्भ और अनुपलम्भ तर्क की उत्पत्ति में सहकारी हैं। अर्थके साथ इन्द्रियों का जो संबंध है उसको बिना जाने जिस प्रकार प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है इस प्रकार अपने विषय के साथ जो संबध है उसको बिना जाने तर्क प्रवृत्त होता है इस दशा में अनवस्था दोष नहीं है।

मूलम्:-प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्परूपत्वान्नायं प्रमाणमिति बौद्धाः।

अर्थः-बौद्ध कहते हैं-तर्क प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाला विकल्परूप ज्ञान है, इसलिये प्रमाण नहीं है।

विवेचनाः-बौद्धमत के अनुसार विद्यमान अर्थ का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण है जो ज्ञान कल्पना के बल से उत्पन्न होता है वह सविकल्पक कहा जाता है और वह प्रमाण होता नहीं। मरुस्थलमें जब सूर्य के प्रचंड ताप में जल दिखाई देता है, तब वह जल कल्पना से प्रतीत होता है। परन्तु वह ज्ञानका सत्य आलंबन नहीं है। सत्य आलंबन से रहित होने के कारण मरुस्थल की किरणों में जल ज्ञान अप्रमाण होता है। तर्क ज्ञान का आलंबन भी सत्य नहीं है। साध्य वहिन और साधन धूम का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। तर्क कहता है कि-"यदि बह्नि न हो-तो धूम नहीं होता"। वह्नि के होने पर भी वह कल्पना करता है-यदि यहाँ वहिन न हो तो

तो धूम न होता। जितना अंश साध्य और साधन के रूप में विद्यमान है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। प्रत्यक्ष से जो ज्ञात है उसी अर्थ को यदि तर्क प्रकाशित करे तो उससे तर्क का प्रामाण्य नहीं हो सकता। तर्क का जो अपना विषय है वह कल्पित है। साध्य और साधन को प्रत्यक्ष से जानकर उत्तरकाल में कल्पनारूप तर्क ज्ञान होता है-इसलिये वह प्रमाण नहीं।

मूलम्:-तन्न, प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षगृहीतमात्राध्यवसायित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावात्। तादृशस्य तस्य सामान्यविषयस्याप्यनुमानवत् प्रमाणत्वात्, अवस्तुनिर्भासेऽपि परम्परया पदार्थप्रतिबन्धेन भवतां व्यवहारतः प्रामाण्यप्रसिद्धेः।

अर्थ-यह कथन युक्त नहीं है। प्रत्यक्ष के उत्तरकाल में जो विकल्प उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात पदार्थ को ही जान सकता है। वह विकल्प समस्त साध्य और साधनों की व्याप्ति को नहीं जान सकता। यदि तर्क विकल्परूप और सामान्य का प्रकाशक हो, तो भी अनुमान के समान प्रमाण है। परमार्थ में जो वस्तु नहीं है। उसका प्रकाशक होने पर भी परंपरा के द्वारा पदार्थ के साथ संबंध होने के कारण आपके मत में व्यवहार से प्रामाण्य की प्रसिद्धि है।

विवेचनाः—जो अर्थ प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात है वही तर्क का विषय नहीं है। समस्त साध्य साधनों की व्याप्ति तर्क का विषय है। उसके प्रकाशन में प्रत्यक्ष की शक्ति नहीं है। मरु में जल जिस प्रकार कल्पित है इस प्रकार तर्क ज्ञान का विषय कल्पित भी नहीं है। साध्य साधन भाव तर्क का विषय है और वह पारमार्थिक है। इस विषय में आपका आक्षेप इस प्रकार है—समस्त साध्य-साधनों का ज्ञान सामान्य के बिना नहीं हो सकता।

जैनमत के अनुसार सामान्य समस्त व्यक्तियों में रहता है। इस प्रकार के सामान्य की सत्ता सत्य नहीं किन्तु कल्पित है। कल्पित सामान्य का आश्रय लेकर व्यापक रूप में साध्य-साधन भाव अथवा वाच्य-वाचक भाव का प्रकाशन करने वाला तर्क-ज्ञान मरु में जलज्ञान के समान अप्रमाण है।

यह आक्षेप युक्त नहीं है। सामान्य कल्पित नहीं है। व्यक्तियों से भिन्न और अभिन्न समान्य पारमार्थिक है। फिर आपके मत के अनुसार तो कल्पित सामान्य का आश्रय लेने से तर्क ज्ञान अप्रमाण नहीं हो सकता। अनुमान को प्रमाण कहते हो। आपके मतके अनुसार अनुमान कल्पित सामान्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है। सामान्य का ग्राहक होने पर भी अनुमान जिस प्रकार प्रमाण है इसप्रकार तक भी प्रमाण हो सकता है। आपके मतमें आमान्य "अतद् व्यावृत्ति रूप" है। इसके अनुसार धूम से जो अर्थ भिन्न है उनका भेद धूम में प्रतीत होता है अन्य वस्तुओं से भिन्न होने के कारण समस्त धूम परस्पर भिन्न होने पर भी समान प्रतीत होते हैं। इसलिये सामान्य अन्यों का भेद रूप है। यह भेद कल्पित है।

वह पारमार्थिक भाव रूप नहीं है। सत्य भावरूप अर्थ से उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है. परन्तु अनुमिति भावरूप अर्थ से उत्पन्न नहीं है किन्तु सामान्य से उत्पन्न है। इस सामान्य का संबंध पारमार्थिक भावरूप अर्थ के साथ है। इस कारण अनुमान कल्पित अर्थ का प्रकाशक होने पर भी सत्य अर्थ की प्राप्ति कराता है और इस कारण व्यवहार की दृष्टि से प्रमाण भी है यह सब जो आपने अनुमान के प्रामाण्य के लिये कहा है-वह तर्क ज्ञान के विषय में भी कहा जा सकता है। जिस सामान्य को लेकर तर्क व्यापक रूप में साध्य-साधन-भाव आदिको प्रकाशित करता है उस सामान्य का संबंध सत्य अर्थों के साथ है। वास्तव में सामान्य व्यक्तिओं से भिन्न और अभिन्न है।

मूलम्:-यस्तु अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एकः, तदनन्तरमग्नेरूपलम्भस्ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकादव्याप्तिग्रहः-इत्येतेषां सिद्धान्तः, तदुक्तम्-

"धूमधीर्वह्निविज्ञानं, धूमज्ञानमथोस्तगोः।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः॥"
इतिः

अर्थः-इस विषय में बौद्धों का जो यह सिद्धान्त है-अग्नि और धूम से रहित स्थान में पहली बार धूमका अनुपलम्भ होता है। यह एक अनुपलम्भ है।

इसके अनन्तर अग्नि का उपलम्भ और धूम का उपलम्भ ये दो उपलम्भ है। इसके उत्तरकाल में अग्नि का अनुपलम्भ और इसके अनन्तर धूम का अनुपलम्भ ये दो अनुपलम्भ है। इस रीति से प्रत्यक्ष दो उपलम्भ और तीन अनुपलम्भ मिलकर दो उपलम्भ और तीन उपलम्भों से अर्थात् उपलम्भ और अनुपलम्भ के पंचक से व्याप्ति का ज्ञान होता है। कहा है–'प्रथमकाल में धूम का अनुपलम्भ है और उत्तरकाल में अग्नि का ज्ञान और धूम का ज्ञान है, इसके अनन्तर अग्नि का और धूम का अनुपलम्भ है। इस रीति से प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ रूप पाँच कारणों के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान होता है।'

विवेचना :--बौद्ध कहते हैं-उपलम्भ और अनुपलम्भरूप प्रत्यक्ष से कार्य कारण भाव का ज्ञान होता है। अग्नि कारण है और कार्य धूम है। कार्य कारण के साथ नियत होता है यदि कार्य कारण के साथ नियत न हो तो वह कारण की अपेक्षा से रहित हो जायगा। यदि कार्य कारण से निरपेक्ष हो जाय, तो वह सदा विद्यमान अथवा सदा अविद्यमान हो जाना चाहिये। किसी काल में विद्यमानता और किसी काल में अविद्यमानता अपेक्षा से ही हो सकती है। इस रीति के द्वारा समस्त साध्य साधनों में व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ इन दोनों से हो सकता है।

मूलम् :–स तु मिथ्या; उपलम्भानुपलम्भ-स्वभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य सन्निहित-मात्रविषयतयाऽविचारकतया च देशादिव्य-वहितसमस्तपदार्थगोचरत्वायोगात् ।

अथ :–बौद्धों का यह सिद्धांत मिथ्या है । उपलम्भ और अनुपलम्भ स्वभाववाला दो प्रकार का प्रत्यक्ष समीपवर्ती विषय में ही होता है और विचारक न होने-के कारण देश आदिसे व्यवहित समस्त पदार्थों में नहीं हो सकता ।

विवेचना :–व्याप्तिज्ञान का विषय केवल समीपवर्ती धूम आदि नहीं है, किन्तु अतीत और अनागत काल में और व्यवहित देश में जो धूम और वह्नि है वे भी विषय हैं । इन विषयों के साथ प्रत्यक्ष का संबंध नहीं हो सकता । जो भी धूम है वह किसी देश में हो अथवा किसी काल में हो वह अग्नि से ही उत्पन्न हो सकता है । किसी अन्य अर्थ से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इतने विचारों के करने की शक्ति प्रत्यक्ष में नहीं है । इसलिये प्रत्यक्ष व्यापक रूप में व्याप्ति का प्रतिपादन नहीं कर सकता । उपलम्भ और अनुपलम्भ के द्वारा अग्नि कारण और धूम कार्य प्रतीत होता है । यदि भिन्न देशकाल में वह्नि के बिना धूम उत्पन्न हो जाय तो वह वह्नि का कार्य नहीं हो सकता और यदि अग्नि का कार्य न हो तो अग्नि के अभाव में उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये । जब वह्नि हो उसी काल में ही उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये । इस रीतिसे सर्वथा तुच्छ रूप होनेके कारण आकाश पुष्प और वन्ध्या पुत्र आदिके

समान उसका किसी कालमें दर्शन नहीं होना चाहिये इस प्रकार का आक्षेप हो सकता है । परन्तु इस रीति से यदि व्याप्ति का ज्ञान हो, तो पुरोवर्ती और वर्तमानकाल में ही व्यापक वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति का ज्ञान होना चाहिये भिन्न देशकाल के जो वह्नि स्थ नहीं उनके साथ व्याप्ति के ज्ञान के लिये तर्क नामक भिन्न प्रमाण आवश्यक है। अनुमान के समान तर्क, भ्रम और संदेह को दूर करता है इसलिये प्रमाण है।

मूलम्:-यत्तु 'व्याप्यस्याहार्यारोपेण व्यापकस्याहार्यप्रसञ्जनं तर्कः। स च विशेषदर्शनवद् विरोधिशङ्काकालीनप्रमाणमात्रसहकारी, विरोधिशङ्कनिवर्तकत्वेन तदनुकूल एव वा । न चार्यं 'स्वतः प्रमाणम्' इति नैयायिकैरिष्यते;

अर्थ-तर्क के विषय में नैयायिकों का मत इस प्रकार है-व्याप्य के आहार्य आरोप से व्यापक का आहार्य आरोप तर्क है और वह विशेष के दर्शन के समान विरोधी शंका के काल में विद्यमान प्रमाण का सहकारी होता है अथवा विरोधी शंका का निवर्तक होनेके कारण प्रमाण के अनुकुल होता है । किन्तु यह तर्क स्वयं प्रमाणरूप नहीं है ।

विवेचना:-न्याय के अनुगामी लोग तर्क के स्वरूप को भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। वे लोग उसको प्रमाण का सहकारी अथवा प्रमाण के अनुकूल कहते हैं । वे उसको

प्रमाणरूप नहीं मानते। जहां व्याप्य वास्तवरूप में नहीं है वहाँ उसका आरोप करके व्यापक की आपत्ति न्यायमत में तर्क है। यह आरोप आहार्य होता है। जिस काल में बाध है, उस काल में इच्छा से उत्पन्न ज्ञान आहार्य कहा जाता है। धूम वह्नि से जन्य है धूम व्याप्य है और वह्नि व्यापक है। जो अर्थ वह्नि का नियम से सहचारी नहीं वह वह्नि का कार्य नहीं। वृक्ष आदि जहाँ वह्नि नहीं वहाँ भी होते हैं, इसलिये वह्नि के व्यभिचारी हैं। जो वह्नि का व्यभिचारी है वह वह्नि का कार्य नहीं। वह्नि के व्यभिचारी वृक्ष आदि वह्नि से जन्य नही हैं। वृक्ष के कारण बीज आदि, वह्नि नहीं। इसलिये वह्नि का व्यभिचार व्याप्य और वह्नि से जन्यता का अभाव व्यापक सिद्ध होता है। जहाँ वह्नि के साथ व्यभिचार है अर्थात् नियत सहचार नहीं वहाँ वह्नि से जन्यता नहीं। धूम वह्नि से जन्य है यह निश्चय जब होता है, तब वह्नि के साथ व्यभिचार के अभाववाले धूप में इच्छा से वह्नि व्यभिचार का जो ज्ञान होता है वह आहार्य आरोप कहा जाता है। धूम वह्नि का व्यभिचारी नहीं इस तत्त्व को जानता है-तो भी आरोप करता है-'यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी हो' यह आरोप व्याप्य का आहार्य आरोप है, इस आरोप के कारण दूसरा आरोप करता है, 'तो धूम वह्नि से जन्य न हो।' वह्नि से जन्य है यह निश्चय है। तो भी इच्छा से आरोप करता है-'तो वह्नि से जन्य न हो' यह आरोप भी आहार्य आरोप है। बाध निश्चय के काल में यह आरोप होता है इसलिये यह आहार्यरूप ज्ञान सत्य अर्थ से नहीं उत्पन्न हुआ। इसलिये वह प्रमाणरूप नहीं हो सकता।

अप्रमाण होने पर भी यह तर्क प्रमाण का सहकारी है। संदेह के काल में विशेष धर्मों का दर्शन प्रमाणभूत इन्द्रिय का जिस प्रकार सहकारी होता है. इस प्रकार तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण का सहकारी होता है। अंधकार और दूरी के कारण पुरोवर्ती अर्थ में 'यह स्थाणु है वा नहीं' इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। इस संदेह में एक कोटि स्थाणुत्व है और दूसरी कोटि स्थाणुत्व का अभाव है। जब तक ऊँचाई रूप साधारण धर्म का दर्शन होता है और स्थाणु के अथवा स्थाणु से भिन्न पुरुष के विशेष धर्मों का दर्शन नहीं होता, तब तक संदेह रहता है। शाखा-पत्र आदि स्थाणुत्व के व्याप्य और हस्तपाद आदि पुरुष के व्याप्य विशेष धर्म हैं। जब हस्त-पाद आदि पुरुषत्व के व्याप्य विशेष धर्मों का दर्शन होता है, तब वह दर्शन चक्षु इन्द्रियरूप प्रमाण का सहकारी हो जाता है। उत्तरकाल में यह पुरुष है इस प्रकार का निश्चय होता है। इसी रीति से व्याप्य के आरोप द्वारा व्यापक का आरोप रूप यह तर्क भी प्रत्यक्ष प्रमाण का सहकारी हो जाता है। जब व्याप्ति के विरोध में व्यभिचार की शंका होती है तब अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण व्याप्ति का निश्चय नहीं कर सकता परन्तु तर्क जब विरोध करनेवाली व्यभिचार की शंका को दूर कर देता है तब अन्वय व्यतिरेक के ज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से व्याप्ति का निश्चय हो जाता है। पुरुष के निश्चय में हस्तपाद आदि विशेष धर्मों का दर्शन जिस प्रकार स्वतन्त्ररूप में प्रमाण नहीं, इसी प्रकार तर्कस्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण जिस निश्चय को उत्पन्न करता है, उसमें तर्क भी कारण है। इसलिये वह प्रत्यक्ष का सहकारी हो सकता है। अथवा हस्तपाद आदि विशेष धर्मों का दर्शन स्थाणुत्व के

विरोधी ज्ञान को दूर करके जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के अनुकूल होता है इस प्रकार तर्क व्यभिचाररूप विरोधी शंका को दूर करके अन्वय और व्यतिरेक सहचार के ज्ञान-रूप प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुकूल हो जाता है।

मूलम्:–तत्र; व्याप्तिग्रहरूपस्य तर्कस्य स्व-परव्यवसायित्वेन स्वतः प्रमाणत्वात्, पराभिमततर्कस्यापि क्वचिदेवद्विचाराङ्गतया, विपर्यय-पर्यवसायिन आहार्यशङ्काविघटकतया, स्वा-तन्त्र्येण शङ्कामात्रविघटकतया वोपयोगात्।

अर्थः–नैयायिकों का यह कथन युक्त नहीं। व्याप्ति का ज्ञानरूप तर्क स्व और परका व्यवसायी होने-से स्वतः प्रमाण है। नैयायिक जिस तर्क को स्वीकार करते है वह किसी काल में विपर्यय के रूप में होकर आहार्य शंका को दूर करता है और उसके द्वारा व्याप्ति के विचार में अंगरूप हो जाता है। जैन जिस तर्क को मानते हैं वह तर्क व्याप्ति का विचार करता है। उस विचार में नैयायिकों द्वारा माना हुआ तर्क अंगरूप हो जाता है अथवा स्वतन्त्ररूप से शंका का निवारक होने के कारण नैयायिकों का तर्क उपयोगी हो जाता है।

विवेचनाः–आहार्य ज्ञानरूप तर्क व्याप्ति का प्रकाशक नहीं है। जैन मत के अनुसार समस्त देश और काल की साध्य-साधन व्यक्तियों का ज्ञान तर्क है और वह स्व और परका

व्यवसायी है, इसलिये अन्य प्रमाणभूत ज्ञानों के समान वह स्वयं प्रमाण है। नैयायिक जिस तर्क को स्वीकार करते हैं वह भी निष्फल नहीं है। अन्त में विपर्यय के रूप में होकर वह आहार्य शंका को दूर करता है। "धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी हो जाय तो वह्नि से जन्य न हो" यह तर्क है। इसका विपर्यय इस रीति से है- धूम वह्नि से जन्य है इसलिये वह्नि का व्यभिचारी नहीं। इस विपर्यय के द्वारा वह्नि के साथ व्यभिचार का अभाव निश्चित होता है और उसके द्वारा वह्नि के साथ व्यभिचार की शंका दूर होती है। इस रीतिसे नैयायिकों का तर्क व्याप्ति के विचार में अनुकूल होता है। जहाँ व्याप्ति का विचार नहीं वहाँ भी स्वतन्त्ररूप से नैयायिकों के द्वारा माना हुआ तर्क शंका को दूर करता है। वह्नि ही कारण है, वह्नि से भिन्न कारण नहीं, धूम ही कार्य है धूम से भिन्न कार्य नहीं। इन दो नियमों का प्रकाशक हेतु कौन है ? अनियतरूप में कार्य कारणभाव क्यों नहीं ? इस प्रकार की शंका को दूर करनेके लिये तर्क स्वतन्त्ररूप से भी उपयोगी होता है।

मूलम्-इत्थं चाज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्य धर्मभूषणोक्तं सत्येव तत्र (तत्र) मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये स्वकल्पते, ज्ञानाभावनिवृत्तिस्त्वर्थज्ञाततायाव्यवहारनिबन्धनस्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम्।

अर्थः-इस अवस्था में अज्ञान का निवर्तक होने-

के कारण 'धर्मभूषण' ने तर्क को जो प्रमाण कहा है वह तब संगत होता है जब वहाँ मिथ्याज्ञान निवृत्त होने योग्य हो, ज्ञानाभाव की निवृत्ति का पर्यवसान तो स्वव्यवसाय में होता है और वह स्वव्यवसाय अर्थ ज्ञान है इस प्रकार के व्यवहार का कारण है। इस प्रकार की अज्ञान निवृत्ति सामान्य फल है—यह समझना चाहिये।

विवेचना:—दिगम्बर विद्वान् धर्मभूषण—तर्क को अज्ञान का निवर्तक होनेके कारण प्रमाण कहता है। उसके मत के अनुसार अज्ञान की निवृत्ति तर्क का फल है। यहाँ पर अज्ञान शब्द का अर्थ यदि मिथ्याज्ञान हो तो अज्ञान की निवृत्ति तर्कका फल हो सकती है। संदेह रूप मिथ्याज्ञान तर्क से दूर होता है इसलिये उसकी निवृत्ति तर्क का फल हो सकती है। अपने विषयमें जो शंका है उसको तर्क दूर करता है। इसलिये प्रमाण है और संदेह की निवृत्ति उसका फल है। परन्तु अज्ञान शब्द का अर्थ यदि संदेहरूप मिथ्याज्ञान न हो, किन्तु ज्ञान का अभाव हो तो उसकी निवृत्ति विशेष रूप से तर्क का फल नहीं हो सकती। ज्ञानाभाव की निवृत्ति ज्ञानारूप है। वह सामान्यरूप से प्रत्येक ज्ञान का फल है। जब प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव है तब प्रत्यक्ष ज्ञान के हो चुकने पर ज्ञान भाव की निवृत्ति प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होती है। अनुमान ज्ञान जब होता है तब अनुमान ज्ञान के अभावकी निवृत्ति होती है। वह निवृत्ति अनुमान ज्ञानरूप होती है। इसी रीति से स्मृति और प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों सें ज्ञानाभाव की निवृत्ति होती है। कोई भी ज्ञान इस प्रकार का ज्ञान नहीं है,

जिसके द्वारा ज्ञानाभाव की निवृत्ति न होती हो। ज्ञान स्वव्यवसायी है। उसके द्वारा जो अपने स्वरूप का प्रकाशन है वही ज्ञानाभाव की निवृत्ति है। अपने स्वरूप के प्रकाशन से ज्ञान स्वव्यवसायी कहा जाता है और इसी स्वभाव के कारण ज्ञान का जो विषय है वह ज्ञात कहा जाता है। वृक्ष का ज्ञान जब वृक्ष को प्रकाशित करता है तब अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है। जब ज्ञान का ज्ञान स्वप्रकाश होनेसे प्रतीत होता है, तब वृक्ष ज्ञात है, इस प्रकार का व्यवहार होता है। ज्ञान का ज्ञान यदि न हो तो-अर्थ ज्ञात है-यह व्यवहार नहीं हो सकता। "मुझे ज्ञान है" इस प्रकार जो मनुष्य नहीं जानता वह मुझे वृक्ष का अथवा अन्य विषय का ज्ञान है इस प्रकार व्यवहार नहीं कर सकता। इस रीति से स्वव्यवसाय ज्ञान का स्वभाव है और वह ज्ञानाभाव की निवृत्तिरूप है। यह व्यवसाय ज्ञानमात्र का स्वभाव है इसलिये अज्ञान निवृत्ति सामान्य रूप से ज्ञानमात्र का फल है। यथार्थ ज्ञान ही नहीं, संदेह और भ्रमरूप अयथार्थ ज्ञान भी ज्ञानाभाव की निवृत्ति करते हैं। मुझे संदेह और भ्रम हुआ है, इस प्रकार का ज्ञान सन्देह और भ्रम के अभाव की निवृत्ति-रूप है। इसलिये ज्ञानाभावरूप अज्ञान की निवृत्ति सामान्य-रूप से ज्ञान मात्र का फल है। वह विशेष रूप से तर्क प्रमाण का फल नहीं है। इसलिये जब 'अज्ञान की निवृत्ति तर्क का फल है' इस प्रकार कहा जाय तो अज्ञान का अर्थ शंकारूप अज्ञान करना चाहिये। शंका की निवृत्ति तर्करूपज्ञान का विशेषफल हो सकती है

[अनुमान प्रमाण का निरूपण]

मूलम्:-साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम्। तद् द्विविधं-स्वार्थं परार्थं च।

अर्थः-साधन से साध्य का ज्ञान 'अनुमान' है। वह दो प्रकारका है:-(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान।

मूलम्:-तत्र हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्, यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य पर्वतो 'वह्निमान्' इतिज्ञानम्।

अर्थः-हेतु का ज्ञान और संबंध का स्मरण इन दो कारणोंसे जो साध्य का ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है। जो धूम को प्रत्यक्ष से जानता है और धूम तथा अग्नि की व्याप्ति का स्मरण करता है उसको "यह पर्वत अग्निमान् है" इस प्रकार का ज्ञान होता है। यह स्वार्थानुमान है।

जिसने अग्नि और धूम की व्याप्ति रसोई घर में जानली है इस प्रकार का पुरुष जब पर्वत के समीप जाता है और पर्वत से निकलते धूम को देखता है, तो उसको देखने के अनन्तर अग्नि और धूमकी व्याप्ति का स्मरण होता है। धूम अग्निसे व्याप्त है, यह स्मरण का आकार है। उसके उत्तरकाल में पर्वत वह्निमान है यह ज्ञान

उत्पन्न होता है। यही अनुमिति है। इस रीति से स्वयं अग्नि को जानता है इसलिये यह स्वार्थानुमान है

मूलम्:-अत्र हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्वमवसेयम्, अन्यथा विस्मृताप्रतिपन्नसम्बन्धस्यागृहीतलिङ्गकस्य च कस्यचिदनुमानोत्पादप्रसङ्गात्।

अर्थः-यहाँ पर हेतु का ज्ञान और संबंध का स्मरण ये दोनों मिलके कारण होते हैं। यदि इस प्रकार न हो तो जिसने व्याप्ति को नहीं जाना अथवा जानकर भी जो व्याप्ति को भूल गया है अथवा जिसने हेतु को नहीं जाना उसको भी अनुमान होना चाहिये।

विवेचनाः-अकेला हेतु का ज्ञान और व्याप्ति का स्मरण अनुमान का कारण नहीं है। पूर्व काल में जिसने व्याप्ति नहीं जानी, अथवा पूर्व काल में जिसने व्याप्ति जानी तो है परन्तु अब उसका स्मरण नहीं है, इन दो पुरुषों को हेतु का ज्ञान होने पर भी अनुमिति नहीं होती, इसलिये अकेला हेतु का ज्ञान कारण नहीं है। जो पुरुष व्याप्ति का स्मरण तो करता है परन्तु इसकाल में उसे हेतु का ज्ञान नहीं हुआ उसको भी अनुमिति नहीं होती। इसलिये अकेला व्याप्ति का स्मरण कारण नहीं।

[-हेतु स्वरूप का निरूपण-]

मूलम्:-निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः, न तु त्रिलक्षणकादिः।

अर्थः—निश्चित अन्यथा अनुपपत्ति जिसका एक लक्षण है वह हेतु है। तीन लक्षणोंवाला अथवा इससे अधिक लक्षणोंवाला हेतु नहीं होता।

विवेचनाः—अन्यथा का अर्थ है—साध्यके बिना। अनुपपत्ति का अर्थ है—उपपत्ति का अभाव। साध्यके बिना उपपत्ति का अभाव हेतु का लक्षण है। यदि वह्निरूप साध्य न हो तो धूम हेतु नहीं हो सकता। यह अन्यथा अनुपपत्ति अकेली ही हेतु का लक्षण है।

मूलम्—तथाहि—त्रिलक्षण एव हेतुरिति बौद्धाः। पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वव्यवच्छेदस्य, सपक्ष एव सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासस्य, विपक्षेऽसत्त्वनियमाभावे चानैकान्तिकत्वनिषेधस्यासम्भवेनानुमित्यप्रतिरोधानुपपत्तेरिति;

अर्थः—बौद्धमत के अनुसार हेतु तीन लक्षणोंवाला होता है। पक्षधर्मत्व के अभाव में हेतु की असिद्धता की निवृत्ति नहीं हो सकती। सपक्ष में ही सत्ता न हो तो विरुद्धता की निवृत्ति नहीं हो सकती। विपक्ष में असत्त्व का नियम न हो तो अनैकांतिकता का निषेध नहीं हो सकता। इस रीति से तीन लक्षणों के बिना हेतु द्वारा अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

विवेचनाः—बौद्ध कहते हैं—पक्षसत्व, सपक्ष में सत्त्व, विपक्ष में असत्त्व, ये तीन धर्म जिस में होते हैं वह हेतु है।

पक्ष में सत्ता के बिना यदि हेतु हो, तो "शब्द अनित्य है; चक्षु से प्रत्यक्ष होनेके कारण" इस प्रयोग में चाक्षुषत्व अर्थात् चक्षु से उत्पन्न प्रत्यक्षज्ञान का विषयत्व भी हेतु हो जायगा। धूम हेतु जब वह्नि को सिद्ध करता है, तब उसमें पक्ष सत्त्व है। पर्वत पक्ष है. उसमें धूम विद्यमान है। शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये जब चाक्षुषत्व हेतु का प्रयोग होता है तब उसमें पक्षसत्त्व नहीं है। शब्द पक्ष है. उसका प्रत्यक्ष चक्षु द्वारा नहीं होता। अतः चाक्षुषत्व हेतु शब्दरूप पक्ष में नहीं है। इसलिये वह स्वरूपासिद्ध हो जाता है। स्वरूपासिद्धता की निवृत्ति पक्षसत्त्व के बिना नहीं हो सकती। इस प्रयोग में जो चाक्षुषत्व हेतु है वह सपक्ष घटादि में है और विपक्ष आकाश आदि में नहीं है। सपक्ष सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व ये दो धर्म हैं। परन्तु पक्षसत्त्व-रूप धर्म नहीं है। हेतु के लिये पक्षसत्त्व यदि आवश्यक न हो तो शब्द में चाक्षुषत्व हेतु के द्वारा अनित्यता का अनुमान होना चाहिये।

सपक्षसत्त्व हेतु के लिये यदि आवश्यक न हो, तो "शब्द नित्य है; उत्पत्तिमान होनेसे;" इस प्रयोग में उत्पत्ति मत्त्वरूप धर्म हेतु हो जायगा। यहाँ पर नित्यत्व साध्य है, इसलिये आकाश आदि सपक्ष हैं। उनमें उत्पत्तिमत्त्वरूप हेतु नहीं है। उत्पत्ति से नित्यता की सिद्धि नहीं होती। जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वे नित्य नहीं, अनित्य होते हैं। घट आदिको उत्पत्ति है और वे अनित्य हैं। नित्यता की सिद्धि के लिये उत्पत्तिमत्त्वरूप हेतु विरुद्ध है। विरुद्धता को निवृत्ति के लिये सपक्ष में सत्त्व आवश्यक है। धूम हेतु में सपक्षसत्त्व है। वहां महानस आदि सपक्ष हैं। उनमें धूम विद्यमान है; इसलिये धूम हेतु निर्दोष है।

यदि विपक्ष में असत्त्व हेतु का लक्षण न हो तो पर्वत में अग्नि की सिद्धि के लिये प्रमेयत्व हेतु हो जाना चाहिये। "पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्" इस प्रकार के प्रयोग का कर्ता प्रमेयत्व हेतु से पर्वत में अग्नि की अनुमिति करता है। यथार्थ ज्ञान का जो विषय है वह प्रमेय कहलाता है। इस हेतु में पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व ये दो धर्म हैं। पक्ष पर्वत है और वह प्रमेय है। सपक्ष रसोईघर है वह भी प्रमेय है। परन्तु विपक्ष में असत्त्व रूप जो तृतीय धर्म है वह प्रमेयत्व हेतु में नहीं है। वह्नि से रहित जलह्रद आदि विपक्ष हैं, उनमें भी प्रमेयत्व है। जलह्रद आदि का यथार्थ ज्ञान होता है इसलिये वे प्रमेय हैं। विपक्ष में विद्यमान होनेसे प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक है। विपक्ष में असत्त्व यदि आवश्यक न हो तो अनैकान्तिकता का निषेध नहीं हो सकेगा। इन तीन दोषों का निराकरण न हो तो अनुमान की उत्पत्ति नहीं होगी।

मूलमः—तन्न; पक्षधर्मत्वाभावेऽपि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयाद्, उपरि सविता भूमेरालोकवत्त्वाद्, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रादित्यानुमानदर्शनात्।

अर्थः—यह कथन युक्त नहीं है। पक्ष धर्मता के अभाव में भी "शकट नक्षत्र का उदय होगा—इस काल में कृत्तिका नक्षत्र का उदय होने से" "सूर्य ऊपर है, प्रकाश वाली पृथ्वी के होने से "आकाश में चन्द्र है—जल में चन्द्र होने से" इत्यादि अनुमान देखे जाते हैं।

विवेचना:-अश्विनी आदि नक्षत्रों का उदय जब होता है, तब उनके उत्तर काल में उत्तरवर्ती नक्षत्रों का उदय अवश्य होता है। इस व्याप्ति के कारण कृत्तिका और रोहिणी इन दो नक्षत्रों के एक काल में उदयकी अनुमिति नहीं होती। जिस काल में कृत्तिका नक्षत्र का उदय है, उस काल में रोहिणी नक्षत्र का उदय नहीं। कृत्तिका नक्षत्र का जो उदयकाल है उसके उत्तर काल में रोहिणी नक्षत्र का उदयकाल है। कृत्तिका का उदय हेतु है, वह रोहिणी के उदय काल रूप पक्ष में नहीं है इस रीति से पक्ष सत्त्व का अभाव होने पर भी अनुमिति होती है। यहाँ साध्य और साधन भिन्न काल में हैं, इसलिये पक्षधर्मता का अभाव है। कालकी अपेक्षा से पक्षधर्मता रूप लक्षण का यह व्यभिचार है। देश की अपेक्षा से भी पक्षधर्मता का व्यभिचार देखा जाता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

जब जलमें चन्द्रमा का प्रतिबिंब देखकर आकाश में चन्द्र की अनुमिति करते हैं तब आकाश चन्द्र की सत्ता साध्य होती है और जल-चन्द्र हेतु होता है। आकाश चन्द्र का देश आकाश है वहां जल चन्द्र नहीं है। इस रीति से पक्ष धर्मता के अभाव में आकाश चन्द्र की अनुमिति होती है।

इस रीति से भूमि में प्रकाश से, ऊपर आकाश में सूर्य की अनुमित होती है। आकाश देश पक्ष है उसमें भूमिका आलोक नहीं है तो भी अनुमिति होती है। अन्य अनुमान भी इस प्रकार के हैं—जहां हेतु पक्षमें विद्यमान नहीं होता। अनेक लोग नीचे के भाग में नदी के बढे हुए प्रवाह को देखकर नदी के ऊपर के प्रदेश में वृष्टि की अनुमिति करते हैं। वृष्टिका देश नदी के ऊपर के भाग में है वह पक्ष है। जल का

बढा हुआ प्रवाह रूप हेतु वहां नहीं है तो भी अनुमिति होती है । इसलिये पक्षसत्त्व रूप हेतु का लक्षण युक्त नहीं है ।

मूलम्:-न च.त्रापि 'कालाकाशादिकं भविष्यच्छकटोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात्, इत्येवं पक्षधर्मतोपपत्तिरिति वाच्यम्; अननुभूयम न धर्मिविषयत्वेन थ पक्षधर्मत्वोपपादने जगद्वार्यपेक्षया काककार्ष्ण्येन प्रासादधावल्यस्यापि साधनोपपत्तेः ।

अर्थः-यहाँ पर यदि कहा जाय काल, आकाश आदि रोहिणी नक्षत्र के भावी उदय से युक्त हैं, कृत्तिका का उदयवाला होने से । इस रीतिसे पक्षधर्मता हो सकती है, तो यह युक्त नहीं है । जिसका अनुभव नहीं होता इस प्रकार के धर्मीकी कल्पना करके यदि इस रीतिसे पक्षधर्मता को सिद्ध किया गया तो जगत-रूप धर्मीकी अपेक्षा से काककी कृष्णता के द्वारा प्रासाद की धवलता भी सिद्ध हो जायगी ।

विवेचनाः-भिन्न काल और भिन्न देशमें जहाँ पर साध्य और साधन हैं वहाँ पक्षधर्मता का उपपादन करने के लिये कहते हैं कृत्तिका का जो उदयकाल है और रोहिणी का जो उदय काल है उन दोनों कालोंका व्यापक एक विशाल काल पक्ष है । उस कालमें कृत्तिका का उदय है इसलिये यहाँ पर

हेतु में पक्षधर्मता है। जिस स्थूल काल में कृत्तिका का उदय है उसमें रोहिणी नक्षत्र का भावी उदय सिद्ध होगा। इसी रीतिसे जल चन्द्र और आकाश चन्द्र का मध्यवर्ती जितना देश है उतने को पक्ष रूपमें करने पर जल चन्द्र रूप हेतु भी पक्षमें विद्यमान हो जाता है। जिस विशाल देश में जल चन्द्र है उसी में आकाश चन्द्र रूप साध्य है।

इस रीति से हेतु में पक्षधर्मता का उपपादन युक्त नहीं इस रीति से यदि पक्षधर्मता हो तो कोई भी हेतु पक्ष धर्मता से रहित नहीं होगा। जगत को पक्ष बनाकर प्रासाद का श्वेत वर्ण काक के कृष्ण वर्ण से सिद्ध होगा। काक का कृष्ण वर्ण हेतु है वह जगत रूप पक्ष में है। इसलिये जगत में प्रासाद का श्वेत वर्ण सिद्ध होना चाहिये। इस रीति से पक्ष में रहने वाला हेतु साध्य को नहीं सिद्ध कर सकता।

वस्तुतः व्याप्ति के कारण हेतु साध्य को सिद्ध करता है। इसके लिये पक्षधर्मता आवश्यक नहीं है। कृत्तिका के उदय और रोहिणी के उदय की परस्पर व्याप्ति है। इसलिये कृत्तिका का उदय पक्षमें अविद्यमान होने पर भी रोहिणी के भावी उदय को सिद्ध करता है। इसी रीति से जल चन्द्र आकाश में चन्द्र के बिना नहीं हो सकता। इसलिये जलचन्द्र की आकाश चन्द्र के साथ अन्यथा अनुपपत्ति है। इसलिये जल चन्द्र रूप हेतु आकाश चन्द्र रूप साध्य को सिद्ध करता है। इस विषय में पक्ष धर्मता का उपयोग नहीं है। धूम अति दूरवर्ती वह्नि से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः रसोई के धूम से पर्वत में अग्नि की सिद्धि नहीं होती। जलचन्द्र भिन्न देश में रहने वाले आकाश चन्द्र के बिना नहीं हो सकता, इसलिये वह दूर देश में भी आकाश चन्द्र को सिद्ध

करता है। पक्षमें सत्ता के बिना जो साध्य के साथ व्याप्ति हो, तो हेतु साध्य की सिद्धि कर सकता है।

मूलम्:- ननु यद्येवं पक्षधर्मताऽनुमितौ नाङ्गं तदा कथं तत्र पक्षभाननियम इति चेत्-

अर्थः—शंका करते हैं—इस रीति से पक्षधर्मता यदि अनुमिति में साधन नहीं है, तो अनुमिति में पक्ष की प्रतीति नियम से क्यों होती है।

विवेचनाः-अनुमिति में पक्ष और साध्य इन दोनों का ज्ञान होता है। व्याप्ति के कारण हेतु से व्यापक साध्य का ज्ञान होता है हेतु में जो पक्षधर्मता है उसके कारण धर्मी पक्षका ज्ञान होता है। धूम से जब वह्नि की अनुमिति होती है, तब पर्वत में वह्नि की जो अनुमिति होती है, उसका कारण धूम की पक्षधर्मता है। पर्वत में धूम है इसलिये पर्वत में अग्नि की सिद्धि होती है। केवल व्याप्ति के बल से धूम पर्वत में ही अग्नि को सिद्धि नहीं कर सकता।

मूलम्:-क्वचिदन्यथाऽनुपपत्त्यवच्छेदकतया ग्रहणात् पक्षभानं यथा न भश्चन्द्रास्तित्व विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, क्वचिच्च हेतुग्रहणाधिकरणतया यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादि यत्र धूमस्य पर्वते ग्रहणाद्ह्रदेऽपि तत्र भानमिति। व्याप्तिग्रहवेलायां तु पर्वतस्य सर्वत्रानुवृत्त्यभावेन न ग्रह इति।

अर्थः—पक्ष का ज्ञान किसी किसी स्थान में अन्यथा अनुपपत्ति के अवच्छेदक रूप में होता है। जिस प्रकार "आकाश चन्द्र बिना जलचन्द्र संभव नहीं" यहाँ पर होता है। किसी स्थान में हेतु के अधिकरण रूप में पक्ष का ज्ञान होता है। जिस प्रकार "पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से" इस प्रयोग में—यहाँ पर पर्वत में धूम के ज्ञान से वह्नि का ज्ञान भी पर्वत में ही होता है। व्याप्ति ज्ञान के काल में तो पर्वत की अनुवृत्ति सब स्थानों में नहीं है इसलिये उस काल में पर्वत का भान नहीं होता।

विवेचनाः—जल चन्द्र के लिये जल का अन्तर्वर्ती चन्द्र आवश्यक नहीं है। उसके लिये आकाश का चन्द्र आवश्यक है। इस रीति से आकाश चन्द्र की अनुमिति में आकाश धर्मी रूप में प्रतीत होता है। आकाश के बिना बिम्बभूत चन्द्र और प्रतिबिम्बभूत जल चन्द्र की व्याप्ति नहीं जानी जा सकती। इसलिये आकाश का पक्षरूप में ज्ञान होता है। जल चन्द्र रूप हेतु की पक्षधर्मता के कारण यहाँ पर आकाश पक्षरूप में नहीं प्रतीत होता। आकाश में जल चन्द्र असंभव है। इसलिये यहाँ हेतु की पक्ष धर्मता नहीं हो सकती।

जहाँ अन्यथा अनुपपत्ति रूप व्याप्ति के अवच्छेदक रूप में धर्मी का ज्ञान नहीं होता वहाँ अनुमिति में जो देश धर्मी रूप में प्रतीत होता है उसका कारण हेतु की पक्ष धर्मता नहीं है। समीप वर्ती वह्नि से धूम उत्पन्न होता है। दूरवर्ती वह्नि

से वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस स्वभाव के कारण धूम जिस देश में प्रतीत होता है, वह देश साध्य अग्नि की अनुमिति में धर्मीरूप से प्रतीत होता है। बिंब प्रतिबिंब रूप कार्य-कारणों का जो स्वभाव है उससे विलक्षण स्वभाव धूम और अग्निरूप कार्य-कारणों का है। इस स्वभाव भेद के कारण धूम जिस देश में प्रतीत होता है, उस देश में साध्य-वह्नि की अनुमिति कराता है। धूम की पक्षधर्मता इस में कारण नहीं है इस विषय में पक्षधर्मता अन्यथा सिद्ध है। यदि पक्षधर्मता नियम से कारण हो तो जलचन्द्र से आकाश चन्द्र की अनुमिति नहीं होनी चाहिये।

ध्यान रखना चाहिये-धूम से अग्नि की अनुमिति में पर्वत की प्रतीति व्याप्ति के अवच्छेदक रूप में नही हो सकती समस्त देश काल के साध्य-साधनों की व्याप्ति का ज्ञान जब होता है तब धूम के जितने अधिकरण हैं उन में पर्वत अनुगामी रूप से प्रतीत नहीं होता। इसलिये वह अवच्छेदक नहीं हो सकता।

मूलम्:–यत्तु अन्तर्व्याप्त्या पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहात् पक्षसाध्यसंसर्गभानम्, तदुक्तम्–"पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्ये व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्ति (प्र. न. ३, ३८) इति,

अर्थः–कुछ लोग कहते हैं–अन्तर्व्याप्ति के द्वारा पक्ष में वर्तमान साध्य–साधनों के संबंध का ज्ञान होता है। उसके द्वारा पक्ष और साध्य के संसर्ग का ज्ञान

होता है। कहा भी है—"जो विषय पक्षरूप में है उस-में ही साध्य के साथ साधन की व्याप्ति—अन्तर्व्याप्ति है। पक्ष से भिन्न विषय में तो बहिर्व्याप्ति है"।

विवेचना:—कुछ लोग व्याप्ति के अवच्छेदकरूप में अथवा हेतु के अधिकरणरूप में ज्ञान से अनुमिति में नियत-पक्ष के ज्ञान को स्वीकार नहीं करते। वे लोग पक्ष और साध्य के संबंध की प्रतीति में व्याप्ति को ही कारण मानते हैं। उनके अनुसार अन्तर्व्याप्ति इस विषय में कारण है। श्री वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर में कहते हैं—जो अर्थ पक्षरूप में है उसमें साधन और साध्य की व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति है। इस अन्तर्व्याप्ति के ज्ञान में पक्ष का ज्ञान धर्मीरूप से अवश्य होता है। वही ज्ञान नियत धर्मी में साध्य की प्रतीति कराता है। हेतु की पक्ष धर्मता नियत धर्मी के साथ साध्य की प्रतीति को नहीं कराती। व्याप्ति के बल से हेतु जिस प्रकार साध्य की प्रतीति में कारण है इस प्रकार नियत धर्मी की प्रतीति में भी कारण है।

मूलम्:—तन्न; अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्य-प्रत्यायनशक्तौ सत्यां बहिर्व्याप्तेरुद्भावनव्य-र्थत्वप्रतिपादनेन तस्याः स्वरूपप्रयुक्त(क्तात्)व्यभिचारलक्षणत्वस्य, बहिर्व्याप्तेश्च सह-चारमात्रत्वस्य लाभात्, सार्वत्रिक्या व्याप्ते-र्विषयभेदमात्रेण भेदस्य दुर्वचत्वात्।

अर्थ:—यदि हेतु अन्तर्व्याप्ति से साध्य की सिद्धि में समर्थ हो, तो बहिर्व्याप्ति का प्रकाशन व्यर्थ है।

इस प्रकार आचार्यदेव श्री वादिदेवसूरिजी प्रतिपादन करते हैं।

इसलिये स्वरूप से प्रयुक्त जो अव्यभिचार है वह अन्तर्व्याप्ति का स्वरूप प्रतीत होता है और बहिर्व्याप्ति केवल सहचाररूप है, इस प्रकार का ज्ञान होता है। समस्त देश और काल की व्यक्तियों में वर्तमान व्याप्ति विषय के भेद से भिन्न नहीं हो सकती।

विवेचना: – जो स्वरूप समस्त देश काल के साध्य और साधनों को संग्रह करता है, वह स्वरूप व्याप्ति को व्यवस्थित करता है। धूम और अग्नि की व्याप्ति में धूमत्व और अग्नित्व स्वरूप है। यह स्वरूप व्याप्ति का प्रयोजक है। यह व्याप्ति अव्यभिचाररूप है। साधन-धूम साध्य-अग्नि के बिना नहीं होता, यही अव्यभिचार है। एक देश काल में साध्य के साथ साधन की वृत्ति सहचार है और वह बहिर्व्याप्ति का स्वरूप है यह वस्तु स्याद्वाद रत्नाकर के वचनों से प्रतीत होती है। व्युत्पन्न बुद्धिवाले ज्ञाता के लिये पक्ष और हेतु के वचनरूप दो अवयव आवश्यक हैं। इन दो अवयवों से वह श्रोता को अनुमिति करा सकता है। इसके लिये दृष्टान्त आदिका वचन आवश्यक नहीं है। इस तत्त्व के प्रतिपादन के लिये वे कहते हैं-व्युत्पन्नबुद्धिवाला जो ज्ञाता पक्ष और हेतु को जानता है, उसको उनसे ही व्याप्ति की स्मृति हो सकती है। परार्थ अनुमान का प्रयोग करनेके लिये पक्ष और हेतु के वचनों को बोलता है। इससे व्याप्ति का स्मरण हो सकता है, व्याप्तिस्मरण के लिये यहाँ पर दृष्टान्त का वचन

व्यर्थ है। इस तत्त्व का निरूपण करते हुए वे कहते हैं अग्नि यदि हो तभी धूम होता है। यह अन्तर्व्याप्ति है। इसके द्वारा यदि धूम-हेतु साध्य-अग्नि को सिद्ध करने में समर्थ है, तो बहिर्व्याप्ति का प्रकाशन व्यर्थ है। दृष्टान्त द्वारा केवल बहिर्व्याप्ति का प्रकाशन होता है।

यदि आप अन्तर्व्याप्ति से हेतु को साध्य की सिद्धि में असमर्थ कहते हैं, तो बहिर्व्याप्ति से साध्य को सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इस पक्ष में भी बहिर्व्याप्ति व्यर्थ हो जाती है। वास्तव में व्याप्ति एक है। पक्ष और पक्ष से भिन्न विषयों के कारण उसमें भेद नहीं हो सकता। व्याप्ति केवल व्यापक रूप से साध्य और साधन के संबंध को प्रकाशित करती है। वह विशेषरूप से पक्ष के साथ अथवा पक्ष से भिन्न के साथ साध्य के संबंध को नहीं प्रतिपादित करती। साध्य और साधन का व्यापक स्वरूप अव्यभिचार रूप है, यह व्याप्ति है। इस व्यापक रूप का संबंध केवल पक्ष के साथ अथवा पक्ष से भिन्न के साथ नहीं हो सकता। अतः अन्तर्व्याप्ति से अनुमिति में पक्ष और साध्य के संबंध की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिये व्याप्ति के अवच्छेदक रूप में अथवा हेतु के अधिकरण रूप में देश का ज्ञान अनुमिति में नियत धर्मी की प्रतीति का कारण है।

मूलम्—न चैवं तदान्तर्व्याप्तिग्रहकाल एव एव (काल एव) पक्षसाध्यसंसर्गभानादनुमानवैक(फ)ल्यापत्तिः विना पर्वतो वह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिमिति यथातन्त्रं भावनीयं सुधीभिः।

अर्थः—यदि इस प्रकार नहीं, तो जब अन्तर्व्याप्ति का ज्ञान होता है तभी पर्वत अग्निमान है इस प्रकार की जो उद्देश्य की प्रतीति होती है उसके बिना ही पक्ष और साध्य के संसर्ग का ज्ञान होगा। इस दशा में अनुमान निष्फल हो जायगा। विद्वानों को इस विषय में शास्त्र के अनुसार विचार करना चाहिये।

विवेचना.—पक्ष अन्तर्व्याप्ति का घटक नहीं है, इसलिये अन्तर्व्याप्ति के कारण अनुमिति में पक्ष के साथ साध्य के संबंध की प्रतीति नहीं हो सकती। अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति में जो भेद है वह पक्ष के अन्तर्भाव और अन्तर्भाव के अभाव के कारण नहीं है। उन व्याप्तियों में भेद स्वरूप से है। अग्नित्व और धूमत्व का स्वरूप समस्त अग्नि और धूमों का संग्रह करता है। वह केवल पक्ष में वर्तमान अग्नि और धूम के संबंध को नहीं प्रकाशित करता। जिसको आप बहिर्व्याप्ति कहते हैं उसका संबंध पक्ष के साथ सर्वथा नहीं है इसलिये पक्ष में साध्य का ज्ञान उसके द्वारा नहीं हो सकता। अन्तर्व्याप्ति का ज्ञान जब होता है तभी यदि पक्ष में साध्य की प्रतीति हो जाय तो अनुमान निष्फल है। पर्वत में अग्नि की सिद्धि के लिये हेतु का प्रयोग होता है। पर व्याप्ति ज्ञान के काल में यदि पर्वत अग्निवाला सिद्ध हो जाय तो हेतु के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती। अतः व्याप्ति के अवच्छेदकरूप से अथवा हेतु के अधिकरणरूप से देश का ज्ञान होता है। वही देश अनुमिति के धर्मीरूप में प्रतीत होता है। इस विषय में विचार करने वाले लोगों को प्रतीत होगा कौनसा पक्ष युक्त है।

मूलम्-इत्थं च 'पक्वान्येतानि सहकार-फलानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकार-फलवदित्यादौ बाधितविषये, मूर्खोऽयं देवदत्तः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यादौ सत्प्रतिपक्षे चातिप्रसङ्गवारणाय अबाधितविषयत्वासत्प्रति-पक्षत्वसहितं प्रागुक्तरूपत्रयमादाय पाञ्चरूप्यं हेतुलक्षणम्, इति नैयायिकमतमप्यपास्तम्।

अर्थ-बौद्धोंने हेतु के जो तीन लक्षण कहे हैं उनका निराकरण होनेसे नैयायिकों के मत का भी निराकरण हो जाता है। न्याय मत के अनुसार हेतु में पांच लक्षण होने चाहियें। आम्रवृक्ष के ये फल पके हुए हैं, एक शाखा में उत्पन्न होनेसे, उपयोग में आये हुए अन्य फलों के समान, इत्यादि बाधित विषय में, यह देवदत्त मूर्ख है, उसका पुत्र होनेसे, उसके अन्य पुत्रों के समान, इत्यादि सत्प्रतिपक्ष में; अतिप्रसंग के निवारण के लिये अबाधित विषयत्व और असत्प्रति-पक्षत्व ये दो रूप आवश्यक हैं। पहले कहे हुए तीन रूप इन दोनों के साथ मिलकर पांच रूप हो जाते हैं।

विवेचना-तीनरूप हेतु के लक्षण नहीं हो सकते। बाधित विषय और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासों में ये तीनरूप हैं, परन्तु उनसे साध्य की सिद्धि नहीं होती। जिस हेतु का साध्य

अन्य प्रमाण से निषिद्ध है वह बाधित विषय कहा जाता है। विषय का अर्थ यहाँ पर साध्य है । अन्य प्रमाणों से जिसके साध्य का निषेध होता है वह हेतु बाधित विषय है । आम्र के ये फल पके हैं-यह प्रतिज्ञा है। एक शाखा में उत्पन्न होने से-यह हेतु है। एक शाखा में उत्पन्न जो जो फल हैं वे वे पके हुए हैं जिस प्रकार उपयोग में आये हुए आम्र के फल-यह उदाहरण है। आम्र के ये फल एक शाखा में उत्पन्न हुए हैं-यह उपनय है। इसलिये ये फल पके हैं यह निगमन है। इस रीति से पांच अवयवों का प्रयोग न्याय मत के अनुसार होता है। यहां पर आम्र के जो फल पके नहीं है वे पक्ष हैं और उनका पाक साध्य है । प्रत्यक्ष से ये फल अपक्व दिखाई देते हैं. इसलिये इन फलों का पाकरूप साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। बाधित होने पर भी तीनरूप हेतु में विद्यमान हैं। अपक्व आम्रफल पक्ष हैं वे एक शाखा में उत्पन्न हुए हैं इसलिये एकशाखाप्रभवत्वरूप हेतु में पक्षसत्त्व है। उसी शाखा के जो पक्वफल हैं उनमें यह हेतु है। इसलिये सपक्षसत्त्वरूप दूसरा लक्षण इस हेतु में है । अन्यशाखाओं के जो अपक्व फल हैं-उनमें यह हेतु नहीं है। अन्य शाखाओं के अपक्व फल विपक्ष हैं-उनमें यह हेतु नहीं है-अतः विपक्ष में असत्त्वरूप तृतीय लक्षण भी इस हेतु में है। तो भी यह हेतु साध्य का साधक नहीं। अतः अबाधित विषयत्वरूप चतुर्थ लक्षण हेतु के लिये आवश्यक है । यह चतुर्थरूप यहाँ पर एक शाखाप्रभवत्वरूप हेतु में नहीं है, अतः वह बाधित हेत्वाभास है ।

इसी रीति से असत्प्रतिपक्षत्वरूप पांचवाँ लक्षण भी हेतु के लिये आवश्यक है। यह देवदत्त मूर्ख है, उसका पुत्र होने-

मे, उसके अन्य पुत्रों के समान, इस प्रयोग में देवदत्त पक्ष है मूर्खत्व साध्य है, तत्पुत्रत्व हेतु है, उसके अन्य पुत्र-दृष्टान्त हैं। यहाँ तत्पुत्रत्व हेतु में पहले कहे तीनरूप हैं। देवदत्त पक्ष है, उसमें तत्पुत्रत्व हेतु है. अतः पक्षसत्त्व हेतु में है। उसके अन्य पुत्र सपक्ष हैं-उनमें भी तत्पुत्रत्व हेतु है। इसलिये यहाँ हेतु में सपक्षसत्त्व है। देवदत्त से भिन्न जो यज्ञदत्त आदि विद्वान हैं-वे विपक्ष हैं। वे देवदत्त के सगे भाई नहीं हैं अर्थात् देवदत्त जिसका पुत्र है उसके वे पुत्र नहीं है। इस रीतिसे विपक्ष में असत्त्व यहां तत्पुत्रत्वरूप हेतु में है। तो भी यह हेतु निर्दोष नहीं है। इस हेतु का विरोधी हेतु भी हो सकता है। यह देवदत्त मूर्ख नहीं है—शास्त्र का ज्ञाता होने से, इस रीति से विरोधी हेतु का प्रयोग हो सकता है। शास्त्र ज्ञान रूप हेतु मूर्खता का निषेध करता है। इस विरोधी हेतु से युक्त होने के कारण तत्पुत्रत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष है और इसलिये हेत्वाभास है। इस दोष के निषेध के लिये 'असत्प्रतिपक्षत्व' नामक हेतु का रूप होना चाहिये।

मूलम्:-उदेष्यति शकटमित्यादौ पक्षधर्मतस्यैवासिद्धेः, स श्यामः तत्पुत्रत्वादित्यत्र हेत्वाभासेऽपि पाञ्चरूप्यसत्त्वाच्च, निश्चितान्यथानुपपत्तेरेव सर्वत्र हेतुलक्षणत्वौचित्यात्।

अर्थः-रोहिणीनक्षत्र का उदय होगा, इत्यादि स्थल के हेतु में पक्षधर्मता की सिद्धि नहीं है। वह श्याम है-

उसका पुत्र होनेसे—यहां हेत्वाभास में भी पांचरूप हैं । निश्चित अन्यथा अनुपपत्ति ही हेतु का उचित लक्षण है ।

विवेचनाः—पक्ष धर्मता से घटित पांच रूपों को आप निर्दोष हेतु का लक्षण कहते हो। जब रोहिणी नक्षत्र के भावी उदय को सिद्ध करने के लिये कृत्तिका नक्षत्र का उदय हेतु होता है, तब इस हेतु में पक्ष अविद्यमान है, अतः पक्ष धर्मता नहीं है। इसलिये पक्ष धर्मता से घटित पांच रूपों का अभाव है। इस निर्दोष हेतु में अविद्यमान होनेसे पंचरूपात्मक हेतु के लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

केवल अव्याप्ति ही नहीं अतिव्याप्ति दोष भी है। मित्रा नाम की कोई नारी है, उसके चार पुत्र हैं। उनमें तीन श्याम हैं और एक गौर है जिसने तीन को देखा है और चतुर्थ गौर को नहीं देखा, वह चतुर्थ को श्याम सिद्ध करने के लिये प्रयोग करता है, वह चतुर्थ पुत्र श्याम है मित्रा का पुत्र होनेसे, जिस प्रकार उसके अन्य तीन पुत्र। यहाँ मित्रापुत्रत्व हेतु है। चतुर्थ पुत्र पक्ष है। वह मित्रा का पुत्र है इसलिये मित्रापुत्रत्वरूपहेतु पक्ष में विद्यमान है मित्रा के अन्य तीन श्याम पुत्र सपक्ष हैं। वे भी मित्रा के पुत्र हैं। इसलिये यहाँ हेतु में सपक्षसत्त्व भी है। जो गौरवणवाले अन्य लोग हैं, वे विपक्ष हैं। वे मित्रा के पुत्र नहीं। विपक्ष गौरों में अविद्यमान होनेसे यहाँ हेतु विपक्ष में असत् है। गौरवर्ण साध्य है उसका कोई अन्यबाधक प्रमाण नहीं है, इसलिये हेतु में अबाधित विषयत्व है । श्यामत्वरूप साध्य के विरोधी गौरवर्ण का साधक कोई प्रतिपक्ष हेतु नहीं है। इसलिये असत्प्रतिपक्षत्व

भी है। इस रीति से पांचरूप होने पर भी मित्रापुत्रत्व हेतु दूषित है-अतः अतिव्याप्ति है।

पांच रूप होने पर भी यहाँ व्याप्ति का अभाव है। इसलिये मित्रापुत्रत्व-हेतु दोष युक्त है। जहाँ दो अर्थों में व्याप्ति होती है, वहाँ कार्य कारण भाव अथवा साध्य के साथ पूर्वचर भाव अथवा उत्तरचर भाव आदि होता है। श्याम वर्ण और मित्रा के पुत्रों में कार्यकारणभाव नहीं है। अपने पुत्रों की श्यामता में मित्रा वस्तुतः कारण नहीं। यदि मित्रा श्याम वर्ण का कारण हो तो चतुर्थ पुत्र में गौरवर्ण नहीं होना चाहिये। गर्भ धारण के काल में माता जो आहार करती है वह पुत्र के वर्ण में कारण है। कोई आहार श्याम वर्ण को और कोई आहार गौर वर्ण को उत्पन्न करता है। आहार और वर्ण में कार्य-कारणभाव है। मित्रा और वर्ण में कार्य कारण भाव नहीं है। इसलिये व्याप्ति नहीं है। व्याप्ति न होने से मित्रापुत्रत्व हेतु दोषयुक्त है। एक शाखा प्रभवत्वरूप हेतु के दोष युक्त होने का कारण अबाधित विषयत्व का अभाव नहीं है। वहाँ भी व्याप्ति का अभाव दोष का कारण है। एक ही शाखा में कुछ फल पके हैं और कुछ फल कच्चे हैं। इसलिये पाक के साथ एक शाखा प्रभवत्वहेतु की व्याप्ति नहीं है।

देवदत्त की मूर्खता को सिद्ध करने के लिये तत्पुत्रत्व हेतु दोष युक्त है। उसमें आप असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव को कारण कहते हैं परन्तु वह कारण नहीं है। वहां भी व्याप्ति का अभाव दोष का मूल है जो एक पुत्र शास्त्र ज्ञान वाला है उसमें तत्पुत्रत्व है परन्तु मूर्खता नहीं है। अतः मूर्खत्वरूप साध्य और तत्पुत्रत्वरूप हेतु में व्याप्ति नहीं है। इसलिये निश्चित अन्यथा अनुपपत्ति ही हेतु का एक लक्षण है।

व्याप्ति के विरह को दोष के मूल कारण रूप में यदि न स्वीकार किया जाय तो अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व के द्वारा निर्दोष हेतु का ज्ञान नहीं हो सकता। जब अबाधित विषयत्व का निश्चय हो तभी वह हेतु को निर्दोष सिद्ध कर सकता है। परन्तु इस हेतु का साध्य किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं इस प्रकार का निश्चय अनुमिति से पूर्वकाल में नहीं हो सकता। हेतु के इस स्वरूप का निश्चय और साध्य का निश्चय परस्पर की अपेक्षा करते हैं। हेतु में बाधा का अभाव है यह निश्चय हो-तो साध्य का निश्चय होता है, और साध्य का निश्चय हो, तो हेतु में बाधा के अभाव का निश्चय होता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है। किसी अन्य प्रमाण से बाधा के अभाव का निश्चया होता है, इसलिये अन्योन्याश्रय नहीं है यदि इस प्रकार कह जाय तो हेतु व्यर्थ हो जायगा। जब अन्य प्रमाणों के द्वारा हेतु का साध्य बाधित नहीं है—यह निश्चय होगा तभी साध्य सिद्धि के होनेसे हेतु का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा।

व्याप्ति के निश्चय में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। साध्य की सत्ता का निश्चय व्याप्ति के निश्चय पर आश्रित हो, तो व्याप्ति का निश्चय साध्य के निश्चय पर आश्रित है इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो सकता है। परन्तु व्याप्ति का निश्चय साध्य की सत्ता के निश्चय की अपेक्षा नहीं करता। तर्क प्रमाण के द्वारा व्याप्ति का निश्चय होता है। परन्तु वह तर्क-साध्य की सिद्धि नहीं करता। इसलिये तर्क के द्वारा साध्य की सिद्धि होनेसे हेतु का प्रयोग व्यर्थ होगा इस प्रकार का आक्षेप इस पक्ष में नहीं हो सकता।

असत्प्रतिपक्षत्व भी साध्य की सिद्धि में हेतु के सामर्थ्य को नहीं सिद्ध कर सकता। प्रतिपक्ष हेतु के कारण तत्पुत्रत्व

हेतु को आप साध्य का असाधक कहते हो । यह प्रतिपक्ष-हेतु साध्य की सिद्धि में साधक हेतु के समान बलधारण करता है-अथवा असमान बल धारण करता है-यह विचार करना चाहिये । साधक हेतु के समान बल हो तो बाध्य-बाधक भाव नहीं हो सकता । एक निर्बल हो और अन्य बलवान हो तभी बाध्य-बाधक भाव होता है । यदि आप इन विरोधी हेतुओं के बल को न्यूनाधिक कहते हैं तो न्यूनता अथवा अधिकता का निश्चय नहीं हो सकता। पक्ष-धर्मता आदिरूप हेतुओं में समान हैं इसलिये पक्षसत्त्व आदि रूपों के कारण एक हेतु प्रबल है और पक्षसत्त्व आदिके अभाव के कारण अन्य हेतु निर्बल है यह नहीं कहा जा सकता । मूर्खता के अभाव को सिद्धि करने के लिये शास्त्र ज्ञानरूप हेतु में जिस प्रकार पक्षसत्त्व आदि हैं। इस प्रकार मूखता की सिद्धि के लिये तत्पुत्रत्वरूप हेतु में भी पक्षसत्त्व आदि हो सकते हैं। अब यदि आप कहते हैं-एक हेतु अनुमान से बाधित है और अन्य हेतु अनुमान से बाधित नहीं है इसलिये एक हेतु में न्यून बल है और अन्य हेतु में अधिक बल है तो यह कथन भी युक्त नहीं। दोनों विरोधी हेतुओं में पक्षसत्त्व आदिरूप समान भाव से हैं । अतः एक न्यून बल के कारण बाध्य और अन्य हेतु अधिक बल के कारण बाधक नहीं हो सकता । आप न्यून अधिक बलवाला होनेसे एक को अनुमान प्रमाण से बाधित कहते हैं परन्तु बल की न्यूनाधिकता में कोइ स्वतन्त्र हेतु नहीं है। बाधक अनुमान के कारण यदि बल की न्यूनाधिकता हो, तो अन्योन्याश्रय होगा । बाधक अनुमान बल की न्यूनाधिकता की अपेक्षा करती है ।

अतः असत्प्रतिपक्षत्व निर्दोष हेतु के लिये आवश्यक रूप नहीं है। अन्यथा अनुपपत्ति ही निर्दोष हेतु का लक्षण है।

[साध्य-स्वरूप का निरूपण]

मूलम्-ननु हेतुना साध्यमनुमातव्यम् । तत्र किं लक्षणं साध्यमिति चेत्; उच्यते-अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं च साध्यम् ।

अर्थ-हेतु द्वारा साध्य का अनुमान होता है तो साध्य का लक्षण क्या ?

उत्तर यह है-जो निश्चित नहीं, जो प्रमाण से बाधित नहीं और जिसको सिद्ध करने की इच्छा है वह साध्य है।

विवेचना-हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान अनुमान कहा जाता है इसलिये साध्य के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होती है-अतः साध्य का लक्षण यहाँ निरूपित है।

"पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस प्रसिद्ध अनुमान में वह्नि साध्य है। सामान्य रूप से वह्नि प्रसिद्ध है परन्तु पुरोवर्ती पर्वत में वह निश्चित नहीं इसलिये वह अप्रतीत है। पर्वत धर्मी है कोई प्रमाण उसमें वह्नि का निषेध नहीं करता इसलिये वह्नि अनिराकृत है। द्रष्टा पुरुष को वह्नि के अनुमान की इच्छा है इसलिये वह्नि अभीप्सित है।

मूलम्:-शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतमिति विशेषणम् ।

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यनिराकृतग्रहणम्। अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितग्रहणम्।

अर्थः—जिसमें शंका, विपरीत ज्ञान अथवा अनध्यवसाय हो—वही वस्तु साध्य होती है। इस तत्त्व को प्रकाशित करने के लिये अप्रतीत विशेषण है। प्रत्यक्ष आदिके जो विरुद्ध है वह साध्य न हो इसलिये अनिराकृत पद है। जिसको स्वयं स्वीकार नहीं करता उसकी असाध्यता को प्रकट करने के लिये अभीप्सित पद है।

विवेचना: – जिस द्रष्टा को पर्वत में वह्नि का सन्देह है. उसके लिये वह्नि शंका का विषय है इसलिये अप्रतीत है अर्थात् अनिश्चित है। जो ज्ञाता भ्रान्त है विद्यमान होने पर भी पर्वत में वह्नि को अविद्यमान स्वीकार करता है उसके विपरीत ज्ञान का विषय वह्नि है इसलिये अप्रतीत है। जो पुरुष पर्वत में वह्नि को विद्यमान अथवा अविद्यमानरूप में नहीं जानता कोई वस्तु यहाँ है इतना ही जानता है, उसके निश्चय का विषय वह्नि नहीं है, इसलिये अप्रतीत है शंका सन्देह अथवा अनध्यवसाय से युक्त मनुष्य के लिये वह्नि साध्य है। पर्वत में वह्नि है इस प्रकार का निश्चय जिसको है उसके लिये वह्नि साध्य नहीं है।

साध्य के ये तीन विशेषण स्वार्थ अनुमान में अनुमान करनेवाले की अपेक्षा से होते हैं। वादी और प्रतिवादी की व्यवस्था स्वार्थानुमान में नहीं होती। जो धूम को देखकर स्वयं अनुमान करता है उसको वह्नि का निश्चय नहीं वह

किसी प्रमाण से पर्वत में वह्नि के अभाव को नहीं जानता। उसको पर्वत में वह्नि के सिद्ध करने की इच्छा है। इसलिये वह्नि उस पुरुष की अपेक्षा से साध्य है। परार्थे अनुमान में वादी और प्रतिवादी की व्यवस्था है अतः अप्रतीत विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है, प्रतिवादी साध्य को स्वीकार नहीं करता अतः वादी सिद्धि के लिये अनुमान का प्रयोग करता है। वादी की अपेक्षा से परार्थ अनुमान में अप्रतीत विशेषण नहीं है। वह साध्य अर्थ का प्रतिपादक है। जो अर्थ के स्वरूप को नहीं जानता वह प्रतिपादन नहीं कर सकता। प्रतिवादी प्रतिपाद्य है। साध्य अर्थ के विषय में उसका अज्ञान हो सकता है।

अर्थ का निश्चय जिस प्रकार साध्य भाव का विरोधी है। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध साध्य भाव का विरोधी है। जो मनुष्य वह्नि को उष्ण स्पर्श से रहित सिद्ध करने की इच्छा करता है वह इस रीति से अनुमान का प्रयोग करता है-वह्नि उष्ण स्पर्श से रहित है, कारण वह उत्पन्न होती है, इस प्रकार के प्रयोग करनेवाले का साध्य वास्तव में साध्य नहीं है। वह्नि में उष्ण स्पर्श प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अत वहाँ उष्ण स्पर्श का अभाव प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। जो मनुष्य इस प्रकार का प्रयोग करता है उसको उष्ण स्पर्श का अभाव का निश्चय नहीं है वह उसको सिद्ध करने की इच्छा करता है, अतः अप्रतीत और अभीप्सित है परन्तु प्रत्यक्ष से निषिद्ध है। अतः साध्य नहीं हो सकता।

मूलम्:-कथायां शङ्कितस्यैव साध्यस्य साधनं युक्तमिति कश्चित्;

अर्थः—जिसमें संदेह है इसी प्रकार के साध्य को सिद्ध करना कथा में उचित है—इस प्रकार कोई कहता है—

विवेचनाः—सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु में संदेह भ्रम अथवा अनध्यवसाय है वह साध्य हो सकता है। इस आक्षेप का कर्ता कहता है वादी और प्रतिवादी जब कथा अर्थात् वाद करते हैं तब यदि संदेह हो तो परार्थ अनुमान के द्वारा सदेह दूर हो सकता है, अतः साध्य संदेह का विषय ही होना चाहिये।

मूलमः—तत्र; विपर्यस्ताव्युत्पन्नयोरपि परपक्षादिदृक्षादिना कथायामुपसर्पणसम्भवेन संशयनिरासार्थमिव विपर्ययानध्यवसायनिरासार्थमपि प्रयोगसम्भवात्, पित्रादेर्विपर्यस्ताव्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षाप्रदानदर्शनाच्च। न चैवं जिगीषुकथायामनुमानप्रयोग एव न स्यात् तस्य साभिमानत्वेन विपर्यस्तत्वात्।

अर्थः—यह कथन युक्त नहीं, भ्रान्त और अज्ञानी लोग भी अन्य पक्ष को जानने की इच्छा से वाद में जा सकते हैं, इसलिये जिस प्रकार संदेह के निराकरण के लिये इसी प्रकार भ्रान्ति और अज्ञान को दूर करने के लिये भी अनुमान का प्रयोग हो सकता है। भ्रान्त

और अज्ञानी पुत्र आदि को उपदेश देते हुए पिता आदि देखे जाते है। यदि इस प्रकार न हो तो वाद में जयाभिलाषी के द्वारा अनुमान का प्रयोग ही नहीं होना चाहिये। जयाभिलाषी प्रतिवादी अभिमानी होने से भ्रान्त होता है। वह सन्देहवाला नहीं होता।

विवेचनाः—परार्थ अनुमान जिस प्रकार संदेह को दूर करता है इस प्रकार भ्रम और अनध्यवसाय को भी दूर करता है। जिस प्रकार संदेह से युक्त वाद में आता है इस प्रकार भ्रान्त और अज्ञानी मनुष्य भी वाद में आता है। भ्रान्त प्रतिवादी अन्यके पक्ष को जानने की इच्छा से आता है। भ्रान्त और अज्ञानी के लिये तत्त्व का प्रतिपादन अयुक्त नहीं है। यदि भ्रान्ति और अज्ञान की निवृत्ति के लिये अनुमान का प्रयोग न हो तो जयाभिलाषी के साथ अनुमान का प्रयोग नहीं होना चाहिये। जो जयाभिलाषी है उसको संदेह नहीं है। भ्रान्ति होने पर भी अपने पक्ष को युक्त स्वीकार करता है। इसलिये जिस विषय में भ्रान्ति अथवा अज्ञान है, वह विषय भी साध्य हो सकता है और उसके लिये अनुमान का प्रयोग होता है।

मूलमः—अनिराकृतमिति विशेषणं वादि प्रतिवाद्युभयापेक्षया, द्वयोः प्रमाणेन बाधितस्य कथायां साध्यत्वात्।

अर्थः—साध्य के लक्षण में अनिराकृत विशेषण वादी और प्रतिवादी दोनों की अपेक्षा से है। दोनों

के अनुसार जो प्रमाण से बाधित नहीं है वही साध्य होता है।

मूलम्:—अभीप्सितमिति तु वाद्यपेक्षयैव, वक्तुरेव स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनायेच्छासम्भवात्।

अर्थः—साध्य के लक्षण में अभीप्सित विशेषण विशेषतः वादी की अपेक्षा से है। वादी जिस अर्थ को स्वीकार करता है उसके प्रतिपादन के लिये वादी की ही इच्छा होती है।

मूलम्:—ततश्च परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव सार्थं(ऽमेव साध्यं) सिध्यति। अन्यथा संहतपरार्थत्वेन बौद्धैश्चक्षुरादीनामभ्युपगमा [त साधनवैफल्या] दित्यनन्वयादिदोषदुष्टमेतत्साङ्ख्यसाधनमिति वदन्ति।

अर्थः—इसलिये "चक्षु आदि इन्द्रिय परके लिये हैं" इत्यादि प्रयोग में यद्यपि केवल परार्थता का कथन है तो भी आत्मार्थता ही साध्य है। यदि इस प्रकार न माना जाय तो बौद्ध लोग चक्षु आदिको संहत परके लिये स्वीकार करते हैं इसलिये हेतु निष्फल हो

जायगा। सांख्य का यह हेतु अनन्वय आदि दोषों से दूषित है इस प्रकार बौद्ध कहते हैं।

विवेचनाः-वादी जिस अर्थ को जिस रूप में स्वीकार नहीं करता उस रूप में यदि वह अर्थ साध्य हो, तो साध्य की सिद्धि निष्फल हो जाती है। सांख्य आत्मा की सिद्धि के लिये जिस अनुमान का प्रयोग करता है वह इस विषय में उदाहरण है सांख्य का अनुमान है-चक्षु आदि इन्द्रिय पर के लिये हैं संघात रूप होनेसे शय्या और आसनादि के समान। सोने के लिये शय्या है और बैठने के लिये आसन है। शय्या और आसन आदि परमाणुओं का समूह है इसलिये संहत है। शय्या और आसनादि अपने लिये नहीं हैं। उपभोग करने वाले पुरुष के लिये हैं। इसलिये वे परार्थ कहे जाते हैं, जो संहतरूप है वह परार्थ है, यह व्याप्ति है। चक्षु आदि इन्द्रिय शय्या आदिके समान परमाणुओं का समूहरूप होने से संघातरूप हैं-इसलिये वे भी परार्थ हैं। जो पर है वही आत्मा है। इस रीति से सांख्य का अनुगामी संघात हेतु को आत्मा की सिद्धि के लिये प्रयुक्त करता है। यद्यपि प्रयोग में 'आत्मार्था" अर्थात् आत्मा के लिये हैं इस प्रकार नहीं कहता, केवल परार्थाः अर्थात् परके लिये हैं इस प्रकार कहता है तो भी परका अर्थ आत्मा मानना चाहिये। यदि 'पर' शब्द का अर्थ केवल पर अर्थात् स्व से भिन्न हो तो सांख्य जिस आत्मा को स्वीकार करता है उसकी सिद्धि न होगी। सांख्य मत में शरीर इन्द्रिय आदि संघातरूप हैं, परन्तु आत्मा संघातरूप नहीं है। प्रकृति के जितने भी परिणाम हैं वे संघातरूप हैं। आत्मा प्रकृति का परिणाम नहीं, वह सर्वथा प्रकृति

से भिन्न नित्य है। 'परार्थाः' का अर्थ यदि परके लिये है इतना हो तो चक्षु आदिसे भिन्न पर अर्थात् संघातरूप पर यह भी हो सकता है। इसलिये जो उपभोक्ता सिद्ध होगा वह शय्या आदिके समान संघातरूप ही सिद्ध होगा। बौद्ध लोग उपभोक्ता को ज्ञान-इच्छा और संस्कार आदि का संघातरूप मानते हैं। इस दशा में शय्या आदिका उपभोक्ता संघातरूप सिद्ध होगा। सांख्य को जो अर्थ इष्ट है, उससे विरुद्ध अर्थ की सिद्धि के हो जाने से सांख्य का साधन व्यर्थ होगा। इसलिये इस प्रयोग में पर शब्द का अर्थ 'असंहत आत्मा' इस प्रकार करना चाहिये। तब इस अनुमान के प्रयोग में साध्य का स्वरूप सांख्य के अनुकूल होगा। वादी जिस अर्थ को सिद्ध करने की इच्छा करता है वही साध्य होना चाहिये। यदि प्रतिवादी जिस अर्थ के सिद्ध करने की इच्छा करता है वह भी साध्य हो तो प्रतिवादी बौद्ध चक्षु आदिको संघातरूप परके लिये मानता है इसलिये वह भी साध्य हो जायगा। उसके सिद्ध होने पर सांख्य द्वारा अभिमत आत्मा की सिद्धि नहीं होगी।

बौद्ध आदि मतों के अनुगामी इस अनुमान में अनन्वय आदि दोषों को कहते हैं। अन्वय का अर्थ है व्याप्ति। व्याप्ति का जो अभाव है वह अनन्वय है। संघातरूप हेतु की व्याप्ति केवल परार्थता के साथ नहीं, किन्तु परार्थत्व और संहतत्व के साथ है। चक्षु आदि इन्द्रिय संघात होनेके कारण शय्या आसन आदिके समान संहतरूप परके लिये हैं। जो असंहत पर है उसके साथ व्याप्ति नहीं है। इसलिये इस प्रयोग में अनन्वय दोष है। इस दोष के कारण ही शय्या आदि दृष्टांतों में साध्य वैकल्यरूप दोष है। दृष्टान्त में जिस

प्रकार हेतु की सत्ता है इस प्रकार साध्य की सत्ता भी होनी चाहिये यदि दृष्टान्त में हेतु हो और साध्य विद्यमान न हो तो साध्य वैकल्य नाम का दोष होता है। शय्या आदि दृष्टान्तों में संघातरूप हेतु है। सांख्य और बौद्ध आदि शय्या आदि को संघातरूप मानते हैं, पर शय्या आदिमें असंहत परार्थ-स्वरूप साध्य नहीं है। चक्षु आदिसे भिन्न शरीर को यदि 'पर' मान लिया जाय तो शरीर भी हस्तपाद-चक्षु आदि अंगों का संघातरूप है। इस पक्ष में भी शरीररूप संहत-पर के साथ संघातरूप हेतु की व्याप्ति सिद्ध होती है। यदि यहां पर शब्द से शरीर भिन्न अर्थ का अभिप्राय हो तो वह भी बौद्धों के अनुसार रूप ज्ञान आदिका संघातरूप है। असंहत आत्मा के साथ शय्या आदि का संबंध देखने में नहीं आता। इसलिये यहां अनन्वय दोष है।

इस अनुमान में संघातरूप हेतु विरुद्ध भी है। साध्य धर्म का जो विशेष है उसके विपरीत स्वरूप को सिद्ध करता है इसलिये संघातरूप हेतु धर्म विशेष विपरीत साधन नामक विरुद्ध है साध्य धर्म है परार्थत्व, इसका विशेष है असंहतत्व उसके विपरीत धर्म है संहतत्व, इसको यह हेतु सिद्ध करता है-अतः विरुद्ध है।

मूलम्:-स्वार्थानुमानावसरेऽपि परार्थानुमानोपयोग्यभिधानम्, परार्थस्य स्वार्थपुरःसरत्वेनानतिभेदज्ञापनार्थम्-

अर्थः-स्वार्थानुमान के अवसर में परार्थानुमान के लिये उपयोगी विषय का कथन दोनों अनुमानों में

अत्यंत भेद के अभाव को प्रकाशित करने के लिये है। स्वार्थानुमान पहले होता है पीछे परार्थानुमान होता है अतः दोनों में बहुत भेद नहीं है।

विवेचना:—साध्य के लिये अप्रतीत आदि जो विशेषण हैं उनकी उपयोगिता परार्थानुमान में होती है। जिस अर्थ में भ्रान्ति है अथवा जिस अर्थ में अज्ञान है वह अर्थ परार्थानुमान में ही साध्य होता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा साध्य का जो निषेध है, उसके अभाव की अपेक्षा भी परार्थानुमान में होती है। यह अवसर स्वार्थानुमान का है, उसमें इस प्रकार के साध्य का निरूपण उचित नहीं है। इस शंका के निराकरण के लिये सिद्धान्ती कहता है—ये विषय यद्यपि परार्थानुमान के लिये उपयोगी हैं, तो भी इन दोनों अनुमानों में अधिक भेद नहीं। इसलिये स्वार्थानुमान के निरूपण के काल में इन विषयों का ज्ञान अयुक्त नहीं है। पूर्वकाल में स्वार्थानुमान होता है और पीछे परार्थानुमान होता है इसलिये दोनों में अधिक अन्तर नहीं है। जब स्वय हेतु को जानता है तब स्वार्थानुमान होता है। जब वह अन्य अवयव वाक्यों का प्रयोग करता है तब श्रोता को हेतु आदिका ज्ञान होता है और उसके द्वारा अनुमिति होती है। इन दोनों अनुमानों में अल्प अन्तर है।

व्याप्ति के काल और अनुमिति के काल की अपेक्षा से साध्य के स्वरूप में भेद को प्रकाशित करते हुए कहते हैं।

मूलम्:—व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः, आनुमानिक-

प्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ।

अर्थः-व्याप्तिज्ञान के काल की अपेक्षा से धर्म ही साध्य होता है । उस काल में यदि धर्म साध्य न हो तो व्याप्ति नहीं हो सकती । जिस काल में अनुमान के द्वारा प्रतीति होती है उस काल की अपेक्षा से साध्य धर्म से विशिष्ट प्रसिद्ध धर्मी साध्य होता है ।

विवेचनाः--जिस काल में व्याप्ति का ज्ञान होता है उस काल में जो कोई धूम है वह अग्नि के बिना नहीं है, इस व्याप्ति का ज्ञान होता है। इस काल में वह्निरूप धर्म साध्य है । पर्वतरूप धर्मी साध्य नहीं है । धर्मी को लेकर इस काल में व्याप्ति नहीं हो सकती। जिस जिस स्थान में धूम है उस उस स्थान में पर्वत नहीं हैं । अतः धूम के साथ पर्वत धर्मी की व्याप्ति नहीं है । परन्तु जिस काल में अनुमिति होती है उस काल में वह्निरूप धर्म से विशिष्ट पर्वत धर्मी साध्य कहा जाता है। केवल पर्वत को यदि साध्य किया जाय तो कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता । वह्नि और पर्वत अनुमिति से पूर्व काल में अलग अलग सिद्ध हैं । परन्तु वह्नि से विशिष्ट पर्वत अनुमिति से पूर्व काल में सिद्ध नहीं है। अतः अनुमिति के काल की अपेक्षा से वह्नि विशिष्ट पर्वत साध्य है।

मूलमः-इत्थं च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि 'धर्मी साध्यं 'साधनं च । तत्र साधनं गम-

कत्वेनाङ्गम्, साध्यं तु गम्यत्वेन, धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन, आधारविशेषनिष्ठतया साध्यार्थे (साध्यसिद्धे) ऽनुमानप्रयोजनत्वात् ।

अर्थः—इस रीति से स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं। धर्मी, साध्य और साधन, उनमें साधक होने के कारण साधन अंग है। साधन से सिद्ध होने कारण साध्य अंग है। साध्य-धर्म का आधार होने के कारण धर्मी अंग है। किसी विशेष आधार में साध्य की सिद्धि अनुमान का प्रयोजन है। अतः ये तीन अंग हैं।

मूलम्:-अथवा पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमाने, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् इति धर्मधर्मिभेदाभेदविवक्षया पक्षद्वयं द्रष्टव्यम्।

अर्थः—अथवा स्वार्थानुमान में पक्ष और हेतु ये दो अंग हैं। साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी पक्ष है। अतः दो अंग हो सकते हैं। धर्म और धर्मी के भेद और अभेद की विवक्षा से ये दोनों पक्ष हैं, इस प्रकार समझना चाहिये।

विवेचनाः-साध्य धर्म अलग अंग है, और धर्मी अलग अंग है इस रीति से धर्म और धर्मी के भेद की विवक्षा से प्रथम पक्ष में तीन अंग हैं जब धर्म और धर्मी में अभेद की

विवक्षा से साध्य विशिष्ट धर्मी पक्ष कहा जाता है तब दो ही अंग होते हैं। धर्म विशिष्ट धर्मी का दूसरा नाम पक्ष है।

मूलम्:-धर्मिणः प्रसिद्धिश्च क्वचित्प्रमाणात् क्वचिद्विकल्पात् क्वचित्प्रमाणविकल्पाभ्याम्।

अर्थः-धर्मी की प्रसिद्धि कहीं पर प्रमाण से कहीं पर विकल्प से और कहीं पर प्रमाण और विकल्प दोनों से होती है।

विवेचनाः-अनुमान से उत्पन्न प्रतीति के काल में धर्म विशिष्ट प्रसिद्ध धर्मी साध्य होता है इस प्रकार कहा गया है। यहाँ पर प्रसिद्ध का अर्थ है-जिसकी प्रसिद्धि है। धर्मी की प्रसिद्धि किसके द्वारा होती है, इस अपेक्षा के होनेके कारण कहा है, प्रसिद्धि प्रमाण से अथवा विकल्प से होती है।

मूलम्-तत्र निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतमावगतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम्। अनिश्चितप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्व विकल्पप्रसिद्धम्। तदुभयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम्।

अर्थः-जिसका प्रामाण्य निश्चित है इस प्रकार के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण के द्वारा जो निश्चित है वह प्रमाण से प्रसिद्ध कहा जाता है। जिसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य निश्चित नहीं इस प्रकार के ज्ञान का जो विषय है वह विकल्प से प्रसिद्ध

है । प्रमाण और विकल्प दोनों का जे विषय है वह प्रमाण और विकल्प दोनों से प्रसिद्ध कहा जाता है ।

मूलम्:–तत्र प्रमाणप्रसिद्धो धर्मी यथा धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः, स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते ।

अर्थः–पर्वत अग्निमान है धूमवान होनेसे । इस प्रयोग में पर्वत प्रमाणसिद्ध धर्मी है । प्रत्यक्ष प्रमाण से पर्वत देखा जाता है ।

मूलम्:–विकल्पसिद्धो धर्मी यथा सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः, अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम् । अत्र हि सर्वज्ञखरविषाणे अस्तित्वनास्तित्वसिद्धिभ्यां प्राग् विकल्पसिद्धे ।

अर्थः–सब प्रकार से बाधक प्रमाणों का अभाव निश्चित है अतः सर्वज्ञ है, इस प्रयोग में जब अस्तित्व साध्य होता है तब सर्वज्ञ विकल्प सिद्ध धर्मी है । अथवा जब खरविषाण नहीं है इस रीति से असत्त्व साध्य होता है तब खरविषाण विकल्प सिद्ध धर्मी है यहां पर सत्त्व और असत्त्व की सिद्धि से पहले सर्वज्ञ और खरविषाण विकल्प से सिद्ध हैं ।

विवेचना:-मीमांसक आदि प्रतिवादी सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं करते, उनके सामने जैन आदि सर्वज्ञ है इस रीति से अनुमान का प्रयोग करते हैं। जैन की अपेक्षा से सर्वज्ञ आगम प्रमाण द्वारा सिद्ध है परन्तु सर्वज्ञ के प्रतिपादक आगम को मीमांसक आदि प्रमाणरूप से नहीं स्वीकार करते। अतः सर्वज्ञरूप धर्मी की सिद्धि यहाँ विकल्प से होती है।

खरविषाण के असत्त्व को सिद्ध करने के लिये जब अनुमान होता है तब वादी और प्रतिवादी दोनों की अपेक्षा से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा खरविषाण की सिद्धि नहीं है। परंतु खरविषाण का ज्ञान होता है यह खरविषाण प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप से जो निश्चित नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान का विषय है। अतः खरविषाण विकल्प से सिद्ध है। असत्त्व के अनुमान से जब असत्त्व की सिद्धि होगी तब खरविषाण का ज्ञान अप्रमाणरूप सिद्ध होगा। परन्तु असत्त्व की सिद्धि जब तक नहीं होती तब तक खर विषाण का ज्ञान अप्रमाणरूप में निश्चित नहीं है। उस काल में खरविषाणरूप धर्मी विकल्प से प्रसिद्ध है।

मूलम्:-उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान (नः) प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः, स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाणविकल्पसिद्धो धर्मी।

अर्थः-शब्द परिणामी है, कृतक होने से। इस प्रयोग में शब्दरूप धर्मी प्रमाण और विकल्प दोनों

से सिद्ध है। वर्तमान शब्द प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। भूत और भावी शब्द विकल्प से प्रतीत होता है। समस्त शब्द धर्मी है अतः यहाँ धर्मी प्रमाण और विकल्प दोनों से सिद्ध है।

विवेचनाः-- शब्द परिणामी है इत्यादि अनुमान का प्रयोग जैन करता है - उसमें समस्त शब्द पक्ष है। शब्दत्व रूप से शब्द यहां धर्मी है। इसलिये वर्तमान भूत और भावी शब्द धर्मी रूप में है. उनमें वर्तमान शब्द वादी-प्रतिवादी दोनों की अपेक्षा से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है। भूत और भावी शब्द प्रत्यक्ष के विषय नहीं. इसलिये उनका ज्ञान प्रमाणभूत अथवा अप्रमाणभूत नहीं है। जिसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य निश्चित नहीं है इस प्रकार के ज्ञान का विषय होनेसे भूत और भावी शब्द विकल्प सिद्ध धर्मी के रूप में हैं।

मूलम्:-प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः। विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोरेव साध्यत्वमिति नियमः। तदुक्तम् 'विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्त्वेतरे साध्ये' (परी० ३०२३) इति।

अर्थः-प्रमाण सिद्ध और उभय सिद्ध धर्मियों में इच्छा के अनुसार कोई भी धर्म साध्य हो सकता है, परन्तु जब धर्मी विकल्प सिद्ध होता है तब सत्त्व और असत्त्व ही साध्य होते हैं। इस प्रकार का नियम है।

कहा भी है-विकल्पसिद्ध धर्मी के होने पर सत्त्व और असत्त्व ही साध्य होते हैं।

विवेचनाः—जो धर्मी प्रमाण सिद्ध है अथवा जो धर्मी प्रमाण और विकल्प दोनों से सिद्ध है उनमें इच्छा के अनुसार वादी किसी भी धर्म को साध्यरूप में कर सकता है परन्तु जब धर्मी विकल्पसिद्ध होता है तब सत्त्व और असत्त्व में से कोई एक ही साध्य हो सकता है। जब तक धर्मी की सत्ता प्रतिष्ठित नहीं हुई तब तक अन्य धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

मूलम्:—अत्र बौद्धः सत्तामात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टसत्तासाधने चानन्वयाद्विकल्पसिद्धे धर्मिणि न सत्ता साध्येत्याह;

अर्थः—यहाँ बौद्ध कहता है केवल सत्ता की सिद्धि इष्ट नहीं है। यदि विशिष्ट सत्ता की सिद्धि की जाय तो अन्वय न होनेसे विकल्प सिद्ध धर्मी में सत्ता साध्य नहीं हो सकती।

विवेचनाः—जब सर्वज्ञ को मानने वाले जैन अथवा नैयायिक आदि सर्वज्ञ को सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग करते हैं तब सर्वज्ञ धर्मी अर्थात् पक्ष होता है और सत्ता साध्य होती है। बौद्ध विकल्पसिद्ध धर्मी को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार यदि धर्मी विकल्प सिद्ध हो तो सत्ता साध्य नहीं हो सकती। बौद्ध कहता है सर्वज्ञ से विशिष्ट सत्ता की सिद्धि करनी हो, तो व्याप्ति का अभाव

है। मीमांसक आदि सर्वज्ञ पुरुष को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार इस प्रकार का कोई पुरुष नहीं है जिसमें बाधक प्रमाणों का अभावरूप हेतु और सर्वज्ञ विशिष्ट सत्ता रूप साध्य की स्थिति हो। व्याप्ति के बिना साध्य की सिद्धि में हेतु असमर्थ होता है। यदि सर्वज्ञवादी केवल सत्ता को साध्य रूप में करे तो इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती। जो लोग सर्वज्ञ को नहीं स्वीकार करते, वे सामान्य रूप से किसी भी वस्तु की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार का कोई प्रतिवादी नहीं है जो विशेष स्वभाव से रहित वस्तु को न मानता हो।

मलम्—तदसत्; इत्थं सति प्रकृतानुमानस्यापि भङ्गप्रसङ्गात्, वह्निमात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टवह्नेश्चानन्वयादिति।

अर्थः—वह कथन युक्त नहीं। इस रीति से तो प्रकृत अनुमान का भी भंग हो जायगा। सामान्य वह्नि की सिद्धि इष्ट नहीं है और विशिष्ट वह्नि की व्याप्ति नहीं है।

विवेचना—समस्त लोगों में प्रसिद्ध अनुमान को यहां पर प्रकृत पद से कहा गया है। प्रकरण का विषय होनेसे यहां प्रकृत पद का प्रयोग नहीं है। पर्वत वह्निमान है, इस अनुमान का प्रकरण यहां नहीं है।

धूमसे जब वह्नि की अनुमिति की जाती है तब भी इस रीति से आक्षेप हो सकता है। अनुमान का प्रयोक्ता सामान्य वह्नि की सिद्धि के लिये यत्न नहीं करता। वह

पर्वत में वह्नि सिद्ध करना चाहता है। सामान्य वह्नि सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिये इच्छा नहीं हो सकती। पर्वत विशिष्ट वह्नि यदि साध्य हो तो दृष्टान्त में उसकी व्याप्ति नहीं है रसोई-घर आदि में धूम और वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होता है और पर्वत में धूम के ज्ञान से पर्वत विशिष्ट वह्नि की सिद्धि होती है इस प्रकार बाधक प्रमाण के अभाव-रूप हेतु और सत्त्वरूप साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है और सर्वज्ञ धर्मी में बाधक प्रमाणों के अभावरूप हेतु के ज्ञान से सर्वज्ञरूप धर्मी की सत्ता सिद्ध होती है। जिस प्रकार पर्वत विशिष्ट वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति का ज्ञान आवश्यक नहीं है। इस प्रकार सर्वज्ञ विशिष्ट सत्ता के साथ बाधक प्रमाणों के अभावरूप हेतु की व्याप्ति आवश्यक नहीं है सत्त्व मात्र के साथ व्याप्ति युक्त बाधक प्रमाणों का अभाव रूप हेतु जहाँ दिखाई देता है वहाँ ही सत्त्व को सिद्ध करता है।

यहां यदि बौद्ध प्रमाणसिद्ध धर्मी के साथ विकल्प सिद्ध धर्मी की समानता का निषेध करने के लिये कहे—'पर्वत रूप धर्मी को वादी और प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हैं। इसलिये वहाँ वह्नि की सिद्धि हो सकती। परन्तु सर्वज्ञ को प्रतिवादी नहीं स्वीकार करता, अतः उसमें सत्त्वरूप धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती' तो यह कथन युक्त नहीं, वादी और प्रतिवादी पर्वत को जिस कारण से सिद्ध मानते हैं उसका विचार करना चाहिये। पर्वत प्रत्यक्ष से सिद्ध है इसलिये उसको सिद्ध कहा जाता है। सिद्ध पर्वत में वह्नि साध्य हो सकती है। सर्वज्ञ यद्यपि प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं, परन्तु विकल्प से सिद्ध है, अतः उसकी सत्ता

साध्य हो सकती है। यदि आप विकल्प को धर्मी की सिद्धि में असमर्थ कहते हैं तो आपके अनुमान ही आपका विरोध करेंगे। सांख्य आदि संसार के मूल कारण को प्रकृति कहते हैं। सत्त्व-रज और तम- इन तीन गुणों की सम अवस्था को वे प्रकृति कहते हैं। आप प्रकृति का निषेध करते हैं। आकाश के पुष्प के समान आप प्रकृति को सर्वथा असत् कहते हैं। प्रकृति की प्रतीति प्रमाण से नहीं होती, अतः प्रकृति असत् है इस प्रकार आप अनुमान का प्रयोग करते हैं।

यदि विकल्प के द्वारा धर्मी की सिद्धि न हो तो इस अनुमान में प्रकृति की धर्मीरूप में सिद्धि संभव नहीं है। विकल्प से प्रकृति को धर्मीरूप में मानकर आप उसके असत्त्व को सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग कर सकते हैं। विकल्प सिद्ध धर्मी में जिस प्रकार असत्त्व साध्य हो सकता है इस प्रकार सत्त्व भी साध्य हो सकता है। असत्त्व की सिद्धि के लिये धर्मी यदि विकल्प द्वारा सिद्ध हो सकता है तो सत्त्व की सिद्धि के लिये भी विकल्प के द्वारा सिद्ध हो सकता है।

मूलम्:-अथ तत्र सत्तायां साध्यतायां तद्धेतुः-भावधर्मः, भावाभावधर्मः अभावधर्मो वा स्यात्?

अर्थः-शंका करता है, विकल्प सिद्ध धर्मी में जब सत्ता साध्य होती है तब उसकी सिद्धि के लिये जो हेतु है वह भाव का धर्म है, भावाभाव का धर्म है अथवा अभाव का धर्म है?

मूलम्:-आद्येऽसिद्धिः, असिद्धसत्ताके भावधर्मासिद्धेः। द्वितीये व्यभिचारः, अस्तित्वाभाववत्यपि वृत्तेः। तृतीये च विरोधाभा (विरोधोऽभा) वधर्मस्य भावे क्वचिदप्यसम्भवात्।

अर्थः-जिसकी सत्ता सिद्ध नहीं है उसमें भावरूप धर्मी का धर्म सिद्ध नहीं हो सकता, अतः प्रथम पक्ष में असिद्धि है। सत्त्व के अभाव वाले धर्मी में भी रहता है इसलिये द्वितीय पक्ष में व्यभिचार है। तृतीय पक्ष में विरोध है अभाव का धर्म किसी भी भाव में नहीं रह सकता।

विवेचनाः-विकल्प के द्वारा वस्तु की सत्ता का निषेध करनेवाला फिर आक्षेप करता है। यदि धर्मी प्रमाण से सिद्ध नहीं, किन्तु विकल्प से सिद्ध है तो उसकी सत्ता के साध्य होने पर हेतु में तीन दोष हो जाते हैं। प्रकृत अनुमान में सर्वज्ञ विकल्प द्वारा सिद्ध धर्मी है। सत्त्व साध्य है और बाधक प्रमाणों का अभाव हेतु है। यह हेतु यदि भावरूप धर्मी का धर्म हो तो असिद्धि है। सर्वज्ञ की सत्ता इस काल तक सिद्ध नहीं हुई। सत्ता के बिना सर्वज्ञ भावरूप नहीं सिद्ध हो सकता। जो भाव नहीं है उसमें भाव का धर्म 'हेतु' नहीं रह सकता। यदि हेतु भावात्मक धर्मी का धर्म है तो धर्मी को भाव ही होना चाहिये और यदि वह भावरूप सिद्ध है तो उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिये हेतु व्यर्थ है।

यदि बाधकाभावरूप हेतु भाव और अभाव दोनों का धर्म है तो हेतु व्यभिचारी हो जायगा। जो हेतु साध्य सहित और साध्य रहित अर्थ में रहता है वह नियतरूप से साध्य को नहीं सिद्ध कर सकता। अनैकान्तिक हेतु से अर्थ की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती। यदि कोई प्रतीति होती है इसलिये यहां सोना है इस प्रकार अनुमान करे तो इस हेतु से सोने का सत्त्व नहीं सिद्ध होता। वृक्ष आदि विद्यमान हैं और उनकी प्रतीति होती है। मरुस्थल में जल नहीं है. तो भी ग्रीष्म ऋतु में वहां जल प्रतीत होता है। अनैकान्तिक होने-के कारण केवल प्रतीति सुवर्ण के सत्त्व को सिद्ध करने में असमर्थ है। प्रतीति होती है इसलिये वृक्ष आदिके समान जिस प्रकार सुवर्ण विद्यमान सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार मरुस्थल में जल के समान असत् भी सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार अनैकान्तिक हेतु से सत्त्व और असत्त्व का सदेह होता है इस प्रकार बाधक प्रमाणों का अभावरूप हेतु यदि भाव और अभाव दोनों का धर्म होगा तो अनैकान्तिक होगा और उसके कारण सर्वज्ञ के विषय में संदेह होगा। बाधक प्रमाणों का अभाव यदि भाव और अभाव इन दोनों का धर्म हो तो सर्वज्ञ विद्यमान भी हो सकता है और अविद्यमान भी हो सकता है।

यदि यह हेतु अभाव का धर्म हो तो विरुद्ध हो जायगा। इस दशा में यह हेतु किसी भी भाव में नहीं रह सकता। रूप से रहित है इसलिये नेत्र द्वारा देखा जा सकता है। इस प्रयोग में रूप का अभाव हेतु है। वह किसी अर्थ को देखने योग्य नहीं सिद्ध कर सकता। वायु और आकाश आदिमें रूप का अभाव है और उनका चक्षु से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

इस रीति से रूप के अभाव की व्याप्ति उन अर्थों के साथ है जो चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं है । बाधक प्रमाणों का अभावरूप हेतु यदि अभाव का धर्म हो तो उसके द्वारा धर्मी अभावरूप हो सिद्ध होगा।

मूलम्–तदुक्तम्–"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति, व्यभिचार्युभयाश्रयः । धर्मो विरुद्धोऽभावस्य, सा सत्ता साध्यते कथम् ! ॥" [प्रमाणवा. १. १९२] इति चेत् ।

अर्थः–कहा भी है–वह हेतु जो भाव का धर्म है, असिद्ध धर्मी में नहीं रह सकता । भाव और अभाव दोनों जिसके आश्रय हैं वह व्यभिचारी हो जाता है । यदि हेतु अभाव का धर्म हो तो विरुद्ध हो जाता है । इस दशा में विकल्प सिद्ध धर्मी की सत्ता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

मूलम्:–नः; इत्थं वह्निमद्धर्मत्वादिविकल्पैर्धूमेन वह्न्यनुमानस्याप्युच्छेदापत्तेः ।

अर्थः–यह कथन युक्त नहीं, इस रीति से तो वह्निमान का धर्म है इत्यादि विकल्पों के द्वारा धूम से वह्नि के अनुमान का भी विनाश हो जायगा ।

विवेचनाः–'पर्वत वह्निमान है–धूम होने से' इस अनुमान में वह्नि साध्य है और धूम हेतु है । यहाँ भी पूर्वोक्त रीति से आक्षेप हो सकता है । धूम हेतु वह्निमान का धर्म

है अथवा वह्निमान और अवह्निमान दोनों का धर्म है अथवा अवह्निमान का धर्म है ?

प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। अनुमान से पहले पर्वत वह्निमान है इस प्रकार निश्चय नहीं है। अतः धूम वह्निमान का धर्म है, यह निश्चय नहीं हो सकता। महानस का धूम वह्निमान का धर्म है यह निश्चय है परन्तु महानस का धूम पर्वत में असिद्ध है, अतः वह पर्वत में वह्नि को सिद्ध करने के लिये असमर्थ है।

यदि धूम हेतु वह्निमान और अवह्निमान दोनों का धर्म हो तो व्यभिचारी हो जायगा, कारण, जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ भी धूम रहता है। इस प्रकार का धूम पर्वत में वह्नि और वह्नि के अभाव के संदेह को उत्पन्न करेगा यदि धूम हेतु वह्नि रहित का धर्म है तो विरुद्ध हो जायगा। जहां वह्नि का अभाव है वहाँ ही धूम रहता है इस दशा में वह्नि सहित किसी धर्मी में धूम नहीं रह सकता।

इन विकल्पों के द्वारा प्रसिद्ध धूम हेतु से वह्नि का अनुमान अयुक्त हो जायगा। इन आक्षेपों के परिहार के लिये यदि कहा जाय–"सामान्य रूप से धूम हेतु वह्निमान का धर्म सिद्ध है, इसलिये प्रकृतधर्मी पर्वत में जब दिखाई देता है तब वहां वह्नि को सिद्ध कर सकता है"–तो इस प्रकार का उत्तर सर्वज्ञ की सत्ता के साधक हेतु में भी हो सकता है। सामान्य रूप से बाधक प्रमाणों का अभावरूप हेतु भाव धर्मरूप में सिद्ध है। वह जब प्रकृत धर्मी में दिखाई देता है तब सत्त्व को सिद्ध करता है।

विकल्पसिद्ध धर्मी की सत्ता के साध्यरूप को जो दूषित करता है उसके पक्ष में अन्य दोष भी हैं, इस प्रकार

का वादी शशशृंग आदि असत् पदार्थों के असत्त्व को सिद्ध करने के लिये जिस अनुमान का प्रयोग करता है वह अनुमान भी अयुक्त हो जायगा। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से शशशृंग आदिकी प्रतीति नहीं होती। इसलिये शशशृंग आदि असत् है अर्थात् "शशशृंगादिः असत् अप्रतीतत्वात्" इस प्रयोग में अप्रतीतत्व हेतु नहीं हो सकेगा। यहाँ भी अप्रतीतत्व हेतु अभाव का धर्म है अथवा अभाव और भाव का धर्म है अथवा भाव का धर्म है? ये तीन विकल्प हो सकते हैं। जब तक शशशृंग आदिका अभाव नहीं सिद्ध हुआ तब तक अप्रतीतत्वरूप हेतु अभाव के धर्म के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अभाव के धर्म रूप में सिद्ध हो तो शशशृंग आदिका असत्त्वरूप साध्य सिद्ध है अतः अनुमान व्यर्थ हो जायगा। अभाव का धर्म यदि शशशृंग आदिमें रहे तो शशशृंग आदि अभावरूप ही होना चाहिये। जो अभाव नहीं है, उसमें अभाव का धर्म नहीं रह सकता।

यदि आप अप्रतीतत्वरूप हेतु को अभाव और भाव दोनों का धर्म कहते हैं, तो अनैकान्तिक होनेके कारण यह हेतु शशशृंग आदिक असत्त्व के समान सत्त्व की प्रतीति को भी उत्पन्न करेगा। इसलिये असत्त्व की सिद्धि नहीं होगी।

यदि आप अप्रतीतत्वरूप हेतु को भाव का धर्म कहते हैं तो विरुद्ध हो जायगा। वह किसी अभाव में नहीं परन्तु भावमें ही है—अतः उसके द्वारा शशशृंग आदिका असत्त्व नहीं सिद्ध हो सकेगा।

इन समस्त आक्षेपों के परिहार के लिये कहा जा सकता है—'सामान्य रूप से अप्रतीतत्वरूप हेतु की व्याप्ति

अभाव के साथ है। व्याप्ति के सिद्ध होने पर भी जब प्रकृत शशशृंग आदि धर्मी में वह हेतु दिखाई देता है तो वह अभाव की अनुमिति करता है"-इस रीति का उत्तर बाधक प्रमाणों के अभावरूप हतु के लिये भी हो सकता है। यह हेतु भाव का धर्म होने पर भी सत्ता को सिद्ध कर सकता है। सामान्यरूप से इस हेतु की भाव के साथ व्याप्ति है। जहाँ बाधकाभाव है वहाँ अर्थ सत् है यह व्याप्ति है। तो भी जब विकल्प से सिद्ध धर्मी में हेतु प्रतीत होता है तब वहां सत्ता को सिद्ध करता है।

मूलम्-विकल्पस्याप्रमाणत्वाद्विकल्पसिद्धो धर्मी नास्त्येवेति नैयायिकः।

अर्थः-नैयायिक कहता है, विकल्प अप्रमाण है, अतः विकल्प सिद्ध धर्मी नहीं हो सकता।

विवेचनाः—प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि होती है। विकल्प प्रमाणरूप नहीं है। अप्रमाण विकल्प से यदि साध्य की सिद्धि हो जाय तो प्रमाण की परीक्षा व्यर्थ होगी। धर्मी हेतु का आश्रय है। विकल्प से धर्मीरूप आश्रय की सिद्धि नहीं, इस कारण हेतु आश्रय में नहीं रह सकता। इस रीति से धर्मी को विकल्प से सिद्ध मानकर जब आप हेतु का प्रयोग करते हैं तब आपका हतु आश्रयासिद्ध हो जायगा।

मूलमः-नास्त्येवंवचनस्यैवानुपपत्तेस्तूष्णीम्भावापत्तिः,विकल्पसिद्धधर्मिणोऽप्रसिद्धौ तत्प्रतिषेधानुपपत्तेरिति।

अर्थः—उसका इस प्रकार का वचन युक्त नहीं है इसलिए उसको चुप रहना पड़ेगा। विकल्पसिद्ध धर्मी की यदि प्रसिद्धि न हो तो उसका निषेध भी न हो सकेगा।

विवेचना:—आप कहते हैं धर्मी विकल्प से नहीं सिद्ध होता। यदि किसी भी रीति से विकल्प द्वारा सिद्ध नहीं है तो आप-"विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं है, कारण, उसके लिये कोई प्रमाण नहीं है।" इस प्रकार का प्रयोग नहीं कर सकेंगे। अनुमान के इस प्रयोग में जिसके असत्त्व की सिद्धि के लिये आप हेतु कहते हैं वह धर्मी भी विकल्प सिद्ध है। आपके अनुसार आपके हेतु में भी आश्रयासिद्धि दोष होगा। इस अनुमान में धर्मी प्रमाण सिद्ध नहीं है। आपका अनुमान असत्त्व का साधक है। उसका धर्मी यदि प्रमाण सिद्ध हो तो प्रतिवादी के अनुमान में आप जिस आश्रयासिद्धि को कहते हैं उसके साथ इस वचन का विरोध होगा। प्रतिवादी सर्वज्ञ को विकल्पसिद्ध धर्मी के रूप में कहता है। आप भी इस अनुमान में निषेध के लिये उसी-को धर्मीरूप में कहते हैं। इस रीति से आपके अनुमान का धर्मी भी विकल्प से सिद्ध है।

यदि आप कहते हैं-मैं विकल्पसिद्ध 'धर्मी का विधान अथवा निषेध नहीं करता, है भी नहीं कहता और नहीं भी नहीं कहता।' तो यह वचन युक्त नहीं है। विधान और निषेध परस्पर के अभावरूप हैं। विधि का निषेध निषेध है, निषेध का निषेध विधि है। दोनों का निषेध नहीं हो सकता। जब वादी सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये बाधक प्रमाणों

के अभाव को हेतुरूप में कहता है तब सर्वज्ञ वस्तु नहीं, अवस्तु है। अवस्तु में हेतु नहीं रह सकता अतः वह आश्रयासिद्ध है इस प्रकार आप हेतु को दूषित करते हैं। यहाँ स्पष्टरूप से अवस्तु का निषेध है। इसके साथ अवस्तु में विधि और निषेध नहीं होते इस वचन का विरोध अत्यत स्पष्ट है। जब आप हेतु को आश्रयासिद्ध कहते हो तब अन्य दोष भी है। जो आश्रय है वह वस्तु है-इस प्रकार की व्याप्ति को मानकर आप हेतु को दूषित करते हैं। विकल्प से सिद्ध सर्वज्ञ अथवा शशशृंग आदिका निषेध करने के लिये आप अवस्तुत्व को अथवा अनुपलब्धि को हेतुरूप में कहते हैं। इस दशा में आप स्वयं अवस्तु को आश्रयरूप में मानते हैं। अब 'जो आश्रय है वह वस्तु है' यह व्याप्ति भ्रमरूप सिद्ध हो जाती है। अतः वस्तु में जिस प्रकार विधि और निषेध का व्यवहार होता है इस प्रकार अवस्तु में भी होता है।

मूलम्:-इदं त्ववधेयम्-विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो नाखण्डस्यैव भानमसत्ख्यातिप्रसङ्गादिति, शब्दादेर्विशिष्टस्य तस्य [भा] नाभ्युपगमे विशेषणस्य सशयेऽभावनिश्चये वा वैशिष्ट्यभा[ना]नुपपत्तेः विशेषणाद्यंशे आहार्यारोपरूपा विकल्पात्मिकैवानुमितिः स्वीकर्तव्या, देशकालसत्तालक्षणस्यास्तित्वस्य, सकलदेशकालसत्ताऽभावलक्षणस्य च नास्तित्वस्य साधनेन परपरिकल्पितविपरीतारोपव्यवच्छेदमात्रस्य फलत्वात्।

अर्थः-यह वस्तु ध्यान देने योग्य है । असत् ख्याति की आपत्ति होती है इसलिये विकल्पसिद्ध धर्मी का ज्ञान अखंडरूप में नहीं होता । शब्द आदि-के द्वारा शिविष्टरूप में उसका ज्ञान यदि माना जाय तो जब विशेषण के विषय में संदेह हो अथवा विशेषण के अभाव का निश्चय हो तो वैशिष्ट्य की प्रतीति नहीं हो सकती. अतः विशेषण आदि अंश में आहार्यारोप-स्वरूप विकल्पात्मक अनुमिति माननी चाहिये । देश और काल में सत्तारूप अस्तित्व को और समस्त देश काल में सत्ता के अभावरूप नास्तित्व को सिद्ध करने से प्रतिवादी द्वारा कल्पित विपरीत आरोप की निवृत्ति इसका फल है ।

विवेचनाः-विकल्प से सिद्ध धर्मी में सत्त्व और असत्त्व का साध्यरूप में प्रतिपादन किया है; अतः विकल्पसिद्ध धर्मी के ज्ञान की रीति को ग्रंथकार प्रकट करते हैं । शब्द से अथवा अनुमान से जब विकल्प सिद्ध धर्मी की प्रतीति होती है तब तीन प्रकार हो सकते हैं । अखंडरूप से ज्ञान प्रथम प्रकार है । विशिष्टरूप से ज्ञान द्वितीय प्रकार है । खंडरूप से ज्ञान तृतीय प्रकार है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'शशशृंग नहीं है' इस वाक्य के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें अखंड शशशृंग का ज्ञान होता है । 'घट नहीं है' इस वाक्य के द्वारा जिस प्रकार घटाभाव का ज्ञान होता है और उसमें घट प्रतियोगीरूप से और अभाव विशेष्यरूप

में प्रतीत होता है; इस प्रकार शशशृंग नहीं है इस वाक्य के द्वारा अखंड शशशृंग की प्रतीति और अभाव की विशेष्य-रूप में प्रतीति होती है। प्रतियोगिता संबंध से अखंड शशशृंग प्रकार है और अभाव विशेष्य है।

जब अनुमिति में शशशृंग की प्रतीति होती है तब अखंड शशशृंग विशेष्य हो जाता है और नास्तित्व प्रकार हो जाता है। नास्तित्ववाला शशशृंग है इस रीति से अनुमिति होती है।

द्वितीय पक्ष के अनुसार शशशृंग का ज्ञान विशिष्ट-रूप में होता है। पहले कहे हुए वाक्य के द्वारा उत्पन्न ज्ञान में शशीयत्व विशेषण है और शृंग विशेष्य है। शशीयत्व से विशिष्ट शृंग अभाव में विशेषण है। विशेषण का दूसरा नाम प्रकार है। प्रतियोगिता संबंध से शशीयत्व विशिष्ट शृंग अभाव में प्रकाररूप से प्रतीत होता है। शशीयत्व विशिष्ट शृंगरूप प्रतियोगीवाला यह अभाव है इस रूप में शाब्द बोध होता है।

अनुमिति में जब विशिष्टरूप से प्रतीति होती है तब शशीयत्व विशिष्ट शृंग विशेष्यरूप में प्रतीत होता है और नास्तित्व उसमें प्रकाररूप से प्रतीत होता है। शशीयत्व विशिष्ट शृंग नास्तित्ववाला है, इस रीति से अनुमिति होती है।

तृतीय पक्ष में शशशृंग का ज्ञान खंड खंड रूप में होता है। शाब्दबोध में जब खंडरूप से प्रसिद्धि हती है तब एक खंड शश और दूसरा खंड शृग है। प्रतियोगिता संबंध सेशृग अभाव में प्रतीत होता है और शृग में शश प्रतीत होता है।

शशपद लक्षणा से शश के संबधी को कहता है। इस रीति से शश संबंधी शृंग प्रतियोगिता संबंध से अभाव में

प्रतीत होता है । अर्थात् शशके संबंधी शृंग का अभाव प्रतीत होता है । इस पक्ष में शश का शृंग कोई अखंड वस्तु नहीं है । शृंग एक वस्तु है और शश का संबधी भी एक वस्तु है शश का संबधी केश, चर्म आदि प्रसिद्ध है और हरिण आदिका शृंग प्रसिद्ध है । शशशृंग नहीं है इस वाक्य के द्वारा शशशृंग नामक किसी एक वस्तु का अभाव नहीं प्रतीत होता, किन्तु शृंग के साथ शश सबंधी वस्तु के अभेद का निषेध प्रतीत होता है । शृंग प्रसिद्ध है और शशसबंधी अर्थ प्रसिद्ध है । इन दोनों अर्थों में अभेद नहीं है । इस प्रकार शशसंबंधी शृंग का अभाव प्रतीत होता है । इस रीति से शशशृंग का अभाव अप्रसिद्ध वस्तु का नहीं किन्तु प्रसिद्ध वस्तु का हो जाता है ।

जब अनुमिति में खंड खंड रूप से शशशृंग की प्रतीति होती है तब शशीयत्व की प्रतीति प्रतियोगिता संबंध से अभाव में होती है । और अभाव शृंग में प्रकार रूप से प्रतीत होता है, शशीयत्व का अभाववाला शृंग है इस-प्रकार प्रतीति होती है । यहाँ शृंग विशेष्य है और शशीयत्व का अभाव प्रकार है । शृंग प्रसिद्ध है और शशीयत्व भी प्रसिद्ध है । इस रीति से शशशृंग का अभाव अप्रसिद्ध प्रतियोगी का अभाव नहीं किन्तु प्रसिद्ध प्रतियोगी का अभाव है ।

अथवा अन्य रीति से अनुमिति में शशशृंग के अभाव की प्रतीति हो सकती है । शश विशेष्य है और उसमें अभाव विशेषण है और अभाव में शृंग विशेषण है । इस रीति के अनुसार शश में शृंग के अभाव की प्रतीति होती है । शश प्रसिद्ध है और शृंग प्रसिद्ध है । शृंग का अभाव भी प्रसिद्ध है इसलिये जब शृंग के अभाव से विशिष्ट

शश की प्रतीति होती है तब प्रसिद्ध वस्तु में प्रसिद्ध वस्तु का अभाव प्रतीत होता है । 'घटाभाववाला भूतल है'-इस प्रतीति में जिस प्रकार घटाभाव अप्रसिद्ध वस्तु का अभाव नहीं इसी प्रकार शृंग का अभाव अप्रसिद्ध वस्तु का अभाव नहीं । जिस प्रकार विशेष्य भूतल प्रसिद्ध है इस प्रकार विशेष्य शश प्रसिद्ध है ।

इन तीन पक्षों में से प्रथम पक्ष के अनुसार अखंडरूप में विकल्पसिद्ध धर्मी के ज्ञान को सिद्धान्ती अयुक्त कहता है। अखंड रूप में उसका ज्ञान हो तो असत् वस्तु की प्रतीति होती है इस प्रकार मानना पडेगा। विकल्प से सिद्ध प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है-अतः वह असत् है उसका ज्ञान असत् का ज्ञान है ।

जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान में विद्यमान अर्थ को ही प्रतीति होती है । सिद्धान्त के प्रतिकूल होनेके कारण यह पक्ष स्वीकार योग्य नहीं है।

विशिष्ट रूप में विकल्प सिद्ध धर्मी का ज्ञान होता है इस द्वितीय पक्ष में भी दोष है।

यदि विशिष्ट रूप में विकल्प सिद्ध धर्मी के अभाव का ज्ञान हो तो वह अभाव ज्ञान विशिष्ट-वैशिष्टयावगाही होगा। शाब्द बोध में शशीयत्व से विशिष्ट शृंग के वैशिष्टय का अभाव प्रतीत होगा। शशीयत्व से विशिष्ट शृंग है और शृंग से विशिष्ट अभाव है इस रीति से अभाव का ज्ञान विशिष्ट के वैशिष्टय का प्रकाशक हो जाता है।

अनुमिति में यदि विशिष्ट रूप से भान हो तो शशीयत्व से विशिष्ट शृंग में अभाव के वैशिष्टय का ज्ञान होगा । इस रीति से विशिष्ट रूप में यदि ज्ञान हो तो यह विशिष्ट-

ज्ञान-विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही होता है । इस प्रकार के ज्ञान का कारण विशेषणतावच्छेदक प्रकारक निश्चय होता है। विशेषण में जो विशेषण है वह विशेषणतावच्छेदक कहा जाता है । जब विशेषणतावच्छेदक किसी निश्चय में प्रकार रूप से प्रतीत होता है तब वह निश्चय विशेषणतावच्छेदकप्रकारक कहा जाता है।

प्रकृत में अभाव विशेष्य है उसमें विशेषण शृंग है और उसमें विशेषण शशीयत्व है। अतः वह विशेषणतावच्छेदक है 'शृंग शशीय है'-इस आकारवाला निश्चय विशेषणतावच्छेदकप्रकारक है । कारण, शशीयत्व यहां प्रकाररूप में प्रतीत होता है शृंग शशीय है' इस वाक्य के द्वारा इस प्रकार का निश्चय यदि न हो तो शशीयत्वविशिष्ट शृंग से विशिष्ट अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता । शशीयत्वविशिष्ट शृंग प्रतियोगिता संबंध से अभाव में प्रकार रूप से प्रतीत होता है । शशशृंग नहीं है' इस वाक्य के द्वारा इस प्रकार का शाब्दबोध होता है और वह विशिष्ट के वैशिष्ट्य का बोध है। जब शृंग शशीय है अथवा नहीं इस प्रकार का संदेह होता है अथवा जब शृंग शशीय नहीं इस प्रकार का निश्चय होता है. तब शृंग शशीय है इस प्रकार का बाध निश्चय नहीं हो सकता और उस काल में शशशृंग नहीं है यह वाक्य उक्त रीति से विशिष्ट-वैशिष्ट्य के बोध को उत्पन्न नहीं कर सकता।

अनुमिति में भी शशीयत्व से विशिष्ट शृंग रूप विशेष्य में नास्तित्व की प्रकाररूप से प्रतीति नहीं हो सकती। विशिष्ट में जो वैशिष्ट्य है वह विशिष्ट-वैशिष्ट्य कहा जाता है।

उसके प्रकाशक ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक प्रकारक निश्चय कारण है। यहाँ अनुमिति शशीयत्व से विशिष्ट शृंग में नास्तित्व के वैशिष्ट्य को प्रकाशित करती है। इसलिये वह विशिष्ट वैशिष्ट्य की प्रकाशक है। इस ज्ञान में 'शृंग शशीय है' इस आकारवाला निश्चय कारण है। यह निश्चय विशेष्यतावच्छेदक प्रकारक है। शशीयत्व यहां विशेष्यतावच्छेदक है और वह शृंग में प्रकाररूप से प्रतीत होता है। जब शृंग शशीय है अथवा नहीं' इस प्रकार का संदेह होता है अथवा जब 'शृंग शशीय नहीं' इस प्रकार का बाध होता है, तब शृंग शशीय है इस प्रकार का निश्चयरूप कारण नहीं रहता। कारण के अभाव में पहले कही रीति के अनुसार विशिष्ट-वैशिष्ट्य को प्रकाशक अनुमिति नहीं हो सकती। इसी प्रकार शशीयत्व से विशिष्ट शृंगरूप विशेष्य में नास्तित्व की प्रकाररूप से प्रतीति अनुमिति द्वारा नहीं हो सकती।

यहां बाध-निश्चय अथवा संदेह है, अतः पूर्वोक्त अनुमिति भ्रमरूप में अथवा प्रमारूप में नहीं हो सकती। जब बाध का निश्चय अथवा संदेह होता है तब प्रमा और भ्रम नहीं हो सकते। बाध का निश्चय भ्रम और प्रमा की उत्पत्ति में बाधक है। परन्तु आहार्य-आरोपरूप अनुमिति-भ्रम अथवा संदेह के काल में भी हो सकती है। जब बाध का निश्चय होता है तब जो ज्ञान इच्छा से उत्पन्न होता है वह आहार्य कहा जाता है। बाध के निश्चय से आहार्य ज्ञान का प्रतिबंध नहीं होता। अतः बाधकाल में आहार्य अनुमिति हो सकती है। प्रकृत अनुमिति म शशशृंग विशेष्य है और नास्तित्व प्रकार है इस अनुमिति में दो अश ह-शश-

शृंग और नास्तित्व। शशशृंग में नास्तित्व के अभावरूप अस्तित्व का निश्चय नहीं है। अतः नास्तित्व अंश में यह अनुमिति आहार्यरूप नहीं है। परन्तु शशशृंगरूप अंश में शृंग विशेष्य है और शशीयत्व विशेषण है। यहां शशीयत्व के अभाव का निश्चय है, अतः बाध का निश्चय है। इस बाध के काल में शशीयत्व का ज्ञान शृंग में हो जाय-इस प्रकार की इच्छा से वह अनुमिति उत्पन्न हुई है। अतः शशीयत्व-रूप विशेषण अंश में वह आहार्यरूप है।

यद्यपि प्राचीन नैयायिक मानस प्रत्यक्ष को ही आहार्य-रूप में स्वीकार करते हैं। तो भी नैयायिकों के कुछ एक देशी अनुमिति को आहार्यरूप में मानते हैं। अतः प्रकृत अनुमिति आहार्यरूप में हो सकती है। आहार्य अनुमिति भी निष्फल नहीं है। जब सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करने के लिये इस प्रकार की अनुमिति होती है तब नास्तित्व का निषेध फलरूप में होता है देश और काल में सर्वज्ञ की सत्ता है परन्तु प्रतिवादी समस्त देश और काल में सर्वज्ञ के अभाव को कहता है। यह अभावरूप नास्तित्व आरोपात्मक है। अनुमिति से इस आरोप की निवृत्ति होती है। इसी रीति से शशशृंग का समस्त देश और काल में अभाव है। परन्तु प्रतिवादी देश और काल में सत्ता का आरोप करता है। यह अनुमिति देश और काल में सत्ता के अभाव को सिद्ध करती है। शशशृंग के असत्त्व की सिद्धि आहार्य अनुमिति का फल है।

यह अनुमिति ज्ञानात्मक है और उस ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य निश्चित नहीं, अतः वह विकल्परूप है।

मूलम्–वस्तुतस्तु खण्डशः प्रसिद्धपदार्थाऽस्तित्वनास्तित्वसाधनमेवोचितम् । अत एव "असतो नत्थि णिसेहो" [विशेषा० गा० १५७४ इत्यादि भाष्यग्रन्थे खरविषाणं नास्तीत्यत्र 'खरे विषाणं नास्ति' इत्येवार्थ उपपादितः ।

अर्थः-वास्तव में तो खंड खंडरूप से प्रसिद्ध पदार्थों के अस्तित्व और नास्तित्व का साधन ही उचित है । इसी कारण 'असत् का निषेध नहीं' इत्यादि भाष्यग्रन्थ में खर का विषाण नहीं इस स्थल में खर में विषाण नहीं इसी अर्थ का प्रतिपादन है ।

विवेचनाः-जब धर्मी विकल्प से प्रसिद्ध कहा जाता है तब खंड खंडरूप से वस्तु की प्रसिद्धि माननी चाहिये । विशेषावश्यक भाष्यकार खर का विषाण नहीं इस वाक्य के अर्थ को जब प्रतिपादित करते हैं तब खर विषाण नामक अखंड अर्थ के निषेध का निरूपण नहीं करते । और शशीयत्व से विशिष्ट शृंग के अभाव को भी नहीं कहते । किन्तु शश में शृंग के निषेध को कहते हैं । खर एक खंड है और शृंग दूसरा खंड है, दोनों खंड प्रसिद्ध हैं । खर अधिकरण है उसके साथ शृंग का संबंध नहीं है । जिस प्रकार भूतल प्रसिद्ध है और घट प्रसिद्ध है । यदि किसी भूतल में घट न दिखाई दे तो भूतल घटाभाववाला है इसी प्रकार कहा जाता है । इसी प्रकार खरप्रसिद्ध है और शृंग प्रसिद्ध है । खर के साथ शृंग का संबंध

नहीं । इसलिये खर शृंग का अभाववाला है इस प्रकार कहा जाता है । जो प्रतियोगी अर्थ प्रसिद्ध है उसका अभाव होता है घट आदिके समान शृंग भी प्रसिद्ध है इस लिये उसका अभाव हो सकता है, इस पक्ष के अनुसार शशशृंग घट आदिके समान प्रसिद्ध नहीं इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता ।

मूलम्:-एकान्तनित्यमर्थक्रियासमर्थं न भवति क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावेनार्थक्रियानियामकत्वाभावो नित्यत्वादौ सुसाध इति सम्यग्निभालनीयं स्वपरसमयदत्तदृष्टिभिः।

अर्थः—एकान्तरूप से नित्य अर्थ, अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता । कारण, उसमें क्रम और यौगपद्य का अभाव है । इस अनुमान में भी जब विशेषों का ज्ञान होता है तब क्रम और यौगपद्य की निरूपकता के अभाव से अर्थ क्रिया की नियामकता का अभाव नित्यत्व आदिमें क्लेश के विना सिद्ध हो सकता है । जिन लोगों की स्वसमय और परसमय में दृष्टि है उन लोगों को इस विषय में उत्तम रीति से विचार करना चाहिये ।

विवेचनः—खर का विषाण नहीं है इत्यादि स्थल में जब खंड-रूपसे प्रसिद्धि हो सकती है तब विकल्प द्वारा धर्मी की प्रसिद्धि व्यर्थ है । परन्तु इस प्रकार के अनुमान

के प्रयोग हैं जिनमें धर्म की प्रसिद्धि विकल्प से ही हो सकती है और खंड रूप से प्रसिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार का एक अनुमान जैनो का है। वह इस प्रकार है – 'एकान्त-नित्यमर्थक्रिया समर्थं न भवति' यहां एकान्त नित्य अर्थ में अर्थक्रिया के सामर्थ्य का निषेध है। जैनमत के अनुसार कोई अर्थ एकान्त रुप से नित्य नहीं है। किन्तु एक अपेक्षा से नित्य है और अन्य अपेक्षा से अनित्य है। खर का शृंग आदि जिस प्रकार असत् है, इस प्रकार एकान्त-नित्य अर्थ असत् है। इस असत् अर्थ की यदि विकल्प से सिद्धि मानी जाय तो निषेध हो सकता है। परन्तु विकल्प से यदि सिद्धि न हो तो खंडरूप से प्रसिद्धि करनी चाहिये। यहां पर खंडों के द्वारा प्रसिद्धि असंभव नहीं है। उसका उपपादन जैन तर्क के अनुसार हो सकता है। नैयायिक और सांख्य आदि जिस अर्थ को एकान्तरूप में नित्य स्वीकार करते हैं उसकी उत्पत्ति और विनाश को किसी रूप में नहीं स्वीकार करते। सांख्य के अनुसार आत्मा एकान्त-रूप से नित्य है। किसी प्रकार से उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। न्यायमत के अनुसार आत्मा ही नहीं, परमाणु-आकाश-आदि अर्थ भी एकान्त नित्य हैं। उनके भी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। जैन मत के अनुसार आत्मा और परमाणु आदि भी द्रव्यरूप से नित्य हैं और पर्यायरूप से अनित्य हैं। कोई भी अर्थ एकान्तरूप से नित्य अथवा अनित्य नहीं है। सांख्य आदिके अनुसार उत्पत्ति और विनाश से सर्वथा रहित अर्थ एकान्त नित्य है। यहां दो अंश हैं—एक अंश हैं विशेष्यरूप आत्मा-परमाणु आदि अर्थ और दूसरा अंश है उत्पत्ति और विनाश का अभाव-

रूप विशेषण अंश। आत्मारूप अर्थ प्रसिद्ध है और उत्पत्ति और विनाश का अभावरूप अर्थ भी प्रसिद्ध है। जिस प्रकार खर के साथ विषाण का संबंध नहीं इस प्रकार आत्मा आदि अर्थ के साथ पर्याय की अपेक्षा से उत्पत्ति और विनाश के अभाव का संबंध नहीं है। इस रीति से खंडरूप में प्रसिद्धि हो सकती है। सांख्य और न्याय आदिके अनुसार आत्मा और परमाणु आदिमें उत्पत्ति और विनाश का अभाव प्रसिद्ध है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा और परमाणु आदिमें उत्पत्ति और विनाश का अभाव प्रसिद्ध है जो द्रव्यरूप से प्रसिद्ध है उसके अभाव का संबंध पर्याय की अपेक्षा से नहीं इस प्रकार जैन प्रतिपादन करता है। घट-पट आदिके समान पर्याय की अपेक्षा से उत्पत्ति और विनाश का संबंध आत्मा-परमाणु आदिके साथ भी है। इस साध्य की सिद्धि के लिये अर्थ क्रिया की निष्फलता के अभाव को हेतुरूप में कहता है। प्रत्येक अर्थ किसी न किसी अर्थ क्रिया को करता है। पर्याय से यदि उत्पत्ति और विनाश न हों तो कोई भी अर्थ क्रिया नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक अर्थ पर्याय की अपेक्षा से उत्पत्ति और विनाश के साथ संबद्ध है। जो अर्थ कारण है वह सदा कार्य को नहीं उत्पन्न करता। एक काल में कार्य को उत्पन्न करता है और अन्य काल में कार्य को नहीं उत्पन्न करता। पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश के बिना यदि कारणभूत अर्थ कार्य को उत्पन्न करें तो सदा कार्यों को उत्पन्न करना चाहिये। कोई भी काल इस प्रकार का नहीं होना चाहिये जिसमें कार्य की उत्पत्ति न हो। काल के भेद से कार्य की उत्पत्ति होती है, अतः जब कार्य की उत्पत्ति नहीं उस काल में कारण का

स्वरूप भिन्न है। जिस काल में उत्पत्ति होती है उस काल में कारण का स्वरूप पहले की अपेक्षा भिन्न है। स्वरूप का यह भेद पर्यायों की अपेक्षा से अर्थ में उत्पत्ति और विनाश के अभाव को दूर करता है। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व काल में कार्य का जो स्वरूप है यदि वही रहे तो किसी भी काल में कार्य की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये।

नित्यत्व आदि में अर्थ क्रिया की नियामकता का अभाव क्लेश के बिना सिद्ध हो सकता है इस प्रकार ग्रन्थकार कहते हैं। यहाँ आदि पद से अनित्यत्व का ग्रहण है। यदि अर्थ एकान्तरूप से अनित्य हो तो भी कार्य की उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकता। बौद्ध लोग समस्त अर्थों को क्षणिक मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक क्षण में उत्पत्ति और विनाश होता है। वस्तु का कोई स्वरूप स्थिर नहीं है। जैन मत के अनुसार इस प्रकार का कोई अर्थ नहीं जो सर्वथा स्थिति से रहित हो। एकान्तरूप से अनित्य अर्थ जैनमत में असत् है। यहां भी खडरूप से प्रसिद्धि हो सकती है। द्रव्यरूप से उत्पत्ति और विनाश का अभाव प्रसिद्ध है। अर्थरूप विशेष्य प्रसिद्ध है और उत्पत्ति तथा विनाश प्रसिद्ध है। जब जैन कहता है–अर्थ एकान्तरूप से अनित्य नहीं तब वह 'अर्थ के साथ स्थिति के अभाव का सबंध नहीं, इस प्रकार प्रतिपादित करता है। स्थिति का अभाव समस्त अर्थों में बौद्ध मत के अनुसार प्रसिद्ध है। जैनमत में भी पर्यायों में स्थिति का अभाव है। इस अभाव का संबंध द्रव्य की अपेक्षा से अर्थ में नहीं है। यदि द्रव्य की अपेक्षा से अर्थ की स्थिति न हो, तो प्रथम क्षण में जो अर्थ है वह द्वितीय क्षण में सर्वथा नहीं है। अतः कार्य की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। अभाव से कार्य

की उत्पत्ति नहीं होती। कुंडल आदि पर्यायों में सुवर्ण की अनुगतरूप से प्रतीति होती है, वह भी नहीं होनी चाहिये। कटक और कुंडल आदिके रूप में सुवर्ण का विकार होता है। जब कटक है तब कुंडल नहीं और जब कुंडल है तब कटक नहीं, परन्तु दोनों पर्यायों के काल में सुवर्ण विद्यमान है। यदि द्रव्यरूप से स्थिति न हो तो कटक आदिके काल में सुवर्ण का ज्ञान नहीं होना चाहिये। इस रीति से समस्त कालों में अर्थ के साथ उत्पत्ति और विनाश के संबंध को द्रव्यार्थ की अपेक्षा से जैन निषिद्ध करता है।

[परार्थ अनुमान का निरूपण]

मूलम्:—परार्थं पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमुपचारात्, तेन श्रोतुरनुमानेनार्थबोधनात्।

अर्थः— पक्ष और हेतु का वचन परार्थ अनुमान है। पक्ष और हेतु का प्रतिपादक वचन उपचार से अनुमान कहलाता है। उसके द्वारा श्रोता अनुमान से अर्थ को समझता है।

विवेचनाः—प्रमाण के सामान्य लक्षण के अनुसार प्रमाण ज्ञानरूप ही होता है। पक्ष और हेतु के वचन जडरूप हैं, इसलिये वे अनुमानप्रमाण नहीं हो सकते। यहां पर जो वचन को अनुमानप्रमाण कहा है, उसका कारण उपचार है। मुख्य अर्थ का बाध जब होता है तब उपचार का प्रयोग होता है। यहां पर दो रीति से उपचार हो सकता है। कारण में कार्य का और कार्य में कारण का उपचार किया जाता है। प्रथम पक्ष के अनुसार यहां पर प्रमाण शब्द का

जो मुख्य अर्थ है उसका बाध स्पष्ट है। वचन ज्ञानरूप नहीं है इसलिये वह मुख्यरूप से अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। वक्ता के वाक्य को सुनकर श्राता को ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये वचन श्रोता के ज्ञान का कारण है। श्रोता वचन सुनकर अनुमान करता है। अनुमान कार्य है और पक्ष आदि-का वचन कारण है। कारणभूत वचन में कार्यवाचक अनुमान शब्द का प्रयोग उपचार है। अन्य पुरुष को अनुमान कराने के लिये वचन अत्यंत समर्थ है। अतः यहां वचन में अनुमान का उपचार है।

अथवा कार्य में कारण के उपचार से वचन में अनुमान का व्यवहार है। वक्ता हेतु से साध्य को स्वयं जानता है। इसलिये उसका ज्ञान स्वार्थानुमान है। इसके अनन्तर 'वह मुझे जिस प्रकार हेतु से ज्ञान हुआ है इस प्रकार श्रोता को भी उत्पन्न हो' इस बुद्धि से वचन का प्रयोग करता है। इस प्रकार वक्ता का स्वार्थानुमानरूप ज्ञान वचन में कारण है। कार्यरूप वचन में कारण वाचक अनुमानशब्द का प्रयोग है।

वक्ता जब अनुमान का प्रयोग करता है तब मैं कहता हूं इसलिये उसके ऊपर विश्वास करके श्रोता इस अर्थ को जाने इस अभिप्राय से पक्ष और हेतु को नहीं बोलता। वक्ता की इच्छा है अनुमान द्वारा श्रोता को ज्ञान हो। केवल विश्वास से ज्ञान उत्पन्न करने के लिये वक्ता की इच्छा नहीं है। श्रोता के ज्ञान की उत्पत्ति में व्याप्ति सहित हेतु का प्रतिपादक वचन कारण है। इस प्रकार परके लिये वचन है, अतः परार्थ कहा जाता है।

पक्षस्य विवादादेव गम्यमानत्वादप्रयोग इति सौगतः,

अर्थः—विवाद से ही पक्ष का ज्ञान हो जाता है, अतः पक्ष का प्रयोग व्यर्थ है। इस प्रकार बौद्ध कहता है।

विवेचनाः—एक वादी कहता है बुद्धि नित्य है' और दूसरा वादी कहता है 'बुद्धि अनित्य है' इस विवाद से पक्ष की प्रतीति होती है, अतः पक्ष का वचन व्यर्थ है। साध्य अर्थ की सिद्धि के लिये अनुमान का प्रयोग होता है। हेतु के बिना साध्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती। यदि केवल पक्ष के वचन से साध्य की सिद्धि हो तो हेतु का वचन व्यर्थ होगा। हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है—अतः उसके साथ पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

मूलम्:-तन्न; यत्किञ्चिद्वचनव्यवहितात् ततो व्युत्पन्नमतेः पक्षप्रतीतावप्यन्यान् प्रत्यवश्य-निर्देश्यत्वात्।

अर्थः—यह कथन युक्त नहीं। किसी भी वचन द्वारा व्यवधान युक्त विवाद से व्युत्पन्न बुद्धिवाले मनुष्य को यदि पक्ष की प्रतीति हो जाय तो भी अन्य लोगों के लिये पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

विवेचनाः—पहले मध्यस्थ विप्रतिपत्ति को कहता है। बुद्धि क्षणिक है अथवा अक्षणिक है यह विप्रतिपत्ति का आकार है इसके अनन्तर मध्यस्थ कहता है पहले आपको बोलना चाहिये और इसके अनन्तर इनको बोलना चाहिए। इस रीति से जब वादी और प्रतिवादी के बोलने की बारी निश्चित हो जाती है तब वादी अपने पक्ष की

स्थापना करता है । यहां पर जो वाक्य वादी को नियत करता है उसके द्वारा विप्रतिपत्तिरूप विवाद में व्यवधान हो जाता है । व्यवधान होने पर भी व्युत्पन्न बुद्धिवाला प्रतिवादी वादी का यह पक्ष है इस प्रकार जान सकता है। परन्तु जिन की बुद्धि अतिकुशल नहीं है वे विवाद से पक्ष को नहीं जान सकते । इस प्रकार के प्रतिवादियों के लिये पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिये ।

मूलम्;—प्रकृतानुमानवाक्यावयवान्तरैक-वाक्यतापन्नात्ततोऽवगम्यमानस्य पक्षस्याप्रयोगस्य चेष्टत्वात् ।

अर्थः—प्रकृत अनुमान वाक्य के अन्य अवयवों के साथ जो एक वाक्यता को प्राप्त हो गया है इस प्रकार के विवाद से यदि पक्ष की प्रतीति हो तो पक्ष के प्रयोग का न करना इष्ट है ।

विवेचनाः—जब विप्रतिपत्ति के अनन्तर काल में ही वादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिये परार्थानुमान का प्रयोग करता है तब वादी उदाहरण आदिके जिन प्रयोगों को करता है उन प्रयोगों के वाक्यों के साथ विप्रतिपत्तिरूप वाक्य मिलकर एक वाक्य बन जाता है । इस दशा में कुशल प्रतिवादी विप्रतिपत्ति के बोधक वाक्यरूप विवाद के द्वारा पक्ष को जान सकता है । इस प्रकार के प्रतिवादी के लिये पक्ष के अप्रयोग को जैन भी स्वीकार करता है । किसी काल में पक्ष का प्रयोग और किसी काल में पक्ष का अप्रयोग उचित है । इस विषय में भी अनेकान्त युक्त है ।

मूलम्:-अवश्यं चाभ्युपगन्तव्यं हेतोः प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहारवचनवत् साध्यस्यापि तदर्थं पक्षवचनं तथागतेनापि, अन्यथा समर्थनोपन्यासादेव गम्यमानस्य हेतोरप्युपन्यासप्रसङ्गात्। मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थस्य चोभयत्राविशेषादिति।

अर्थः-जिस प्रकार हेतु प्रतिनियत धर्मी का धर्म है इस वस्तु को प्रकट करने के लिये बौद्ध उपसंहार वाक्य को स्वीकार करता है इस प्रकार साध्य भी नियत धर्मी का धर्म है इस वस्तु को प्रकट करने के लिये बौद्ध को भी पक्ष का प्रयोग स्वीकार करना चाहिये। यदि इस प्रकार न माना जाय तो समर्थन के द्वारा ही हेतु की प्रतीति हो सकती है-अतः हेतु का प्रयोग भी अनावश्यक हो जायगा। यदि कहो-मंद बुद्धियों को समझाने के लिये हेतु का प्रयोग आवश्यक है तो पक्ष का प्रयोग भी इसी कारण आवश्यक है।

विवेचनाः - बौद्ध समस्त भावों को क्षणिक सिद्ध करने के लिये अनुमान वाक्य का प्रयोग इस रीति से करता है- जो सत् है वह क्षणिक है, जिस प्रकार मेघ, और ये भाव-पदार्थ सत् हैं। इस प्रयोग में भाव सत् है यह वाक्य उपसंहार है। सत्य हेतु भावरूप नियत धर्मी का धर्म है इस

वस्तु के प्रतिपादन के लिये उपसंहार वाक्य है। उपसंहार के बिना जिस प्रकार हेतु नियत धर्मो का धर्म नहीं सिद्ध हो सकता इस प्रकार पक्ष वचन के बिना साध्य नियत धर्मो के धर्मरूप में नहीं सिद्ध हो सकता। विप्रतिपत्तिरूप विवाद-वाक्य से पक्ष की प्रतीति होती है, इस कारण पक्ष का प्रयोग यदि न किया जाय तो समर्थन के प्रयोग से हेतु की प्रतीति होती है इसलिये हेतु का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। समर्थन का अर्थ है—हेतु का प्रयोग करके असिद्धता आदि दोषों का परिहार। जब तक असिद्धत्व, विरुद्धत्व और अनैकान्तिकत्व का निराकरण न हो जाय तब तक हेतु साध्य को नहीं सिद्ध कर सकता। असिद्धता आदि दोषों को बिना दूर करे यदि हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाय तो हेत्वाभासों से भी साध्य की सिद्धि होनी चाहिये। जिस प्रकार हेतु के प्रयोग के बिना हेतु का समर्थन नहीं हो सकता इस प्रकार पक्ष के प्रयोग के बिना हेतु और साध्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विप्रतिपत्ति आदि वाक्यों के द्वारा पक्ष की प्रतीति हो जाती है, अतः पक्ष प्रयोग के बिना यदि हेतु आदिका प्रयोग हो सकता हो, तो असिद्धता आदिके परिहार से हेतु और साध्य की प्रतीति हो जाती है। इसलिये हेतु आदिका समर्थन भी हेतु के प्रयोग के बिना करना चाहिये। जो लोग अति कुशल नहीं हैं उनके लिये हेतु का और साध्य का प्रयोग यदि आवश्यक हो तो इसी कारण प्रतिज्ञा का प्रयोग भी करना चाहिये। साध्य की सिद्धि के लिये हेतु के प्रयोग के समान पक्ष का प्रयोग भी उचित है।

मूलम्:—किञ्च, प्रतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत, दृश्यते च प्रयुज्य-

मानेयं शाक्यशास्त्रेऽपि । परानुग्रहार्थं शास्त्रे तत्प्रयोगश्च वादेऽपि तुल्यः, विजिगीषूणामपि मन्दमतीनामर्थप्रत्तिरतस्तत एवोपपत्तेरिति ।

अर्थः— इसके अतिरिक्त अन्य भी कारण है । यदि प्रतिज्ञा प्रयोग के लिये योग्य न हो तो शास्त्र आदिमें भी उसका प्रयोग नहीं होना चाहिये । परन्तु बौद्ध शास्त्र में भी इसका प्रयोग देखा जाता है । अन्य पर कृपा करने के लिये शास्त्र में प्रतिज्ञा का प्रयोग यदि उचित हो तो वाद में भी यह वस्तु समान है । मन्द बुद्धिवाले विजयाभिलाषी लोगों को भी पक्ष के प्रयोग से ही अर्थ का ज्ञान हो सकता है ।

विवेचनाः— यदि पक्ष के प्रयोग में दोष हो तो बौद्धों को भी स्वयं पक्ष का प्रयोग नहीं करना चाहिये । परन्तु बौद्ध शास्त्रों में प्रतिज्ञा का प्रयोग देखा जाता है । यहां अग्नि है, कारण, धूम है । यह वृक्ष है कारण शिंशपा है;— इत्यादि वचन बौद्धों के शास्त्रों में दिखाई देते हैं । प्रतिवादियों के साथ जब विवाद होता है तब भी प्रतिवादियों के हेतुओं को यह हेतु असिद्ध है और यह हेतु विरुद्ध है इत्यादि रूप से बौद्ध कहता है । यह प्रयोग स्पष्ट ही पक्षरूप में है । लोगों को शास्त्र का ज्ञान देने के लिये शास्त्र की रचना करते हैं । सामान्यजनों के ज्ञान में प्रतिज्ञा का प्रयोग उपयोगी है इसप्रकार यदि कहा जाय तो वाद में भी इस कारण से प्रतिज्ञा का प्रयोग उचित हो जाता है । जिस-

प्रकार शास्त्रकारों की प्रवृत्ति ज्ञान देने के लिये होती है इस प्रकार वाद में भी प्रतिवादी को तत्त्व का ज्ञान कराने के लिये प्रवृत्ति हो सकती है। केवल विजय के अभिलाषी लोग वाद में प्रवृत्ति नहीं करते। जो लोग तत्त्व के निर्णय की इच्छा करते हैं, वे भी वाद करते हैं। उनके लिये प्रतिज्ञा का प्रयोग युक्त है। उपसंहार आदिके द्वारा पक्ष को जो नहीं जान सकते इस प्रकार के तत्त्वजिज्ञासु भी होते हैं। वाद में प्रतिवादी यदि विजय का अभिलाषी हो तो भी उसके लिये प्रतिज्ञा का प्रयोग अयुक्त नहीं हैं। विजय का अभिलाषी प्रतिवादी भी प्रतिज्ञा द्वारा पक्ष को बिना क्लेश के जानकर वादी के वचन से लाभ ले सकता है। शास्त्र में भी केवल तत्त्व जिज्ञासुओं के लिये तत्त्व का प्रतिपादन नहीं है। विजय के अभिलाषियों के लिये भी है। शास्त्र में भी अन्य वाक्यों के बल से पक्ष का ज्ञान हो सकता है। विजय के अभिलाषी और तत्त्व के जिज्ञासु दोनों प्रकार के लोग शास्त्र में प्रवृत्त होते हैं। इसलिये प्रायः शास्त्र में प्रतिज्ञा का प्रयोग है। इसी रीति से वाद में भी दोनों प्रकार के लोग प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये प्रतिज्ञा का प्रयोग यदि प्रायः हो तो वह उचित है। जब प्रतिवादी कुशल है। और अन्य वचनों के बल से पक्ष को जान सकता है तो पक्ष के प्रयोग के लिये कोई आग्रह नहीं है। वहां पक्षवचन के बिना भी वाद हो सकता है।

मूलम्–आगमात्परेणैव ज्ञातस्य वचनं परार्थानुमानम्, यथा बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्त्वात् घटवदिति साङ्ख्यानुमानम्। अत्र हि

बुद्धावुत्पत्तिमत्त्वं साङ्ख्याने (ख्येन) नेवाभ्यु-पगम्यते इति:,

अर्थः-प्रतिवादी के द्वारा आगम से स्वीकृत अर्थ का वचन परार्थानुमान है। उदाहरण-बुद्धि अचेतन है उत्पत्तिवाली होनेसे घट के समान। यह सांख्य का अनुमान है। यहां बुद्धि में उत्पत्तिमत्त्व को सांख्य नहीं स्वीकार करता। इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं।

विवेचना:-जो प्रत्यक्ष है और जिसकी अन्यथा अनुपपत्ति निश्चित है वह हेतु होता है। वादी और प्रतिवादी दोनों जिसको स्वीकार करते हैं वह हेतु हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं. वादी जिस अर्थ को स्वयं नहीं स्वीकार करता परन्तु प्रतिवादी अपने आगम के अनुसार जिसको स्वीकार करता है वह अर्थ हेतु रूप में हो सकता है। वे लोग कहते हैं प्रतिवादी के लिये वादी साधन का प्रयोग करता है। साधन सिद्ध होना चाहिये। जो साधन वादी के मत में सिद्ध नहीं है परन्तु प्रतिवादी के आगम से सिद्ध है वह प्रतिवादी के लिये सिद्ध हेतु है। उस हेतु के द्वारा प्रतिवादी के अनुसार साध्य की सिद्धि हो सकती है। वादी के लिये हेतु की सिद्धि आवश्यक नहीं है। वादी के अनुसार हेतु सिद्ध है अथवा असिद्ध इस विचार का कोई लाभ नहीं इसलिये प्रतिवादी के ही मत में माना हुआ हेतु भी साध्य की सिद्धि में समर्थ है। सांख्य का प्रकृत अनुमान इसी प्रकार का है। कारण में जो वस्तु विद्यमान नहीं उसकी उत्पत्ति को सांख्य नहीं स्वीकार करता। उसके अनुसार कारण में जो वस्तु अव्यक्तरूप से विद्यमान है उसकी अभिव्यक्ति होती है।

अभिव्यक्ति को ही सामान्य लोग उत्पत्ति कहते हैं। जैन के मत में कार्य की उत्पत्ति है वह पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश को मानता है। जैन आगम से उत्पत्ति सिद्ध है अतः सांख्य उत्पत्तिमत्त्व अर्थात् उत्पत्तिरूप हेतु से बुद्धि को अचेतन सिद्ध करता है। सांख्य के अनुसार शरीर आदिसे भिन्न आत्मा चैतन्यरूप है और नित्य है। बुद्धि आदि कार्य प्रकृति के विकार हैं। प्रकृति जड है, अतः बुद्धि आदि उसके विकार भी जड हैं। जैन मत के अनुसार आत्मा सर्वथा उत्पत्ति और विनाश से रहित नहीं है वह ज्ञानरूप है और द्रव्यरूप से नित्य है। वृक्ष आदिके विषय में जो ज्ञान होते है वे ज्ञान पर्यायरूप है। पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता है। जब वृक्ष का ज्ञानरूप पर्याय होता हैं तब पुस्तक का ज्ञान नहीं। और जब पुस्तक का ज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होता है तब वृक्ष का ज्ञानरूप पर्याय नहीं रहता। परन्तु दोनों पर्यायों में ज्ञानरूप द्रव्य विद्यमान है। पर्यायरूप ज्ञान से ज्ञानरूप द्रव्य-आत्मा-सर्वथा भिन्न नहीं है। पर्यायज्ञानों की अपेक्षा से उत्पत्तिवाला होने पर भी ज्ञानात्मक द्रव्य-आत्मा-नित्य है। यहीं सांख्य के साथ जैन का विरोध है। सांख्य पर्यायात्मक ज्ञान को चैतन्यरूप नहीं स्वीकार करता। उसको वह चैतन्य से रहित मानता है। सांख्य के अनुसार वृक्ष आदिका प्रकाशक ज्ञान बुद्धि का परिणाम है। बुद्धि वृक्ष पुस्तक आदि अर्थों को प्रकाशित करती है परन्तु अचेतन है। दीपक सूर्य आदिका प्रकाश वृक्ष पुस्तक, आदि अर्थों को प्रकाशित करता है परन्तु अचेतन है। दीपक आदिके समान बुद्धि प्रकाशक और अचेतन है। इस अचेतनता को सिद्ध करने के लिये

प्रतिवादी जैन के सामने सांख्य कहता है । बुद्धि उत्पत्तिवाली है । जिन पदार्थों में उत्पत्ति है वे पदार्थ अचेतन देखे जाते हैं । घट आदिको आप उत्पत्तिवाला और अचेतन स्वीकार करते हो इसलिये घट आदिके समान उत्पत्तिवाली होनेसे बुद्धि अचेतन है ।

मूलम्:–नदेतदपेशलम्; वादिप्रतिवादिनोरागमप्रामाण्यविप्रतिपत्तेः, अन्यथा तत एव साध्यसिद्धिप्रसङ्गात् । परीक्षापूर्वमागमाभ्युपगमेऽपि परीक्षाकाले तद्बाधात् ।

अर्थः–यह कथन युक्त नहीं । वादी और प्रतिवादी का आगम के प्रामाण्य के विषय में मतभेद है । यदि आगम के प्रामाण्य के विषय में मतभेद न हो तो आगम से ही साध्य की सिद्धि हो जानी चाहिये । परीक्षा से पूर्व काल में आगम का स्वीकार है परन्तु परीक्षा के काल में उसका बाध है ।

विवेचनाः–अनुमान के प्रयोग के अवसर में आगम को प्रमाणभूत स्वीकार करके साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। वादी और प्रतिवादी परस्पर के आगम को प्रमाणरूप में नहीं स्वीकार करते । अतः प्रतिवादी के आगम से सिद्ध अर्थ हेतुरूप में नहीं हो सकता । आगम के प्रामाण्य से यदि साध्य की सिद्धि हो तो हेतु का कथन व्यर्थ है । जैन जिस आगम को स्वीकार करता है उसके अनुसार बुद्धि उत्पन्न भी होती है और चेतन भी है । प्रतिवादी जैन जब आगम के

अनुसार बुद्धि को उत्पत्तिवाली मानता है,तब उसको अचेतन नहीं मानता। उसके अनुसार बुद्धि किसी अचेतन द्रव्य का परिणाम नहीं है। वादी और प्रतिवादी दोनों को प्रमाण द्वारा सिद्ध अर्थ ही स्वीकार करना चाहिये। इसलिये केवल प्रतिवादी के मतसे सिद्ध हेतु के द्वारा किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। परीक्षा करके ही अर्थ को मानना चाहिये। जो प्रतिवादी बुद्धि की उत्पत्ति को स्वीकार करता है परन्तु उसकी अचेतनता को नहीं स्वीकार करता उसके लिये यदि आप सांख्य के अनुमान को कहो तो भी युक्त नहीं है जब यह अनुमान प्रयुक्त होता है तब चेतन बुद्धि के प्रतिपादक आगम का निराकरण हो जाता है। उस अवस्था में यह आगम प्रमाणभूत नहीं हो सकता। सांख्य जब इस अंश में आगम को अयुक्त कहता है और प्रतिवादी जैन उसको सह लेता है तब उसके लिये भी जैन आगम प्रमाण भूत नहीं रहता। अतः प्रतिवादी जब परीक्षा की इच्छा से एक अंश में आगम को स्वीकार करता है और अन्य अंश में नहीं स्वीकार करता तब जिस अंश में स्वीकार करता है उस अंश में भी प्रामाण्य का स्वीकार नहीं रह सकता। अतः यह हेतु जिस प्रकार वादी के लिये असिद्ध है। इस प्रकार प्रतिवादी के लिये भी असिद्ध है। साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित है इस प्रकार का प्रत्यक्ष अर्थ ही साध्य की सिद्धि करा सकता है। जो अर्थ वास्तव में नहीं है वह केवल प्रतीति से साध्य को नहीं सिद्ध कर सकता।

मूलम्:-नन्वेवं भवद्भिरपि कथमापाद्यते परं प्रति 'यत् सर्वथैकं तत् नानेकत्र सम्बध्यते, तथा च सामान्यम्' इति?।

अर्थः—शंका करता है—यदि इस प्रकार है तो अन्य के प्रति आप आपत्ति देते हैं। जो सर्वथा एक है वह अनेक स्थानों के साथ संबंध नहीं कर सकता सामान्य इस प्रकार का है—इस आपत्ति को आप किस प्रकार करते हैं?

विवेचनाः—अन्यमत के अनुसार हेतु का प्रयोग यदि न हो सकता हो, तो जैनों को भी प्रतिवादी जिन धर्मों को मानते हैं उनका आश्रय लेकर अन्य धर्म की आपत्ति नहीं करनी चाहिये। परन्तु जैन कहते हैं—न्याय मत के अनुसार सामान्य नित्य एक और अनेक व्यक्तियों के साथ संबंध रखता है। गोत्व जाति भिन्न देशों में रहने वाली गो व्यक्तियों में रहती है। जिस प्रकार समीप की गायों में है इस प्रकार दूर की गायों में भी है। जैन मत के अनुसार गोत्वे गो व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न नहीं है। वह समान परिणामरूप है। एक गाय में जो परिणाम दिखाई देता है वह अन्य देश और अन्य काल की गायों म दिखाई देता है। यह समान परिणाम गो व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न नहीं है, किन्तु भिन्न अभिन्न है और एक होने पर भी अनेक है। न्याय मत का निषेध करने के लिये जन कहता है जो वस्तु सर्वथा एक है उसका एक काल में भिन्न भिन्न देशों की व्यक्तियों के साथ संबध नहीं हो सकता। घट एक है एक काल में उसका संयोग जिस देश के साथ है उसी काल में अनेक देशों के साथ नहीं हैं आप घट के समान गोत्व सामान्य को सर्वथा एक मानते हो। जब वह गोत्व एक गो में रहे तब अन्य गायों के साथ उसका

संबंध नहीं होना चाहिये । परन्तु एक काल में अनेक गायों के साथ संबंध को आप मानते हो, इसलिये गोत्व को भी अनेक मानना चाहिये । अनेक घटों का अनेक देशों के साथ एक काल में संबंध प्रत्यक्ष सिद्ध है । गोत्व यदि अनेक हो, तो उसका भी अनेक गायों के साथ संबंध हो सकता है ।

इस रीति से आप नैयायिक को आपत्ति देते हो । यहां वादी जैन है, उसके अनुसार सर्वथा एकता सिद्ध नहीं है । असिद्ध एकता अनेक व्यक्तियों के साथ संबंध के अभाव को सिद्ध करने के लिये हेतु रूप में न होनी चाहिये ।

मूलम्:–सत्यम्, एकधर्मोपगते (मे) धर्मान्तरसन्दर्शनमात्रं (त्र) तत्परत्वेनैतदापादनस्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्य मौलहेतोरेवतन्निश्चायकत्वात्, अनेकवृत्तित्वव्यापकानेकत्वनिवृत्-यैव तन्निवृत्तेः मौलहेतुपरिकरत्वेन प्रसङ्गोपन्यासस्यापि न्याय्यत्वात् ।

अर्थः–सत्य है । आपत्ति का यह प्रकाशन वस्तु का निश्चय नहीं करता । एक धर्म को स्वीकार करने से अन्य धर्म को अवश्य मानना पडेगा । केवल इतनी वस्तु को यह आपत्ति प्रकट करती है । प्रसंग का विपर्यय रूप मूल हेतु ही वस्तु को निश्चित करता है । अनेकवृत्तित्व के व्यापक अनेकत्व की निवृत्ति से ही अनेक

वृत्तित्व की निवृत्ति होती है। अतः मूल हेतु का परिकर होने से प्रसंग का उल्लेख भी युक्तियुक्त है।

विवेचनाः-अनेक व्यक्तियों में वृत्ति का निषेध करने के लिये सर्वथा एकत्व को जैन हेतुरूप में नहीं कहता। वह प्रसंग करता है। यहां पर व्यापक विरूद्धोपलब्धि प्रसग है। निषेध्य वस्तु का जो व्यापक धम है उसका विरोधी जो धर्म है उसकी उपलब्धि व्यापकविरुद्धोपलब्धि कहलाती है। यहाँ अनेक व्यक्तियों में एक सामान्य की वृत्ति का निषेध करना है, अतः अनेक व्यक्तियों में वृत्ति निषेध्य है उसका व्यापक धर्म अनेकत्व है। उद्यान की भूमि में अनेक वृक्ष होते हैं। एक वृक्ष जिसभूमि में है, उससे भिन्न भूमि देश में अन्य वृक्ष है। प्रथम वृक्ष जिस देश में है उस देश में दूसरा वृक्ष नहीं। तीसरा वृक्ष जिस देश में है, वह देश प्रथम और द्वितीय वृक्ष के देशों से भिन्न है। एक काल में अनेक वृक्ष भिन्न भिन्न अनेक देशों में रहते हैं। इस कारण जो अनेक व्यक्तियों में रहते हैं वे अनेक हैं, इस प्रकार की व्याप्ति सिद्ध होती है। अनेक व्यक्तियों में वृत्ति व्याप्य है और अनेकत्व उसका व्यापक है। इस अनेकत्व के साथ सर्वथा ऐक्य का विरोध है। जो सर्वथा एक है वह अपने आश्रय देश का त्याग करके अन्य देश में नहीं रह सकता। अपने देश में वृत्ति का ज्ञान जब होता है तब अन्य देश में अवृत्ति का ज्ञान होता है। इस रीति से स्वदेश वृत्ति और अन्यदेश में वृत्ति परस्पर विरोधी हैं। स्वदेश में वृत्ति का त्याग करके अन्यदेश में वृत्ति होती है इसलिये इन दोनों में परस्पर परिहार रूप विरोध है। आप सामान्य को सर्वथा एकरूप स्वीकार करते हैं। यह सर्वथा ऐक्य अनेकत्व का

विरोधी है और अनेकत्व अनेक व्यक्तियों में वृत्तिका व्यापक है। सामान्य में विरोधी ऐक्य की सत्ता है अतः अनेक व्यक्तियों में सामान्य की वृत्ति नहीं होनी चाहिये। इस रीति से यदि ऐक्यरूप धर्म स्वीकार किया जाय तो अनेक व्यक्तियों में वृत्तिरूप धर्म के अभावरूप अन्य धर्म को अवश्य स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार जैन प्रकाशित करता है। नैयायिक ऐक्य के होने पर भी अनेक व्यक्तियों में सामान्य की वृत्ति को स्वीकार करता है। अनेक व्यक्तियों में वृत्ति के अभाव को नहीं मानता। अतः प्रसंग विपर्यय नाम का मूल हेतु यहां पर उठकर खडा हो जाता है। यह मूल हेतु विरुद्ध व्यापकोपलब्धि रूप है। निषेध्य से जो विरुद्ध है उससे व्याप्त धर्म की उपलब्धि विरुद्ध व्याप्त उपलब्धि कही जाती है। एकत्व यहां निषेध्य है, उसके विरुद्ध अनेकत्व है उससे व्याप्त अनेक व्यक्तियों में वृत्तिरूप धर्म है। उसकी उपलब्धि यहां पर है। इसकी अपेक्षा से व्यापक विरुद्धोपलब्धिरूप प्रसंग का उल्लेख हुआ है-अतः विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि मूल हेतु है। जिसकी अनेक में वृत्ति है वह अनेक होता है। सामान्य की अनेक में वृत्ति है इस रूप से मूल हेतु का प्रयोग हो सकता है। जैन और नैयायिक सामान्य को अनेक व्यक्तियों में वृत्तिवाला स्वीकार करते हैं। इसलिये यह हेतु वादी और प्रतिवादी के मत में सिद्ध है। केवल प्रतिवादी के मत में सिद्ध नहीं है अतः वस्तु का निश्चय कर सकता है मूल हेतु को प्रकाशित करनेके लिये प्रसंग सहायक है, अतः प्रसंग का उल्लेख पहले किया है।

यहां पर आक्षेप को दूर करता हुआ सिद्धान्ती कहता है-सत्यम्, जो आप कहते हैं वह सत्य है यह अर्थ यहां पर

सत्य शब्द का लिया गया है । परन्तु जिस साध्य की सिद्धि के लिये आप यत्न करते हो वह साध्य सिद्ध हो गया है इस प्रकार का अभिप्राय यहां सत्य शब्द का नहीं है। जिस हेतु को आप कहते हैं वह हेतु सत्य है केवल इतना ही अभिप्राय है । साध्य की सिद्धि को सिद्धान्ती नहीं स्वीकार करता। जिस हेतु को आप कहते हैं वह हेतु विद्यमान होने पर भी साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं है-यह सत्य शब्द का यहां अभिप्राय है। जो वस्तु सर्वथा एक है उसका संबंध अनेक व्यक्तियों के साथ एक काल में नहीं हो सकता और सामान्य इसी प्रकार का एक अर्थ है। इस आपत्ति को नैयायिकों के पक्ष में हम देते हैं-यह सत्य है किन्तु उसके कारण वादी जिस अर्थ को स्वयं सिद्ध नहीं मानता किन्तु प्रतिवादी के आगम के अनुसार जो सिद्ध है उसका प्रयोग हेतुरूप में नहीं सिद्ध हो सकता-इतना यहां पर सत्य शब्द का अभिप्राय है। हेतु का स्वीकार और साध्य की सिद्धि का अस्वीकार इन दोनों को जब प्रकट करना हो तब आक्षेप को दूर करने के लिये समाधान के काल में सत्य शब्द का प्रयोग होता है।

मूलम्:-बुद्धिरचेतनेत्यादौ च प्रसङ्गविपर्यय-हेतोर्व्याप्तिसिद्धिनिबन्धनस्यविरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षबाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् प्रसङ्गस्या-प्यन्याय्यत्वमिति वदन्ति ।

अर्थः-बुद्धि अचेतन है, इत्यादि स्थल में प्रसंग का जो विपर्यय रूप हेतु है, उसकी व्याप्ति की सिद्धि में कारणरूप जो विरुद्ध धर्मों का संबंध है वह विपक्ष

का बाधक प्रमाण है। उसको उपस्थित नहीं किया गया; अतः प्रसंग भी युक्त नहीं है इस प्रकार कहता है।

विवेचनाः-यहां शंका होती है-इस रीति से यदि प्रसंग स्वीकार किया जाय तो सांख्य का अनुमान भी प्रसंगरूप हेतु बन जायगा और उसका भी पर्यवसान प्रसंग से विपर्यय में हो सकेगा। आप बुद्धि को उत्पत्ति वाली मानते हैं। उत्पत्ति का व्यापक अचैतन्य है अर्थात् चैतन्य का अभाव है। बुद्धि यदि उत्पत्ति वाली हो तो अचेतन भी होनी चाहिये। परन्तु आप बुद्धि को अचेतन नहीं मानते, इसलिये वह उत्पत्ति वाली भी नहीं होनी चाहिये।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है इस रीति से यदि सांख्य का अनुमान प्रसंगरूप हो, तो बुद्धि यदि उत्पत्ति वाली हो तो अचेतन हो' यह आपत्ति प्रकट होगी। इस आपत्ति के सहायकरूप में आपत्ति से पूर्व काल में जो उत्पत्ति वाला अर्थ है वह अचेतन है जिस प्रकार घट आदि, और बुद्धि उत्पत्ति वाली हैं इन दो अवयवों का प्रयोग आवश्यक होगा। इस प्रसंग का विपर्यय बुद्धि उत्पत्ति वाली नहीं है, चेतन होने से इस रूप में होगा। यहां चेतनत्व मूल हेतु है उसकी व्याप्ति उत्पत्तिमत्व के अभाव के साथ होनी चाहिये। जहां चेतनत्व है वहां उत्पत्तिमत्व का अर्थात् उत्पत्ति का अभाव है इस रूप की व्याप्ति होनी चाहिये। परन्तु सांख्य के मत में बुद्धि भी चेतन नहीं है। उसके अनुसार बुद्धि प्रकृति का विकार है और इस कारण अचेतन है। चेतनत्व और उत्पत्ति का अभाव इन दोनों की व्याप्ति तब सिद्ध हो सकती है जब चैतन्य और उत्पत्ति में विरोध सिद्ध हो, परन्तु इस विरोध

में कोई प्रमाण नहीं है। इस विरोध के अभाव में विरुद्ध धर्म का संबंधरूप विपक्ष का बाधक प्रमाण उपस्थित नहीं होना। विपक्ष बाधक प्रमाण के अभाव में चतन्यरूप मूल हेतु की उत्पत्ति के अभाव के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती। सांख्य के मत में जिस प्रकार चेतन में उत्पत्ति नहीं इस प्रकार अचेतन में भी नहीं है। व्याप्ति का अभाव होने से चेतनत्व रूप हेतु अप्रयोजक हो जायगा। बुद्धि चेतन हो और उत्पत्ति वाली भी हो इस प्रकार कोई भी प्रतिवादी कह सकता है। इसलिये 'बुद्धि अचेतन है, उत्पत्ति वाली होने से यह सांख्य का अनुमान प्रसंगरूप भी नहीं हो सकता। प्रतिवादी जैन जब न्याय के मत में प्रसंग का प्रयोग करता है तब प्रसंग का विपर्ययरूप जो मूल हेतु है उसकी साध्य के साथ व्याप्ति में विरुद्ध धर्म का संबंधरूप कारण विद्यमान है। एकान्तरूप से जो एक है वह किसी एक नियत पदार्थ में ही रह सकता है वह अन्य पदार्थ में नहीं रह सकता। नियत पदार्थ में वृत्ति और अवृत्ति परस्पर विरोधी हैं। परस्पर का त्याग करके य दोनों रहती है इसलिये इन दोनों में परस्पर परिहाररूप विरोध है। इस विरोध के कारण यहां जो हेतु है वह विरुद्ध से व्याप्त अर्थ का उपलब्धि रूप हो जाता है। एकत्व से विरुद्ध अनेकत्व है उससे व्याप्त अनक अर्थो में वृत्ति है इसलिये जैन कहता है-'जो अनेक में रहता है वह अनेक है और सामान्य अनेक में रहता है।

—: हेतुः प्रयोग के दो भेद :—

मूलम्:-हेतुः साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विधा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो वह्नि-

मान् , सत्येव वह्नौ धूमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेर्वा । अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ।

अर्थः—साध्य की उपपत्ति और अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा हेतु का प्रयोग दो प्रकार से करना चाहिये। जिस प्रकार पर्वत वह्निमान है, वह्नि के होने पर ही धूम के होने से और वह्नि के अभाव में धूम का अभाव होने से। इन दो प्रकार के प्रयोगों में से किसी भी एक प्रयोग के द्वारा यदि साध्य की सिद्धि हो, तो एक स्थान में अन्य का प्रयोग उपयोगी नहीं होता।

विवेचनाः—साध्य जब हो तभी हेतु की सत्ता साध्योपपत्ति है और जब साध्य न हो तब हेतु का अभाव अन्यथा अनुपपत्ति है। ये दोनों परस्पर के अव्यभिचारी हैं। जब एक हो तब दूसरा अवश्य होता है। इन दोनों के प्रयोग में वाक्य की रचना का भेद है परन्तु अर्थ का भेद नहीं है। साध्य की सिद्धि प्रयोग का फल है। यदि एक प्रयोग से साध्य की सिद्धि हो तो दूसरा प्रयोग निष्फल है। इन दोनों में से यदि एक दूसरे के बिना हो सकता हो, तो दूसरा प्रयोग अनिवार्य हो सकता है। इस प्रकार का उदाहरण नहीं है जिसमें अकेला सद्भाव हो और दूसरे का अभाव हो।

—:परार्थानुमान के मुख्य स्वरूप का प्रतिपादनः—

मूलम्:—पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव च

परप्रतिपत्त्यङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम्, पक्षहेतु-वचनादेव परप्रतिपत्तेः,

अर्थः-पक्ष और हेतु के वचनरूप दो अवयव ही श्रोता के ज्ञान के कारण हैं। दृष्टान्त आदि का वचन कारण नहीं है। पक्ष और हेतु के वचन से ही श्रोता को ज्ञान हो सकता है।

विवेचनाः-परार्थानुमान अन्य के लिये है, जितने से अन्य को ज्ञान हो सके उतने अवयवों का प्रयोग करना चाहिये। जो मनुष्य निपुण है वह पक्ष और हेतु के वचन से जान सकता है; अतः उसके लिये इन दो अवयवों का ही प्रयोग करना चाहिये। नैयायिक प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन इन पांच अवयवों का और बौद्ध, व्याप्ति सहित दृष्टान्त और हेतु इन दो अवयवों का प्रयोग परार्थानुमान में आवश्यक मानते हैं। उनका मत युक्त नहीं है। जैन मत के अनुसार पक्ष और हेतु के वचन से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है इसलिये इन दोनों का ही प्रयोग निपुण प्रतिपाद्य पुरुष के लिये करना चाहिये।

मूलम्:-प्रतिबन्धस्य तर्केन एव निर्णयात्, तत्स्मरणस्यापि पक्षहेतुदर्शनेनैव सिद्धेः, असमर्थितस्य दृष्टान्तादेः प्रतिपत्त्यनङ्गत्वात्तत्समर्थनेनैवान्यथासिद्धेश्च। समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषान्निराकृत्य स्वसाध्येनाविनाभावसाधनम्, तत एव च परप्रतीत्युपपत्तौ किमपरप्रयासेनेति?

अर्थः—व्याप्ति का निर्णय तर्क से ही होता है और व्याप्ति का स्मरण पक्ष और हेतु के प्रदर्शन से सिद्ध हो जाता है इसलिये इन प्रयोजनों के लिये भी दृष्टान्त आदि का प्रयोग आवश्यक नहीं है। समर्थन के अभाव में दृष्टान्त आदि प्रतिपाद्य के बोध के कारण नहीं होते। अतः उनके समर्थन से ही दृष्टान्त आदि अन्यथासिद्ध हो जाते हैं। असिद्धता आदि दोषों का निराकरण करके अपने साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति का साधन समर्थन कहा जाता है। उसके द्वारा ही अन्य को ज्ञान हो सकता है। इस दशा में अन्य प्रयास की आवश्यकता क्या है!

विवेचनाः—यदि आप कहो दृष्टान्त का वचन व्याप्ति के निर्णय के लिये है, तो वह युक्त नहीं। कोई एक व्यक्ति दृष्टान्तरूप में होता है। एक व्यक्ति व्याप्ति का निश्चय नहीं करा सकता। अन्य व्यक्तियों में व्याप्ति के निश्चय के लिये अन्य दृष्टान्त की आवश्यकता होगी। अन्य दृष्टान्त भी व्यक्ति रूप है, इसलिये अन्य दृष्टान्तों की आवश्यकता खडी होगी। इस रीति से अनवस्था होगी। व्याप्ति का निश्चय तर्क से होता है उसके लिये दृष्टान्त उपयोगी नहीं है।

पक्ष के वचन से साध्य का ज्ञान होता है और हेतु के वचन से हेतु का ज्ञान होता है। हेतु और साध्य की व्याप्ति का ज्ञान पूर्व काल में जिसको हुआ है वह पक्ष और हेतु के वचन को सुनकर अवश्य व्याप्ति का स्मरण करता है। व्याप्ति

संबंधरूप है । हेतु और साध्य दो संबंधी हैं उनके ज्ञान से संबंध की स्मृति अनिवार्य रूप से होती है। अतः व्याप्ति के स्मरण के लिये भी दृष्टान्त का वचन उपयोगी नहीं है । जो प्रतिपाद्य श्रोता पूर्व काल में व्याप्ति को नहीं जानता वह दृष्टान्त के वचन को सुनकर भी व्याप्ति का निश्चय नहीं कर सकता। इस दृष्टान्त में हेतु और साध्य की सत्ता है, परन्तु सर्वदेश और सर्वकाल में ये दोनों एक साथ रहते हैं-इस तत्त्व का निश्चय उसको नहीं हो सकता ।

दृष्टान्त आदि की अनुपयोगिता में अन्य भी हेतु है। हेतु का समर्थन जब तक नहीं, तब तक दृष्टान्त आदि के वचन से प्रतिपाद्य को ज्ञान नहीं हो सकता, अतः हेतु का समर्थन ही प्रतिपाद्य के बोध के लिये आवश्यक है । जब हेतु के असिद्धता, आदि दोषों का निराकरण होता है तभी व्याप्ति का निर्णय आदि होता है और उसके द्वारा साध्य की सिद्धि हो सकती है। इस अवस्था में दृष्टान्त आदि के वचन अन्यथा--सिद्ध हो जाते हैं ।

मूलम्:-मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते, तथाहि-यः खलु क्षयोपशमविशेषादेव निर्णीतपक्षो दृष्टान्तस्मार्यप्रतिबन्धकग्राहकप्रमाणस्मरणनिपुणोऽपरावयवाभ्यूहनसमर्थश्च भवति, तं प्रति हेतुरेव प्रयोज्यः । यस्य तु नाद्यापि पक्षनिर्णयः, तं प्रति पक्षोऽपि । यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति दृष्टान्तोऽपि । यस्तु दार्ष्टान्तिके

हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि । एवमपि साकाङ्क्षं प्रति च निगमनम् । पक्षादिस्वरूपविप्रतिपत्तिमन्तं प्रति च पक्षशुद्ध्यादिक्रमर्पाति सोऽयं दशावयवो हेतुः पर्यवस्यति ।

अर्थः—मन्दबुद्धि जिज्ञासुजनों को समझाने के लिये दृष्टान्त आदि का प्रयोग भी उपयोगी होता है । वह इस रीति से—जिसने क्षयोपशम के विशेष से पक्ष का निर्णय किया है और दृष्टान्त के द्वारा जिसका स्मरण होता है इस प्रकार की व्याप्ति के ग्राहक तर्क प्रमाण की स्मृति में जो निपुण है और अन्य अवयवों की रचना में समर्थ होता है, उसके लिये केवल हेतु का प्रयोग करना चाहिये । परन्तु जिसको अब भी पक्ष का निर्णय नहीं हुआ—उसके लिये पक्ष का प्रयोग भी करना चाहिये और जो व्याप्ति के ग्राहक प्रमाण का स्मरण नहीं करता—उसके लिये दृष्टान्त का प्रयोग भी करना चाहिये । जो दार्ष्टान्तिक अर्थात् पक्ष में हेतु के जोडने को नहीं जानता—उसके लिये उपनय का भी प्रयोग उचित है । इतना हो जाने पर भी जिसकी इच्छा विशेषरूप से जानने की होती है, उसके लिये निगमन का भी प्रयोग करना चाहिये । पक्ष आदि के स्वरूप में जिसको विप्रतिपत्ति हो उसके लिये पक्ष

शुद्धि आदि का प्रयोग भी होना चाहिये। इस रीति से दश अवयवों वाला हेतु हो जाता है।

विवेचनाः—साध्य अर्थ का सन्देह और भ्रम से रहित ज्ञान जिस रीति से प्रतिपाद्य को हो उस रीति से प्रतिपादन होना चाहिये। समस्त लोग विचार की समान शक्ति वाले नहीं होते। अपने बुद्धिबल से जो पक्षका निर्णय कर सकता है और व्याप्ति के ग्राहक तर्क का स्मरण कर सकता है और उपनय आदि को जान सकता है उसके लिये यदि केवल हेतु का प्रयोग हो-तो भी हानि नहीं है। 'यहाँ धूम है' इतना वचन सुनकर वह पक्ष और साध्य आदि को जान सकता है। परन्तु जो पक्ष का निश्चय स्वयं नहीं कर सकता उसके लिये केवल हेतु का प्रयोग साध्य की सिद्धि में सर्वथा असमर्थ है, अतः पक्ष का भी प्रयोग करना चाहिये। जैसे यह देश अग्निमान है, कारण यहां धूम है।

जिसको व्याप्ति के प्रकाशक तर्क प्रमाण का स्मरण नहीं उसके लिये दृष्टांत का प्रयोग करना चाहिये। वह इस प्रकार अग्नि है, धूम होने से, जहाँ धूम है वहां अग्नि है, जिस तरह महानस में।

व्याप्ति के साधक तर्क प्रमाण को स्मरण करके भी जो पक्ष में हेतु को नहीं जोड सकता उसके लिये उपनय भी आवश्यक है। जिस प्रकार इस देश में धूम भी है।

उपनय तक प्रयोग होने पर भी जो साध्य की सिद्धि में असमर्थ है उसके लिये निगमन भी आवश्यक है जिस प्रकार यहां अग्नि है।

जब किसी प्रतिपाद्य को पक्ष आदि के स्वरूप में परस्पर विरोधी ज्ञान होते हैं तब पक्षशुद्धि आदि का प्रयोग भी करना चाहिये। पक्ष और हेतु आदि में जो दोष हैं उन दोषों का निराकरण पक्ष शुद्धि आदि कहा जाता है। परार्थानुमान का जो वाक्य है उसके पक्ष आदि पांच अवयव हैं। उन अवयवोंकी शुद्धि भी पांच प्रकार की है। इस रीति से अनुमान वाक्य के दश अवयव हो जाते हैं।

जब स्वार्थानुमान होता है तब पक्ष, साध्य और हेतु आदि के क्रम का अनुभव नहीं होता। व्याप्ति का ज्ञाता पुरुष हेतु को देखकर ही साध्य को सिद्ध कर लेता है। वह पक्ष की रचना करके अनन्तर हेतु को और उसके उत्तर काल में दृष्टांत आदि को नहीं जानता। तो भी जब प्रतिपाद्य पुरुष के लिये परार्थानुमान का प्रयोग करता है तब प्रतिपाद्य की दशा के अनुसार क्रम से अथवा क्रम के बिना पक्ष हेतु आदि का प्रयोग हो सकता है। स्वार्थानुमान के काल में पक्ष आदि का क्रम अनुभव में नहीं आता। यह भी एकान्त रूप से युक्त नहीं है। कोई ज्ञाता स्वार्थानुमान के काल में भी क्रम से साध्य को जान सकता है। जो प्रतिपाद्य पक्ष आदि के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता उसके लिये पक्ष आदि का भी प्रयोग आवश्यक है। समस्त प्रतिपाद्यों को केवल पक्ष से अथवा केवल हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं होती। अतः भिन्न भिन्न प्रतिपाद्यों के अनुसार हेतु के समान पक्ष आदि का भी प्रयोग करना चाहिये। बौद्ध लोग हेतु और दृष्टांत इन दो अवयवों का ही प्रयोग प्रायः करते हैं। उनके अनुसार अत्यंत उत्कृष्ट बुद्धिवाले केवल हेतु से साध्य की सिद्धि कर सकते हैं, तो भी उनकी अपेक्षा न्यून बुद्धिवालों के लिये

दृष्टांत का वचन उचित है। इसी रीति से भिन्न भिन्न प्रकार की बुद्धि वाले प्रतिपाद्य पुरुषों के लिये पक्ष आदि का प्रयोग परार्थानुमान में उचित है।

–: हेतु के भेद :–

मूलम्:– स चायं द्विविधः–विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च। तत्र विधिरूपो द्विविधः–विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्च। तत्राद्यः षोढा,–

अर्थः–यह हेतु दो प्रकार का है–विधिरूप और निषेधरूप। उनमें विधिरूप दो प्रकार का है विधिसाधक और निषेध साधक। उनमें पहला छः प्रकार का है।

विवेचनाः—साध्य की उपपत्ति और अन्यथा अनुपपत्ति से प्रयोग में जिस प्रकार हेतु के दो भेद हैं इस प्रकार हेतु के प्रकार में भी दो भेद हैं। उनमें जो हेतु विधिरूप है वह भावात्मक है और जो निषेधरूप है वह अभावात्मक है। जो विधिरूप हेतु है वह जिस प्रकार भावरूप साध्य को सिद्ध करता है इस प्रकार अभावरूप साध्य को भी सिद्ध करता है। कुछ लोग भावरूप हेतु को केवल भावरूप साध्य का साधक कहते है, और निषेधरुप हेतु को केवल अभावरूप साध्य का साधक कहते हैं। यह मत युक्त नहीं है। जैन मत के अनुसार भावरूप और अभावरूप दोनों प्रकार के हेतु भावात्मक और अभावात्मक साध्य को सिद्ध कर सकते हैं। व्याप्ति के कारण हेतु साध्य की सिद्धि करता है। भावात्मक हेतु व्याप्ति के कारण जिस प्रकार भावरूप साध्य की सिद्धि

में समर्थ है इस प्रकार व्याप्ति के कारण अभावरूप साध्य की सिद्धि में भी समर्थ है। इसी रीति से निषेधरूप हेतु व्याप्ति के बल से जिस प्रकार अभावरूप साध्य की सिद्धि में समर्थ है इस प्रकार भावरूप साध्य की सिद्धि में भी समर्थ है। प्रत्येक अर्थ जैन मत के अनुसार सत्-असत् रूप है। उसमें सत् अंश भाव है और असत्-अंश अभाव है। विधिरूप हेतु दो प्रकार का है विधि साधक और प्रतिषेध साधक। इन दोनों में जो विधि रूप हेतु विधि का साधक है वह छः प्रकार का है। ये छः प्रकार व्याप्य-कार्य-कारण-पूर्वचर-उत्तरचर-और सहचर भेद से होते हैं।

मूलम्:-तद्यथा-कश्चिद्व्याप्य एव, यथा शब्दोऽनित्यः प्रयत्ननान्तरीयकत्वादिति। यद्यपि व्याप्यो हेतु सर्व एव, तथापि कार्यादिनात्मव्याप्यस्यात्रग्रहणाद्भेदः, वृक्षः शिंशपाया इत्यादेरप्यत्रैवान्तर्भावः।

अर्थः-ये छः प्रकार इस रीति से, कोई हेतु व्याप्य ही होता है जिस प्रकार-शब्द अनित्य है, प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होने से। यद्यपि समस्त हेतु व्याप्य ही होते हैं। तो भी यहां जो हेतु कार्य आदि रूप नहीं है और व्याप्य है उसी का ही ग्रहण है अतः भेद है। यह वृक्ष है शिंशपा होने से-इत्यादि हेतु का भी इसी में अन्तर्भाव है।

विवेचनाः-शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है इसलिये अनित्य है—इस अनुमान में प्रयत्न से उत्पत्ति हेतु है वह भावरूप है । अनित्यत्व अर्थात् परिणाम साध्य है वह भी भावरूप है। जो अर्थ प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह अर्थ उत्पन्न होनेके अनन्तर कुछ काल में इस प्रकार के परिणाम को प्राप्त करता है जो उत्पत्ति के काल में विद्यमान परिणाम से सर्वथा भिन्न होता है। घट प्रयत्न से उत्पन्न होता है। कुछ काल तक घट का जो आकार है, वह देखने में आता है। घट रूप में होने पर भी उसमें कोई न कोई परिणाम होता रहता है। परन्तु जब दंड आदिके प्रहार से घट टूट जाता है, तब कपालों के रूप में परिणाम होता है । यह कपालरूप में परिणाम ही विनाश, कहा जाता है । जैन मत के अनुसार विनाश, भाव से सर्वथा भिन्न-अभावरूप नहीं है। कपालरूप परिणाम विनाश है और विनाश होने के कारण घट अनित्य कहा जाता है । न्याय के मत में जिस प्रकार विनाश अभावरूप है इस प्रकार जैन मत में विनाश अभाव रूप नहीं किन्तु परिणामरूप है। घट की स्थिति में प्रतिक्षण जो उत्पत्तिरूप परिणाम होते हैं वे जिस प्रकार भावरूप हैं इस प्रकार घट की स्थिति जब नहीं होती तब विनाशरूप परिणाम भी भावरूप होते हैं। कपाल आदि रूप में विनाश भावात्मक है। प्रत्येक अर्थ भावात्मक और अभावात्मक है । जो अभावात्मकरूप है वह भी सर्वथा भाव से भिन्न नहीं है। घटका विनाश सर्वथा घटात्मक नहीं है। यदि नाश भावात्मक ही हो, तो नष्ट होनेके अनन्तर भी घटरूप में घट की प्रतीति होनी चाहिये। अतः आकार की अपेक्षा से विनाश अभावरूप है। परन्तु अन्य आकार की अपेक्षा से वही विनाश भावरूप है। घट

का जब कपालरूप में परिणाम होता है तब वह परिणाम विनाशात्मक होने पर भी भावात्मक है। इस भावात्मकरूप के कारण प्रकृत अनुमान में अनित्यत्वरूप परिणाम भावात्मक साध्य है। इसलिये इस उदाहरण में प्रयत्न से उत्पत्तिरूप हेतु स्वयं भावात्मक है और भावात्मक अनित्यत्वरूप साध्य का साधक कहा जाता है। यदि अनित्यत्वरूप साध्य केवल अभावरूप हो तो यह हेतु भावात्मक साध्य का साधक नहीं हो सकता।

प्रयत्न से उत्पत्तिरूप हेतु अनित्यत्वरूप साध्य का कार्य अथवा कारण नहीं है जिस प्रकार धूम अग्नि का कार्य है। इस प्रकार प्रयत्न से उत्पत्ति अनित्यत्व का कार्य नहीं है और जिस प्रकार अग्नि धूम का कारण है इस प्रकार अनित्यत्व रूप परिणाम प्रयत्न से उत्पत्ति का कारण नहीं है। इसी प्रकार प्रयत्न से उत्पत्ति अनित्यत्वरूप साध्य का पूर्वचर उत्तरचर अथवा सहचररूप नहीं है। जहां जहां प्रयत्न से उत्पत्ति है वहां वहां अनित्यता है, अतः प्रयत्न से उत्पत्ति अनित्यता की व्याप्य है। साध्य और हेतु में जब व्याप्य-व्यापक भाव होता है, तभी व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान की उत्पत्ति होती है। इस कारण समस्त हेतु साध्य के व्याप्य हैं। कार्य कारण आदिरूप जितने भी हेतु हैं वे भी साध्य के व्याप्य है। तो भी यहां पर जो हेतु कार्य अथवा कारण आदि रूप नहीं है-उस व्याप्य का ग्रहण है। अतः इस व्याप्य हेतु में कार्य और कारण रूप हेतुओं का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। व्याप्य हेतु का ही दूसरा नाम स्वभाव है। शिंशपा है इसलिये वृक्ष है यह उदाहरण बौद्धों के अनुसार स्वभाव हेतु का प्रसिद्ध है। बौद्धों के अनुसार शिंशपा के साथ वृक्ष

का सर्वथा अभेद है। शिंशपा वृक्ष का कार्य नहीं इसलिये वह वृक्ष की अनुमिति कराती है। यह स्वभाव हेतु जैन मत के अनुसार व्याप्यरूप है। परिणामरूप साध्य के साथ प्रयत्न से उत्पत्ति का जिस प्रकार भेद और अभेद है इस प्रकार वृक्ष रूप साध्य के साथ शिंशपा का भेद और अभेद है। अतः शिंशपारूप स्वभाव हेतु भी व्याप्यरूप है। यद्यपि व्याप्य धर्म से साध्य धर्म अभिन्न है तो भी व्याप्य का जब निश्चय होता है तभी उससे अभिन्न साध्य का निश्चय नहीं होता। अर्थ अनेक स्वभाववाले हैं। अतः शब्द में जब प्रयत्न से उत्पत्ति-रूप धर्म का निश्चय होता है तभी उससे अभिन्न अनित्यत्व-रूप परिणाम का निश्चय नहीं होता। एक ही अर्थ में एक स्वभाव निश्चित और अन्य स्वभाव अनिश्चित होता है। हेतु-रूप धर्म निश्चित है परन्तु साध्यरूप धर्म निश्चित नहीं है, इसलिये भेद और अभेद होनेके कारण व्याप्य हेतु से साध्य धर्म का अनुमान होता है। प्रयत्न से उत्पत्तिरूप हेतु के समान शिंशपारूप हेतु साध्य का निश्चय करा सकता है।

मूलम्:—कश्चित्कार्यरूपः, यथा पर्वतोऽय-मग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः, धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतः तदभावेऽनुपपद्यमानो-ऽग्निं गमयति।

अर्थः—कोई हेतु कार्यरूप होता है। जिस प्रकार यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे। अग्नि-मान न हो तो धूमवान नहीं हो सकता। इस अनुमान में धूम कार्यरूप है, धूम अग्नि का कार्य है। अग्नि

के अभाव में नहीं हो सकता, अतः अग्नि को सिद्ध करता है।

मूलम्:–कश्चित्कारणरूपः, यथा वृष्टिर्भविष्यति, विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरित्यत्र मेघविशेषः, स हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति।

अर्थः–कोई हेतु कारणरूप होता है। जिस प्रकार विशिष्ट मेघ बिना वर्षा किये नहीं रह सकता, अतः वृष्टि होगी। इस अनुमान में मेघ विशेष हेतु है। वह वर्षा का कारण है और अपनी कार्य वर्षा की अनुमिति को कराता हैं।

मूलम्:–ननु कार्याभावेऽपि सम्भवत् कारणं न कार्यानुमापकम्, अत एव न वह्निर्धूमं गमयतीति चेत्; सत्यम्: यस्मिन्सामर्थ्यप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते, तस्यैव कारणस्य कार्यानुमापकत्वात्।

अर्थः–शंका करता है, कार्य के अभाव में भी कारण रह सकता है, अतः वह कार्य की अनुमिति नहीं करा सकता। इसी लिये वह्नि धूम की सिद्धि नहीं करती। उत्तर में कहता है, सत्य है; जिस कारण में सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं है और अन्य कारणों की संपूर्णता भी है

यह निश्चय किया जा सके वही कारण कार्य की अनुमिति कराता है।

विवेचना:—कार्य किसी देश और किसी काल में कारण के बिना नहीं हो सकता। परन्तु कारण सदा कार्य को उत्पन्न नहीं करता। वह कार्य के बिना भी देखा जाता है। 'क-ख' आदि वर्ण कंठ-तालु आदिके साथ शरीर के अन्तर्वर्ती वायु का संयोग जब तक न हो तब तक नहीं उत्पन्न होते। परन्तु कंठ-तालु आदि वर्णों की उत्पत्ति के बिना भी रहते हैं। इसलिये कंठ आदिके द्वारा यदि ककार आदि वर्णों की अनुमिति की जाय तो वह युक्त नहीं है। वर्णों की उत्पत्ति के बिना भी कंठ आदि रहते हैं। कार्य के बिना भी कारण रह सकता है अतः कारण से कार्य का अनुमान युक्त नहीं है। कार्य के अनुमान में कारणरूप हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है। इसीलिये धूम के अनुमान में वह्नि रूप हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास का प्रसिद्ध उदाहरण है।

इस शंका के उत्तर में सिद्धान्ती कहता है, केवल कारण से कार्य का अनुमान नहीं हो सकता; परन्तु कारण विशेष से कार्य का अनुमान हो सकता है।

देश, काल और अवस्था के भेद से कारण उत्तरकाल में कार्य को अवश्य उत्पन्न करता है। इस प्रकार के कारण का कार्य के साथ नियत संबंध होता है। मेघ वर्षा का कारण है। वर्षा बिना भी मेघ दिखाई देते हैं। परन्तु जब बिजली बार बार चमकती है और गर्जना भी बार बार होती है और मेघ जब अत्यन्त नीचे दिखाई देते हैं तब कुछ काल के अनन्तर अवश्य वर्षा होती है। इस प्रकार के मेघों

का वर्षा के साथ नियत संबंध है। कारण के विशेष स्वरूप को जानने के लिये योग्य पुरुष चाहिये। कारण के विशेष स्वरूप को न जानकर जब कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है तब अनुमान के कर्ता का अपराध है। कारणरूप हेतु में दोष नहीं होता। जब कार्य की उत्पत्ति में जितने प्रतिबंधक कारण हैं उन सब का अभाव हो और अन्य सहकारी कारण सम्पूर्णरूप से उपस्थित हों, तब कारण कार्य के अनुमान में निर्दोष हेतु हो सकता है। कारण विशेष के ज्ञान में समर्थ ज्ञाता यदि हो, तो कार्य के अनुमान में भ्रम नहीं होता।

मूलम्:–कश्चित् पूर्वचरः, यथा उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयानन्तर मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति।

अर्थः–अब कृत्तिका नक्षत्र का उदय है इसलिये शकट नक्षत्र का उदय होगा, इस अनुमान में कृत्तिका का उदय हो चुकने पर मुहूर्त के अन्त में अवश्य शकट नक्षत्र का उदय होता है, इस कारण कृत्तिका का उदयरूप पूर्वचर हेतु शकट के उदय की सिद्धि करता है।

मूलम्–कश्चित् उत्तरचरः, यथोदगाद्भरणिः प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः, कृत्ति-

कोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयतीति-कालव्यवधानेनानयोः कार्यकारणाभ्यां भेदः ।

अर्थः—कोई हेतु उत्तरचर होता है, जिस प्रकार—अब कृत्तिका का उदय है इसलिये भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका है। इस अनुमान में कृत्तिका का उदय उत्तरचर हेतु है। भरणी नक्षत्र के उदय हो चुकने पर कृत्तिका का उदय होता है इसलिये वह भरणी नक्षत्र के उदय को व्याप्त करता है। काल के व्यवधान के कारण पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का कार्य और कारण से भेद है।

विवेचनाः—कृत्तिका का उदय पूर्व काल में होता है और शकट का उदय उत्तरकाल में होता है, इसलिये शकट के उदय में कृत्तिका का उदय कारण है कारण होनेसे कृत्तिका के उदय के द्वारा शकट के भावी उदय का अनुमान कारण से कार्य का अनुमान है। अतः कारण से पूर्वचर का भेद नहीं है इस प्रकार की शंका उठती है।

परन्तु इन दोनों में भेद है। जो वस्तु पूर्वकाल में होती है वह अवश्य उत्तरकाल में होनेवाली वस्तु का कारण नहीं होती। पूर्वकाल में वर्तमान जो अर्थ कार्य की उत्पत्ति में हेतु हैं, जिनके कारण कार्य अपने स्वरूप को प्राप्त करता है वे ही अर्थ कारण होते हैं। शकट के उदय का जो स्वरूप है वह कृत्तिका के उदय से नहीं उत्पन्न होता। जब कृत्तिका का उदय होता है तब अव्यवहित उत्तर काल में ही शकट का

उदय नहीं होता। कृत्तिका के उदय की अपेक्षा से अन्य काल में ही शकट का उदय दिखाई देता है। पूर्व काल में जो भी वस्तु है वह उत्तरकाल में वर्तमान वस्तु का कारण हो तो पितामह आदि भी पुत्र के पिता हो जाने चाहियें। पूर्व काल में जिस प्रकार पिता है इस प्रकार पितामह आदि भी हैं। इस समानता के होने पर भी जिसके कारण पुत्र अपने स्वरूप को प्राप्त करता है वही पिता कहा जाता है। पितामह आदि पुत्र की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं। अतः वे पिता नहीं है इसी रीति से कृत्तिका का उदय शकट के उदय का जो स्वरूप है उसमें हेतु नहीं है अतः वह शकट का कारण नहीं है इस रीति से पूर्वचर कारण से भिन्न है।

इसी प्रकार उत्तरचर हेतु से भिन्न है जिस प्रकार पूर्व काल में वर्तमान समस्त अर्थ कार्य विशेष के कारण नहीं होते, इस प्रकार उत्तर काल में वर्तमान समस्त अर्थ कार्य नहीं होते। अन्तरिक्ष में नक्षत्र क्रम से पूर्वकाल और उत्तर-काल में प्रकट होते हैं। वे नक्षत्र परस्पर कारण अथवा कार्य नहीं हैं उनमें एक अन्य की प्रतीति का साधन है। व्याप्ति के कारण उनमें साध्य साधन भाव है। कार्य कारण भाव के बिना भी व्याप्ति होती है, अतः पूर्वचर हेतु कारण हेतु से और उत्तरचर हेतु कार्य हेतु से भिन्न है।

मूलम्:-कश्चित्सहचरः, यथा मातुलिङ्गं रूपवद्रसवत्तान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः, रसो हि नियमेन रूपसहचरितः, तदभावेऽनुपपद्यमानस्तदुगमयति।

अर्थः—कोई हेतु सहचर होता है। जिस प्रकार बिजौरा रूपवान् होना चाहिये अन्यथा वह रसवाला नहीं हो सकता। इस अनुमान में रस सहचर हेतु है। रस अवश्य रूप के साथ रहता है। रूप के अभाव में वह नहीं हो सकता। अतः वह रूप का अनुमान करता है।

विवेचनाः--अन्धकार में जब कोई बिजौरा को खाता है तब प्रकाश न होनेसे वह रूप को नहीं देख सकता, रस का अनुभव करता है। इस कारण रूप का अनुमान करता है। रस विधिरूप हेतु है और रूप का सहचारी है। जितने अर्थ पुद्गल से उत्पन्न हुए हैं, वे समस्त रूप-रस-गंध-और स्पर्श-वाले हैं। जैन मत के अनुसार रस रूप के बिना नहीं हो सकता. अतः रूप के अनुमान में रस सहचर हेतु है।

मूलम्—परस्परस्वरूपपरित्यागोपलम्भ-पौर्वापर्याभावाभ्यां स्वभावकार्यकारणेभ्योऽस्य भेदः।

अर्थः—परस्पर के स्वरूप का त्याग प्रतीत होता है और पौर्वापर्य का अभाव है, इसलिये स्वभाव कार्य और कारण हेतुओं से इस सहचर हेतु का भेद है।

विवेचनाः-रूप का जो स्वरूप है वह रस का नहीं है और रस का जो स्वरूप है वह रूप का नहीं। रूप और रस में परस्पर सर्वथा भेद है, अतः रसरूप हेतु स्वभाव हेतु नहीं है। स्वभाव हेतु जिस साध्य का अनुमान करता है उसके साथ उसका भेद और अभेद होता है। शिंशपा का

वृक्ष के साथ भेद और अभेद है। शिंशपा वृक्ष से सर्वथा भिन्न नहीं है। शिंशपा वृक्षात्मक है परन्तु रस रूपात्मक नहीं है। रूप से वह सर्वथा भिन्न है, अतः रस हेतु स्वभावरूप हेतु नहीं है।

कार्य और कारण में पूर्वापर भाव होता है। अग्नि पूर्वभावी है और धूम उत्तरकाल में उत्पन्न होता है। इसलिये उन दोनों में कार्य-कारणभाव है। परन्तु रस और रूप में पूर्वापरभाव नहीं है। दोनों का काल समान है। इससे जब रूप का अनुमान होता है तब रूप का वही काल होता है जो रस का होता है, अतः रस हेतु सहचर है। वह कार्य अथवा कारण नहीं है।

मूलम्:-एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्ति धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधकविधिरूपाः।

अर्थः-इन उदाहरणों में धूम आदि हेतु स्वयं भावरूप है और जिन अग्नि आदिको सिद्ध करते हैं वे भी भावरूप हैं। इसलिये ये हेतु विधिसाधक और विधिरूप है।

मूलम्:-त एवाविरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते।

अर्थः-वही हेतु अविरुद्धोपलब्धि कहे जाते हैं।

विवेचनाः-साध्य के साथ-व्याप्य-कार्य कारण-पूर्वचर-उत्तरचर और सहचर हेतुओं का विरोध नहीं है, अतः ये हेतु अविरुद्ध हैं। अविरुद्धों की उपलब्धि अर्थात् प्रतीति

होती है और उसके द्वारा साध्य की अनुमिति होती है, अतः अविरुद्धोपलब्धि नाम से भी ये हेतु कहे जाते हैं।

मूलम्–द्वितीयस्तु निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा। स च स्वभावविरुद्धतद्व्याप्याद्युपलब्धिभेदात् सप्तधा।

अर्थः–द्वितीय विधिरूप हेतु निषेध का साधक है और उसका नाम विरुद्धोपलब्धि है और वह स्वभाव विरुद्ध उपलब्धि व्याप्य विरुद्ध उपलब्धि आदि भेद से सात प्रकार का है।

विवेचनाः–विधि साधक हेतु का द्वितीय भेद निषेध का साधक है। वह साध्य के साथ जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धिरूप है, अतः विरुद्धोपलब्धि कहा जाता है। उसके सात भेद इस प्रकार हैं:—१ निषेध्यस्वभाव विरुद्धोपलब्धि-२ निषेध्य व्याप्य विरुद्धोपलब्धि—३ निषेध्यविरुद्धकार्योपलब्धि ४ निषेध्यविरुद्धकारणोपलब्धि ५ निषेध्यविरुद्धपूर्वचर-उपलब्धि-६ निषेध्य विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि ७ निषेध्यविरुद्ध-सहचरोपलब्धि—

मूलमूः–यथा नास्त्येव एकान्तः, अनेकान्तस्योपलम्भात्। नास्त्यस्य तत्त्वनिश्चयः, तत्र सन्देहात्। नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः, वदनविकारादेः। नास्त्यस्यासत्यं वचः, रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वात्। नोदगमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युदगमात्। नोदगान्मुहूर्तात्पूर्वं

मृगशिरः, पूर्वफा(फ)ल्गुन्युदयात् । नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनादिति ।

अर्थः—सर्वथा एकान्त का अभाव है, अनेकान्त की प्रतीति के होनेसे; इस मनुष्य को तत्त्व का निश्चय नहीं है, तत्त्व में संदेह होनेसे, इस मनुष्य को क्रोध की शान्ति नहीं है, मुख के विकार होनेसे; इस मनुष्य का असत्य वचन नहीं है, राग आदिके कलंक से रहित ज्ञान के साथ संबंध होनेसे, मुहूर्त के अनन्तर पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा, रोहिणी का उदय होने से; मुहूर्त पहले मृगशिर नक्षत्र का उदय नहीं, पूर्व फल्गुनी नक्षत्र के उदय होनेसे; इस मनुष्य को मिथ्याज्ञान नहीं है, सम्यग् दर्शन होनेसे—ये उदाहरण हैं।

मूलम्:—अत्रानेकान्तः प्रतिषेध्यस्यैकान्तस्य स्वभावतो विरुद्धः । तत्त्वसंवेदश्च प्रतिषेध्यतत्त्वनिश्चयविरुद्धतदनिश्चयव्याप्यः । वदनविकारादिश्च क्रोधोपशमविरुद्धतदनुपशमकार्यम् । रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वं चासत्यविरुद्धसत्यकारणम् । रोहिण्युद्गमश्च पुष्यतारोद्गमविरुद्धमृगशीर्षोदयपूर्वचरः । पूर्वफल्गुन्युदयश्च

मृगशीर्षोदयविरुद्धमघोदयोत्तरचरः। सम्यग्दर्शनं च मिथ्याज्ञानविरुद्धसम्यग्ज्ञानसहचरमिति।

अर्थः—यहां अनेकान्त, निषेध्य एकान्त का जो स्वभाव है उसके विरुद्ध है। तत्त्व का निश्चय निषेध्य है उसका विरोधी तत्त्व का अनिश्चय है उसका व्याप्य तत्त्व का सन्देह है। मुख का विकार आदि क्रोध के उपशम का विरोधी जो क्रोध का अनुपशम है उसका कार्य है। राग आदिके कलंक से रहित ज्ञान का संबंध असत्य के विरुद्ध सत्य का कारण है। रोहिणी का उदय, पुष्य नक्षत्र का जो उदय है उसके विरोधी मृगशीर्ष नक्षत्र के उदय से पूर्वचर है। पूर्व फल्गुनी का उदय मृगशीर्ष नक्षत्र के उदय के विरोधी मघा नक्षत्र के उदय से उत्तरचर है। सम्यग् दर्शन मिथ्याज्ञान के विरोधी सम्यग् ज्ञान का सहचर है।

विवेचनाः—भावात्मक विरोधी धर्म अभाव को सिद्ध करता है, इसलिये विधिरूप हेतु अभाव का साधक है। जिसका निषेध इष्ट है, विधिरूप हेतु उसका विरोधी है, अतः विरुद्ध कहा जाता है। विरुद्ध की प्रतीति से अभावरूप साध्य की सिद्धि होती है अतः यह हेतु विरुद्धोपलब्धि नाम से भी कहा जाता है। इसके सात भेदों में से प्रथम भेद स्वभाव विरुद्धोपलब्धि है। अनेकान्त का ज्ञान होता है, उसके द्वारा सर्वथा एकान्त का अभाव है यह इसका उदाहरण है।

यहां सर्वथा एकान्त निषेध्य है। समस्त वस्तु केवल सत् हैं अथवा केवल असत् है इत्यादि मत सर्वथा एकान्त है। इस एकान्त के स्वभाव का विरोधी अनेकान्त है। एक अपेक्षा से अर्थ सत् हैं और अन्य अपेक्षा से असत् है—इत्यादि अनेकान्त है। अनेकान्त स्वभाव एकान्त स्वभाव का विरोधी है-उसकी प्रतीति होती है, अतः एकान्त का अभाव सिद्ध होता है। विरोधी स्वभाव की उपलब्धि है इसलिये वह उपलब्धिरूप है। उपलब्धि के अभाव से यहां एकान्त का निषेध नहीं है, अतः विरुद्धोलब्धि अनुपलब्धि-रूप नहीं है। जल का शीत स्पर्श और अग्नि का उष्ण स्पर्श परस्पर विरोधी हैं। जहां उष्ण स्पर्श है वहां शीत स्पर्श का अभाव सिद्ध होता है। उष्ण स्पर्श भावरूप है वह शीत स्पर्श का अभावरूप नहीं है। अपेक्षा से सत्त्व और असत्त्वरूप अनेकान्त धर्म एकान्त सत्त्व का अभावरूप नहीं है। अने-कान्त स्वरूप भावात्मक है उसकी प्रतीति उपलब्धि है, वह अनुपलब्धि नहीं है। जब अनेकान्त की उपलब्धि होती है तब एकान्त की उपलब्धि नहीं होती, परन्तु अनेकान्त की उपलब्धि स्वयं अनुपलब्धिरूप नहीं है। पहले उष्ण स्पर्श भावरूप में उपलब्ध होता है उत्तरकाल में शीत स्पर्श के रूप से उपलब्धि नहीं होती, अतः उष्ण और शीत स्पर्श का विरोध प्रतीत होता है। विरोध के ज्ञान में अर्थ के अपने स्वरूप की उपलब्धि मुख्य कारण है और विरोधी अर्थ के स्वरूप में अनुपलब्धि सहकारी कारण है। इसी रीति से अनेकान्त स्वभाव की अपेक्षा के भेद से सत् और असत् रूप में उपलब्धि मुख्य है। इसके काल में एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् की उपलब्धि नहीं होती। यह उपलब्धि तो

एकान्त और अनेकान्त के विरोध की प्रतीति में सहायक कारण है। मुख्य हेतु अनेकान्त की उपलब्धिरूप है, अतः विरोधी स्वभाव की उपलब्धि विधिरूप है, अभावात्मक अनुपलब्धिरूप नहीं है। इतना तत्त्व ध्यान में रहना चाहिये।

दूसरा उदाहरण—विरुद्धव्याप्तोपलब्धि का है। इस पुरुष को तत्वों में निश्चय नहीं है, तत्वों में संदेह होने से। इस उदाहरण में जीव-अजीव-आश्रव-बन्ध-संवर—निर्जरा और मोक्ष-ये तत्त्व हैं इनमें निश्चय निषेध्य है। निश्चय से विरूद्ध अनिश्चय है उससे व्याप्त संदेह की उपलब्धि है। अनिश्चय व्यापक है और सन्देह व्याप्य है। जब भ्रम होता है अथवा अनध्यवसाय होता है—तब अनिश्चय है, परन्तु सन्देह नहीं है। सन्देह जब होता है तब अनिश्चय अवश्य होता है। अनिश्चय के बिना संदेह नहीं होता, अतः अनिश्चय व्यापक है और सन्देह व्याप्य है। जहां अनिश्चय है वहां निश्चय का अभाव है इस रीति से सन्देह के द्वारा निश्चय का अभाव सिद्ध होता है।

मुंह में विकार दिखाई देता है, इसलिये इस पुरुष में क्रोध की शान्ति नहीं हैं। इस अनुमान में मुख के विकारों की प्रतीति विरुद्ध कार्योपलब्धिरूप है। यहां क्रोध का उपशम निषेध्य है--उसके विरूद्ध अनुपशम है, उसके काय मुख के विकार हैं मुख का अरुण वर्ण होठों का फरकना, आंखों का लाल होना, इत्यादि विकार क्रोध के कार्य हैं। इन कार्यों से क्रोध के उपशम का अभाव सिद्ध होता है।

इसका वचन असत्य नहीं, राग आदि के कलंक से रहित ज्ञानवाला होने से, यह उदाहरण विरुद्ध कारणोपलब्धिरूप है। यहां असत्य निषेध्य है, उसके विरुद्ध सत्य है।

उसका कारण राग द्वेष आदिसे रहित ज्ञान है । युक्तियुक्त वचन आदिके द्वारा राग और द्वेष आदिसे रहित ज्ञान जब सिद्ध होता है तब वह ज्ञान सत्य को सिद्ध करता है । सत्य सिद्ध होकर असत्य का निषेध करता है ।

मुहूर्त के अनन्तर पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा । रोहिणी का उदय होने से । इस अनुमान में हेतु विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धिरुप है । यहां पर पुष्य नक्षत्र का उदय निषेध्य है, उसके विरुद्ध मृगशीर्ष नक्षत्र का उदय है । उसका पूर्वचर रोहिणी का उदय है ।

मुहूर्त से पूर्वकाल में मृगशीर्ष का उदय नहीं हुआ । पूर्व फल्गुनी का उदय होने से । यह उदाहरण विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि का है । यहां मृगशीर्ष का उदय निषेध्य है--उसके विरुद्ध मघा का उदय है, उसका उत्तरचर पूर्व फल्गुनी का उदय है ।

इस पुरुष को मिथ्या ज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन होने से। यह उदाहरण विरुद्ध सहचरोपलब्धि का है । यहां मिथ्याज्ञान निषेध्य है--उसका विरोधी सम्यग् ज्ञान है । उसका सहचर सम्यग् दर्शन है ।

[प्रतिषेधरूप हेतु का निरूपण]

मूलम्:-प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधः-विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति ।

अर्थः-प्रतिषेध रूप हेतु भी दो प्रकार का है (१) विधि साधक और (२) प्रतिषेध साधक ।

विवेचनाः - प्रतिषेधरूप हेतु का प्रथम भेद विधि साधक है । जिस प्रकार विधि स्वरूप हेतु का अविरुद्धोपलब्धि नामक

प्रथम भेद विधि साधक है और उसी का दूसरा भेद विरुद्धोपलब्धि नामवाला प्रतिषेध का साधक है । इसी प्रकार प्रतिषेधरूप हेतु का भी प्रथम भेद विरुद्धानुपलब्धि नाम वाला है और विधिसाधक है । उसीका अविरुद्धानुपलब्धि नामक दूसरा भेद प्रतिषेध साधक है ।

मूलम्:—आद्यो विरुद्धानुपलब्धिनामा विधेयविरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदात्पञ्चधा ।

अर्थः—विरुद्धानुपलब्धि नाम वाला प्रथम हेतु विधेय के विरुद्ध कार्य-कारण-स्वभाव-व्यापक-और सहचर की अनुपलब्धि के भेद से पांच प्रकार का है ।

विवेचनाः—विधेय का अर्थ है साध्य । साध्य से जो विरुद्ध हैं उनकी अनुपलब्धि होने से इसके पांच भेद हैं (१) विधेय विरुद्ध कार्यानुपलब्धि (२) विधेय विरुद्ध कारणानुपलब्धि (३) विधेय विरुद्धस्वाभावानुपलब्धि (४) विधेय-विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि और (५) विधेय विरुद्ध-सहचरानुपलब्धि ।

मूलम्:—यथा अस्त्यत्र रोगातिशयः, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः विद्यतेऽत्र कष्टम्, इष्टसंयोगाभावात् । वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् । अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः । अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति ।

अर्थः—उदाहरण—इस मनुष्य में रोग की अधिकता है—रोग रहित मनुष्य के व्यापारों की अनुपलब्धि के होने से। इस मनुष्य में कष्ट है, प्रिय अर्थ के साथ संयोग न होने से। वस्तु अनेकान्तात्मक है—एकान्त-स्वभाव के अनुपलब्ध होने से। यहां छाया है—उष्ण-स्पर्श की अनुपलब्धि के होने से। इस मनुष्य को मिथ्या ज्ञान है, सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि के होने से।

विवेचना:—प्रथम उदाहरण में अधिक रोग साध्य है। उसके विरुद्ध आरोग्य है उसका कार्य रोग रहित मनुष्य की चेष्टाओं का समूह है, उसकी अनुपलब्धि है—इस कारण विरुद्ध-कार्यानुपलब्धि है।

दूसरे उदाहरण में—साध्य कष्ट है. उसके विरुद्ध सुख है, उसका कारण प्रिय वस्तु का संयोग है, उसकी अनुपलब्धि है—अतः विरुद्ध कारणानुपलब्धि है।

तीसरे उदाहरण में अनेकान्त स्वभाव साध्य है। उसके विरुद्ध एकान्त स्वभाव है, उसकी अनुपलब्धि है, अतः विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि है। अर्थ स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् दिखाई देते हैं। कोई भी अर्थ प्रत्यक्ष के द्वारा केवल भावात्मक अथवा अभावात्मक प्रतीत नहीं होता, अतः प्रत्येक अर्थ भावात्मक और अभावात्मक है इसलिये अनेकान्तात्मक है। इसी रीति से कोइ भी अर्थ सर्वथा नित्य नहीं प्रतीत होता। पर्यायरूप में उसका परिणाम प्रत्यक्ष है अनेक परिणाम होने पर भी द्रव्यरूप से उसका विनाश

दिखाई नहीं देता। अत द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य है। इस कारण भी प्रत्येक अर्थ अनेकान्त रूप है।

जो लोग केवल ज्ञान को सत्य स्वीकार करते हैं और बाह्य अर्थ को मिथ्या मानते हैं. उनका मत भी युक्त नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान प्रतीत होता है और वह सत्य है-इस प्रकार अथ भी प्रतीत होता है और उसका बाध नहीं होता, अतः ज्ञान के समान अर्थ भी सत्य है। एकान्तरूप से समस्त अर्थ मिथ्या नहीं हैं। किसी भी अर्थ में एकान्त स्वभाव प्रतीत नहीं होता, अतः अर्थ अनेकान्तात्मक है।

चतुर्थ उदाहरण में छाया साध्य है। उसके विरुद्ध ताप है उसका व्यापक उष्ण स्पर्श है, उसकी अनुपलब्धि है-अतः विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

पंचम उदाहरण में मिथ्या ज्ञान साध्य है, उसके विरुद्ध सम्यग् ज्ञान है और उसका सहचर सम्यग् दर्शन है, उसकी अनुपलब्धि है, अतः विरुद्ध सहचरानुपलब्धि है।

मूलम्:-द्वितीयोऽविरुद्धानुपलब्धिनामा प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरसहचरानुपलब्धिभेदात् सप्तधा।

अर्थः-दूसरा अविरुद्धानुपलब्धि नाम वाला है। निषेध्य से अविरुद्ध जो स्वभाव-व्यापक-कार्य कारण पूर्वचर-उत्तरचर और सहचर हैं, उनकी अनुपलब्धि के भेद से यह सात प्रकार का है।

विवेचनाः-यह हेतु स्वयं निषेधरूप है और निषेध का साधक है। इसके सात भेदों के नाम इस प्रकार हैं। (१)

प्रतिषेध्याविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि (२) प्रतिषेध्याविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (३) प्रतिषेध्याविरुद्धकार्यानुपलब्धि (४) प्रतिषेध्याविरुद्धकारणानुपलब्धि (५) प्रतिषेध्याविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि (६) प्रतिषेध्याविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि (७) प्रतिषेध्याविरुद्धसहचरानुपलब्धि ।

मूलम्:-यथा नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् । नास्त्यत्र पनसः, पादपानुपलब्धेः । नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकं बीजम्, अङ्कुरानवलोकनात् । न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात् । नोदगमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिः, चित्रोदयादर्शनात् । नोदगमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात्पूर्वम्, उत्तरभद्रपदोदगमानवगमात् । नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति ।

अर्थः-इनके उदाहरण (१) इस भूतल में घट नहीं है । उपलब्धि के कारणों को प्राप्त करके भी और उपलब्धि के योग्य स्वभाववाला होने पर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे । (२) यहां पनस नहीं है, वृक्ष की अनुपलब्धि होने से । (३) यहां अप्रतिहत शक्तिवाला बीज नहीं है, अंकुर का अदर्शन होनेसे । (४) इस मनुष्य को प्रशम आदि भाव नहीं हैं, तत्त्व अर्थों

में श्रद्धा न होने से। (५) मुहूर्त के अनन्तर स्वाति नक्षत्र का उदय नहीं होगा, चित्रा नक्षत्र के उदय के न दिखाई देने से। (६) मुहूर्त से पहले पूर्व भद्रपदा नक्षत्र का उदय नहीं हुआ, उत्तर भद्रपदा नक्षत्र का उदय का अज्ञान होने से। (७) इस मनुष्य में सम्यग् ज्ञान नही है, सम्यग् दर्शन के अनुपलब्ध होने से।

विवेचना:-प्रथम उदाहरण में निषेध्य घट है. उसका स्वभाव दर्शन योग्य है। सामने के देश में घट हो, कोई प्रतिबंधक न हो और सहकारी कारण प्रकाश हो, इस दशा में चक्षु के साथ संबंध हो तो घट अवश्य प्रत्यक्ष होता है। जब उपलब्धि के कारण होने पर भी घट उपलब्ध नहीं होता। तब घट का अभाव अनुपलब्धि से सिद्ध होता है। घट का स्वभाव देखने योग्य है। उसका स्वभाव इस प्रकार का नहीं है-जिसके द्वारा कारणों के उपस्थित होने पर भी वह दिखाई न दे। इसलिये भूतल में घट का अभाव सिद्ध होता है।

यहां शका होती है,-उपलब्धि के कारणों के साथ संबंध होने पर भी उपलब्धि नहीं होती इसलिये आप पुरोवर्ती भूतल में घट के अभाव को सिद्ध करते हैं। परन्तु जो घट विद्यमान नहीं है उसके साथ चक्षु आदिका सबंध नहीं हो सकता। यदि चक्षु आदिके साथ संबंध हो, तो घट का अभाव नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है- यहां घट के स्वरूप को आरोपित करके निषेध किया जाता है। यदि घट विद्यमान हो तो प्रतिबंधक के न होने पर और सहकारी

प्रकाश के होने पर चक्षु के द्वारा उसकी प्रतीति अवश्य होनी चाहिये, परन्तु नहीं होती इसलिये वह अविद्यमान है। जहां निषेध होता है वहां आरोपित स्वरूप में होता है। निषेध्य वस्तु का जो अविरोधी स्वभाव है उसकी यदि अनुपलब्धि हो, तो वह वस्तु वहां नहीं हो सकती।

दूसरे उदाहरण में–पनस निषेध्य है और उसके साथ अविरुद्ध उसका व्यापक पादपत्व है उसकी अनुपलब्धि है, अतः अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

तृतीय उदाहरण में प्रतिबंध रहित शक्तिवाला बीज निषेध्य है। उसके साथ अविरुद्ध और उसका कार्य अंकुर है उसका दर्शन नहीं अतः अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि है। सहकारी कारणों की संपूर्ण रूप में उपस्थिति हो और कोई प्रतिबंधक न हो तो मुख्य कारण प्रतिबंध रहित शक्तिवाला कहा जाता है। अंकुर की उत्पत्ति में बीज मुख्य कारण है। क्षेत्र हैं जल, वायु और ताप आदि सहकारी कारण हैं। ये समस्त सहकारी उपस्थित हों और कोई प्रतिबंधक न हो, तो बीज से अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार की विशिष्ट व्यवस्थावाले बीज के साथ अंकुर का विरोध नहीं है। उचित परिणाम में जल आदि न मिले और कोई प्रतिबंधक हो तब बीज होने पर भी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। कार्य के अदर्शन से बीज के अभाव का अनुमान युक्त नहीं है। सहकारियों के न होने पर अथवा प्रतिबंधकों के उपस्थित होने पर बीज होने पर भी अंकुर नहीं होता, अतः अंकुर के अदर्शन से प्रतिबंध रहित शक्तिवाले बीज के अभाव का अनुमान होता है।

चतुर्थ उदाहरण में–प्रशम आदि भाव निषेध्य हैं। उनके साथ अविरुद्ध और उनका कारण तत्त्वार्थ में श्रद्धा है उसकी अनुपलब्धि है, अतः अविरुद्धकारणानुपलब्धि है। जीव आदि तत्त्वों में जिसकी श्रद्धा होती है उसके अन्तः-करण में प्रशम आदि भाव उत्पन्न होते हैं। प्रशम वैराग्य निर्वेद-अनुकम्पा और आस्तिक्य-इस जीव के परिणाम हैं। जीव आदि तत्त्वभूत अर्थों में श्रद्धा इन भावों का कारण है। जब किसी पाप कर्म से मनुष्य में जीव आदिके विषय में श्रद्धा का अभाव सिद्ध होता है, तब इस श्रद्धा के प्रशम आदि जो कार्य हैं उनका अभाव सिद्ध होता है। व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव नियम से होता है। लोक में भी व्यापक अग्नि के अभाव से व्याप्य धूम के अभाव की प्रतीति होती है।

पंचम उदाहरण में–मुहूर्त के अनन्तर स्वाति नक्षत्र का उदय निषेध्य है उसके साथ अविरुद्ध और उसके पूर्वचर चित्रा नक्षत्र का उदय है उसका अदर्शन है, अतः अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि है।

छट्ठे उदाहरण में-पूर्वभद्रपदा नक्षत्र का उदय निषेध्य है। उसके साथ अविरुद्ध और उसका उत्तरचर उत्तरभद्रपदा नक्षत्र का उदय है उसका अदर्शन है, अतः अविरुद्ध उत्तर-चरानुपलब्धि है।

सप्तम उदाहरण में-सम्यग्ज्ञान निषेध्य है। उसके साथ अविरुद्ध और उसका सहचर सम्यग् दर्शन है। उसकी उपलब्धि नहीं, अतः अविरुद्धसहचरानुपलब्धि है। जब किसी मनुष्य में सम्यग् दर्शन का अभाव सिद्ध होता है तब उसके सहचर सम्यग् ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है।

मूलम्-सोऽयमनेकविधोऽन्यथानुपपत्त्येक-लक्षणो हेतुरुक्तः ।

अर्थः—इस रीतिसे अनेक प्रकार का और अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षणवाला हेतु कहा जा चुका ।

[हेत्वाभासों का निरूपण]

मूलम्-अतोऽन्यो हेत्वाभासः । स त्रेधा-असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिकभेदात् ।

अर्थः—इस हेतु से भिन्न हेत्वाभास है और उसके तीन प्रकार हैं । (१) असिद्ध (२) विरुद्ध और (३) अनैकान्तिक ।

विवेचनाः-हेतु का मुख्य स्वरूप अन्यथा अनुपपत्ति है । उससे रहित होने के कारण अहेतु होने पर भी हेतु के स्थान में प्रयोग होनेसे हेतु के समान दिखाई देता है, अतः हेत्वाभास कहा जाता है ।

[असिद्धहेत्वाभास का निरूपण]

मूलम्-तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः स्वरूपाप्रतीतिश्चाज्ञानात्सन्देहाद्विपर्ययाद्वा ।

अर्थः—जिस हेतु का स्वरूप प्रतीत नहीं होता, वह असिद्ध कहा जाता है । स्वरूप की अप्रतीति अज्ञान, सन्देह अथवा भ्रम से होती है ।

किसी वक्ता को हेतु के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । किसीको हेतु के स्वरूप में सन्देह होता है और किसीको हेतु के स्वरूप में भ्रम होता है ।

मूलम्–स द्विविधः–उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च । आद्यो यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति । द्वितीयो यथा अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्, अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वादिति वा ।

अर्थः–वह दो प्रकार का है (१) उभयासिद्ध (२) अन्यतरासिद्ध । प्रथम-जैसे शब्द परिणामी है, चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष होनेसे । दूसरा–जैसे वृक्ष अचेतन हैं, विज्ञान इन्द्रिय और आयु के निरोधरूप मरण से रहित होनेसे । अथवा सुख आदि अचेतन हैं, उत्पत्तिवाला होनेसे ।

विवेचना–वादी और प्रतिवादी दोनों जिस हेतु को धर्मी में विद्यमान नहीं मानते, वह हेतु उभयासिद्ध है । शब्द को परिणामी सिद्ध करने के लिये जब चाक्षुषत्व-हेतु के रूप में कहा जाता है, तब वह उभयासिद्ध होता है । वादी और प्रतिवादी में से कोई भी शब्द को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं मानता । दोनों कान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं ।

वादी अथवा प्रतिवादी कोई एक जब हेतु को सिद्ध नहीं मानता, तब वह अन्यतरासिद्ध कहा जाता है। बौद्ध वृक्षों को अचेतन मानते हैं। वे कहते हैं, वृक्षों में ज्ञान नहीं है, इन्द्रिय नहीं है और मरण नहीं हैं अतः वृक्ष अचेतन हैं। यहां वादी बौद्ध है और प्रतिवादी जैन है। जैनों के अनुसार वृक्षों में चैतन्य है। वे वृक्षो में ज्ञान इन्द्रिय और मरण को स्वीकार करते हैं। प्रतिपक्षी जैन की अपेक्षा से बौद्ध का हेतु असिद्ध है, अतः अन्यतरासिद्ध है।

मूलम्:–नन्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति, तथाहि-परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणाभावादुभयोरप्यसिद्धः। अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरपि सिद्धः।

अर्थः–शंका–अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास ही नहीं है। प्रतिवादी जब यह हेतु असिद्ध है-इसप्रकार उद्भावन करता है तब यदि वादी हेतु के साधक प्रमाण को न कहे तो प्रमाण के अभाव से वह दोनों के लिये असिद्ध हो जायगा और यदि वादी प्रमाण को कहे तो प्रमाण के पक्षपात रहित होने से वह दोनों के लिये सिद्ध हो जायगा।

विवेचनाः–अनुमान का प्रयोग करनेवाला वादी जब हेतु को कहता है और प्रतिवादी उस हेतु को असिद्ध कहता है तब यदि वादी हेतु के साधक प्रमाण को नहीं कहता तो

प्रमाण का अभाव वादी और प्रतिवादी दोनों के लिये है। प्रतिवादी के मत के अनुसार उस हेतु की सिद्धि में प्रमाण नहीं है और वादी प्रमाण का प्रयोग नहीं करता, इसलिये वादी के मत में भी प्रमाण का अभाव है। इस रीति से वादी और प्रतिदादी के लिये वह हेतु असिद्ध है। यदि वादी असिद्धता दोष के निराकरण के लिये प्रमाण को कहता है तो प्रमाण सबके लिये प्रमाण होता है। प्रमाण का प्रामाण्य पुरुष की अपेक्षा से नहीं होता। वादी जिस प्रमाण को कहता है वह प्रतिवादी के लिये भी प्रमाण है। इस अवस्था में वादी का हेतु प्रतिवादी के लिये भी प्रमाण है। इस अवस्था में वादी का हेतु प्रतिवादी के लिये भी सिद्ध होगा। दोनों के लिये सिद्ध होने के कारण वह असिद्ध नहीं हो सकता।

मूलम्:-अथ यावन्न परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते, तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम् ; न हि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मुख्यतया तदाभासः।

अर्थः-यदि आप कहते हैं-जब तक प्रतिवादी के लिये हेतु प्रमाण से सिद्ध नहीं होता तब तक उसके लिये वह असिद्ध है, तो असिद्धता गौण हो जायगी। रत्न आदि पदार्थ जितने काल तक तात्त्विकरूप में प्रतीत नहीं होते उतने काल तक वे मुख्यरूप से रत्नाभास नहीं हो जाते।

विवेचनाः—वादी और प्रतिवादी जब तक प्रमाणों के द्वारा अपने हेतु की दूसरे के लिये सिद्धि नहीं करते तब तक वह हेतु दूसरे के लिये असिद्ध है; अतः अन्यतरासिद्ध है। इस आक्षेप के उत्तर में पूर्वपक्षी कहता है। यदि इस रीति से असिद्धता हो, तो वह असिद्धता तात्त्विक नहीं है। प्रमाण होने पर भी यदि प्रमाणों का प्रकाशन न हो, तो उससे बोध रहित अर्थ दूषित नहीं हो जाता। मिथ्यारूप में ज्ञान होने पर भी जिसप्रकार रत्न मिथ्या नहीं होता, इस प्रकार वस्तुतः प्रमाण द्वारा सिद्ध हेतु प्रमाण का प्रकाशन न होनेसे असिद्ध नहीं हो सकता। इस दशा में वह हेतु निर्दोष हेतु है। वह अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास नहीं हो सकता।

मूलम्—किञ्च, अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतो स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह इति युक्तम्। नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद्युक्तम् निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति।

अर्थ—अन्य दोष भी है—अन्यतरासिद्ध जब हेत्वाभास है तब वादी निग्रह को प्राप्त होगा और जो निग्रह को प्राप्त हो गया है उसका उत्तरकाल में अनिग्रह युक्त नहीं है। निग्रह को प्राप्त हो जाने के अनन्तर हेतु का समर्थन भी युक्त नहीं है, कारण—निग्रह वाद का अन्त है।

विवेचनाः—निग्रह स्थान अनेक हैं। उनमें हेत्वाभास को निग्रहस्थानरूप में गणना है। अन्यतरासिद्ध यदि हेत्वाभास

हो, तो वादी इस निग्रहस्थान की प्राप्ति से पराजित होगा। उत्तरकाल में हेत्वाभास के निराकरण के लिये उसको प्रमाणों का प्रकाशन नहीं करना चाहिये। निग्रहस्थान से बाद का अन्त हो जाता है। निग्रहस्थान के प्राप्त हो चुकने पर यदि विचार चलता रहे तो वाद की समाप्ति ही नहीं होगी और जय-पराजय की व्यवस्था न हो सकेगी।

मूलम्–अत्रोच्यते–यदा वादी सम्यग्घेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि तत्समर्थनन्याय-विस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा प्रतिबोधयितुं न शक्नोति, असिद्धतामपि नानुमन्यते, तदान्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते।

अर्थः–यहां उत्तर इस प्रकार है–जब वादी अपने हेतु को निर्दोष मानता हुआ भी उसके समर्थन में युक्तियों के भूल जाने के कारण अथवा किसी अन्य कारण से प्रतिवादी को अथवा प्राश्निकों को नहीं समझा सकता और हेतु की असिद्धता को भी नहीं स्वीकार करता तब वह अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास से ही निग्रह स्थान को प्राप्त होता है।

विवेचनाः–वादी जिस हेतु का प्रयोग करता है उसको वह स्वयं असिद्ध नहीं मानता, अतः वादी की अपेक्षा से हेतु असिद्ध नहीं है। जिस प्रमाण के द्वारा हेतु को स्वीकार करता है उस प्रमाण को वाद के काल में वादी भूल गया है, अतः प्रतिवादी अथवा प्राश्निकों के सामने हेतु की सिद्धि

नहीं कर सकता। इस अशक्ति में भी अपने हेतु को असिद्ध नहीं मानता। इस दशा में अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास के कारण वादी का निग्रह होता है, परन्तु इतने निग्रह से वाद का अन्त नहीं होता कुछ काल के अनन्तर वादी यदि हेतु का समर्थन करे तो हेतु अन्यतरासिद्ध नहीं रहता। वादी अथवा प्रतिवादी हेतु में जिस दोष का प्रकाशन करता है उसके परिहार के लिये अवसर देना चाहिये। केवल असिद्ध कह देने से पराजय नहीं होता। उचित अवसर पर यदि दोष का परिहार न करे तो पराजय होता है। असिद्ध है, इतने वचन से ही निर्दोष हेतु हेत्वाभास नहीं हो जाता। इसी कारण जब प्रमाणों के द्वारा हेतु का समर्थन हो सकता हो, तब यदि विस्मरण अथवा सभा क्षोभ के कारण प्रमाणों का प्रकाशन न हो तो वास्तव में अन्यतरासिद्ध कहा जाने वाला हेतु निर्दोष होता है। उस दशा में उसकी असिद्धता गौण ही होती है। प्रमाणों के द्वारा सिद्धि का प्रकाशन नहीं हुआ इसलिये वह असिद्ध है, उसका स्वरूप असिद्ध नहीं है। भ्रम होने पर भी जिस प्रकार रत्न, रत्न ही होता है इस प्रकार हेतु वास्तव में हेतु ही होता है।

मूलम्:–तथा, स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावानै (इत्येतावतै) वोपन्यस्तो हेतु-रन्यतरासिद्धोनिग्रहाधिकरणम्, यथा साङ्ख्य-स्य जैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्पत्तिम-त्त्वात् घटवत्, इति।

अर्थः–इसी प्रकार मैं नहीं स्वीकार करता परंतु प्रतिवादी स्वीकार करता है केवल इतने से जिसका

प्रयोग होता है वह हेतु अन्यतरासिद्ध होता है और निग्रह स्थान होता है। जिस प्रकार सांख्य का जैन के लिये, सुख आदि अचेतन है उत्पत्तिवाला होनेसे घट के समान।

विवेचनाः-जब वादी कहता है—मेरे मत के अनुसार यह हेतु असिद्ध है, परन्तु प्रतिवादी के मत में सिद्ध है। प्रतिवादी मेरे मत के अनुसार यदि इस हेतु की असिद्धता के ज्ञान से रहित हो तो, असिद्धता दोष को नहीं प्रकट कर सकेगा और इस दशा में मेरे प्रयोजनकी सिद्धि हो जायगी। इस कारण से यदि हेतु का प्रयोग हो तो वादी की अपेक्षा से अन्यतरासिद्ध है और निग्रह का स्थान है। सुख आदिकी उत्पत्ति को जैन स्वीकार करता है परन्तु सांख्य किसी वस्तु की उत्पत्ति को नहीं मानता। वह सत्कार्यवादी सांख्य है। सत्कार्यवाद में कार्य अव्यक्तरूप से उपादान कारण में रहता है। उत्तर काल में सहकारियों की सहायता से प्रकट होता है। अतः सुख आदिको अचेतन सिद्ध करने के लिये उत्पत्तिमत्त्वरूप हेतु वादी सांख्य की दृष्टि से असिद्ध है, अतः अन्यतरासिद्ध है।

[विरुद्धहेत्वाभास का निरूपण]

मूलम्:-साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः यथा अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन व्याप्तमिति।

अर्थः—साध्य के विपरीत के साथ जो हेतु व्याप्त है वह विरुद्ध है। जिस प्रकार—शब्द अपरिणामी है कृतक होने से। अपरिणामित्व के विरुद्ध परिणामित्व से कृतकत्व व्याप्त है।

विवेचनाः—वादी जिस हेतु को साध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त करता है उस हेतु की व्याप्ति वास्तव में यदि साध्य के अभाव के साथ हो, तो हेतु विरुद्ध होता है। यहां प्रयोग का करनेवाला कृतकत्व हेतु को अपरिणामित्व की सिद्धि के लिये कहता है। परन्तु उसकी व्याप्ति अपरिणामित्वरूप साध्य के साथ नहीं है, किन्तु अपरिणामित्व से विरुद्ध परिणामित्व के साथ है। परिणामित्व का अभाव अपरिणामित्व है। अपरिणामित्व का अभाव परिणामित्व है। अपरिणामित्व और परिणामित्व में परस्परामावरूप विरोध है। पूर्व आकार का त्याग और उत्तरवर्ती आकार की प्राप्ति के साथ द्रव्यरूप में स्थिति परिणाम है। इस परिणाम के साथ कृतकत्व की व्याप्ति है। अर्थ यदि सर्वथा नित्य अथवा क्षणिक हो, तो पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण नहीं हो सकता।

यहां कृतकत्वरूप धर्म की सिद्धि शब्द में अपरिणामित्व के अभाव को सिद्ध करती है। हेतु की अस्सिद्धि यहां पर साध्य के अभाव को नहीं सिद्ध करती। इस कारण विरुद्ध असिद्ध से भिन्न है।

मूलम्:–यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः । सद्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च ।

अर्थः–जिसकी अन्यथानुपपत्ति में सन्देह हो वह अनैकान्तिक है । वह दो प्रकारका है, निर्णीत विपक्षवृत्तिक और सन्दिग्धविपक्षवृत्तिक । विपक्ष में जिसकी वृत्ति निश्चित हो वह निर्णीत विपक्ष वृत्तिक है, जिसकी विपक्ष में वृत्ति सन्दिग्ध हो वह सन्दिग्ध विपक्षवृत्तिक है ।

विवेचना–जिसके साथ साध्य की व्याप्ति सन्दिग्ध हो वह हेतु अनैकान्तिक है । साध्य के अभाव में हेतु का अभाव व्याप्ति है, इसीको अन्यथानुपपत्ति कहा गया है । जहां साध्य का अभाव हो, वहां हेतु न हो, तो हेतु की अन्यथानुपपत्ति का निश्चय होता है । जहाँ साध्य का अभाव है वहां यदि हेतु के अभाव में सन्देह हो, हेतु हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है–इस प्रकार का सन्देह हो, तो वहां साध्य के बिना अनुपपत्ति का निर्णय नहीं हो सकता । यदि हेतु में साध्य के बिना अनुपपत्ति का निर्णय हो जाय तो जहाँ साध्याभाव है वहाँ हेतु के रहने न रहने का सन्देह नहीं हो सकता । साध्याभाव के अधिकरण में वृत्ति का न होना अन्यथानुपपत्ति का निश्चय है । यह साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की वृत्ति के सन्देह का प्रतिबंधक है । इसलिये साध्याभाव के अधिकरण में यदि हेतु की वृत्ति का सन्देह है, तो वहाँ साध्य के बिना अनुपपत्ति का निर्णय

नहीं है। साध्याभाव के अधिकरण को विपक्ष कहते हैं, विपक्ष में अनुपपत्ति का अर्थात् व्याप्ति का निर्णय नहीं है, अतः विपक्ष में जिसकी वृत्ति संदिग्ध है, वह विपक्ष में सन्दिग्धवृत्तिवाला है। इसी कारण अनैकान्तिक है।

जहाँ साध्याभाव के अधिकरण में अर्थात् विपक्ष में हेतु की वृत्ति का निर्णय है वहां भी अन्यथानुपपत्ति का निर्णय नहीं है। साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की वृत्ति का निर्णय साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की वृत्ति के संदेह का विरोधी है। अतः इस प्रकार के स्थल में भी हेतु में अन्यथानुपपत्ति के निर्णय का अभाव है।

जहां साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की वृत्ति का सन्देह है अथवा जहाँ साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की वृत्ति का निश्चय है वहां हेतु की अन्यथानुपपत्ति का निर्णय नहीं है। दोनों स्थानों में अन्यथानुपपत्ति का निर्णय नहीं है अतः दोनों प्रकार के अनैकान्तिकों में यह लक्षण विद्यमान है। विपक्ष में हेतु की वृत्ति के निश्चय और सन्देह के कारण प्रथम और द्वितीय अनैकान्तिक में भेद है। परन्तु अन्यथानुपपत्ति के निश्चय का अभाव दोनों में समान है।

मूलम्:—आद्यो यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। अत्र हि प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्नित्ये व्योमादौ सपक्ष इव विपक्षेऽनित्ये घटादावपि निश्चिता।

अर्थः—प्रथम, जैसे शब्द नित्य है, प्रमेय होनेसे। यहाँ प्रमेयत्व हेतु की वृत्ति जिस प्रकार आकाश आदि

सपक्ष में निश्चित है इस प्रकार विपक्ष अनित्य, घट आदिमें भी निश्चित है।

जो प्रमा का विषय है उसको प्रमेय कहते हैं। जिस प्रकार आकाश आदि का प्रमात्मक ज्ञान होता है, इसी प्रकार अनित्य घट आदिका भी होता है। इस कारण प्रमेयत्व आकाश आदि सपक्ष नित्यों के समान घट आदि विपक्ष अनित्यों में भी है। घट आदि विपक्ष में प्रमेयत्व की वृत्ति निश्चित है अतः वह निर्णीत विपक्षवृत्ति है। सपक्ष और विपक्ष दोनों में वृत्ति के निश्चित होनेसे प्रमेयत्व हेतु की नित्यत्व के साथ व्याप्ति है इस प्रकार का निश्चय नहीं है। अन्यथानुपपत्तिरूप व्याप्ति के निश्चित न होनेके कारण प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक है।

मूलम्:-द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादिति। अत्र हि वक्तृत्व विपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धवृत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ताऽऽहोस्विन्नेति सन्देहात्।

अर्थः-दूसरा, जैसे अभिमत पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, वक्ता होनेसे। यहाँ वक्तृत्व हेतु की विपक्ष सर्वज्ञ में वृत्ति सन्देह से युक्त है। सर्वज्ञ वक्ता होता है अथवा नहीं, इस प्रकार का सन्देह होनेसे।

विवेचनाः-यहाँ पर अल्पज्ञ साधारण पुरुष सपक्ष हैं, वे वक्ता है। इस अनुमान का प्रयोक्ता समझता है आजकल जो वक्ता देखा जाता है, वह अल्पज्ञ है-इसलिये जो अल्पज्ञ

नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ है वह वक्ता भी नहीं होना चाहिये। जो लोग किसीको सर्वज्ञ मानते हैं वे उसको वक्ता भी मानते हैं। वचन, सिद्ध करता है वक्ता पुरुष सर्वज्ञ नहीं है। इस प्रकार यहां सर्वज्ञता का निषेध करने के लिये वादीने वचन को हेतु माना है और सर्वज्ञरूप विपक्ष में वचन हेतु की निवृत्ति मानी है, पर यह निवृत्ति युक्त नहीं। किसी प्रमाण से सर्वज्ञ में वचन का अभाव निश्चित नहीं है। सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकता है। सर्वज्ञरूप विपक्ष से वक्तृत्व की निवृत्ति सन्देह युक्त है। अन्यथानुपपत्ति के सन्देह युक्त होने-के कारण वक्तृत्व हेतु अनैकान्तिक है। सर्वज्ञ को किसीने बोलते हुए नहीं देखा, इस कारण सर्वज्ञ में वचन का अभाव नहीं निश्चित हो सकता। किसी अल्पज्ञ को भी यदि चिर-काल तक बोलते हुए नहीं देखा तो इतनेसे वह बोलने में असमर्थ नहीं सिद्ध हो जाता। सर्वज्ञ जब बोल रहे हों, तब उनके देखनेवाले भी हो सकते हैं। आज सर्वज्ञ बोलते हुए नहीं दिखाई देते, इसका कारण सर्वज्ञ का वचन से रहित होना नहीं है। आज सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिये वे बोलते हुए नहीं दिखाई देते। यदि कुछ लोगोंने पाँच मन भार को उठाने-वाले पुरुषों को न देखा हो और इस कारण वे जो पांच मन भार को उठाता है वह बोलता नहीं, इस प्रकार की व्याप्ति को मानकर कहने लगें, कोई भी पुरुष पांच मन भार को नहीं उठाता, कारण, वह बोलता है तो उनका यह कथन युक्त नहीं है। उनके न देखने पर भी किसी काल में किसी स्थान पर पांच मन भार का उठानेवाला मनुष्य हो सकता है और बोल सकता है। इसी प्रकार आज न दिखाई देने पर भी किसी काल में, अतीत में वा अनागत में सर्वज्ञ हो

सकता है और वह बोल सकता है। पांच मन भार के उठाने के साथ वचन के अभाव की व्याप्ति नहीं है। वचन के अभाव में सन्देह रहता है। सर्वज्ञ के साथ भी न बोलने का नियत सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञ के न बोलने में भी सन्देह रहता है, सर्वज्ञ मनुष्य बोल भी सकता है।

इस पर वादी कहता है-सर्वज्ञता का और वचन का परस्पर विरोध है। जिन अर्थों में परस्पर विरोध रहता है उनमें यदि एक किसी स्थान पर हो तो दूसरा वहाँ नहीं रहता। अन्धकार और प्रकाश परस्पर विरोधी हैं। जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं और जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नहीं। इसी प्रकार जहाँ सर्वज्ञता है वहाँ वचन नहीं और जहाँ वचन है वहाँ सर्वज्ञता नहीं। यह आक्षेप युक्त नहीं है। अन्धकार और प्रकाश का परस्पर विरोध है, इसलिए एक के होने पर अन्य नहीं रहता। पर सर्वज्ञता और वचन में परस्पर विरोध नहीं है। कहने की इच्छा बोलने का कारण है। अल्पज्ञ पुरुष जब कुछ कहना चाहता है तब बोलता है। कहने की इच्छा के साथ अल्पज्ञ के अल्पज्ञान का विरोध नहीं है, यदि विरोध होता तो अल्पज्ञ को भी कहने की इच्छा न होती और वह न बोलता। अल्पज्ञ के समान सर्वज्ञ भी कहने की इच्छा के होने पर बोल सकता है। सर्वज्ञ के ज्ञान का भी कहने की इच्छा और उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले वचन के साथ विरोध नहीं है। यदि आप अल्प ज्ञान के साथ कहने की इच्छा और वचन का विरोध न मानकर सर्वज्ञ के व्यापक ज्ञान के साथ विरोध कहें तो वह युक्त नहीं है। जिनका स्वाभाविक विरोध होता है वे अल्प और महान् दोनों परिमाणों में परस्पर का विरोध

करते हैं। सूर्य का व्यापक तेज जिस प्रकार अन्धकार को दूर करता है इस प्रकार अत्यंत लघु दीपक भी दूर करता है। यदि सर्वज्ञ का व्यापक ज्ञान कहने की इच्छा और वचन का विरोधी हो, तो अल्पज्ञ के अल्प ज्ञान को भी विरोधी होना चाहिए। पर अल्प ज्ञान विरोधी नहीं है इसलिए सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने की इच्छा और वचन का विरोधी नहीं है। ज्ञान का अज्ञान के साथ विरोध है। सूर्य का प्रकाश हो अथवा दीपक का, दोनों प्रकार का प्रकाश अन्धकार को हटाता है। ज्ञान भी सर्वज्ञ का हो वा अल्पज्ञ का, अज्ञान को हटाता है। सर्वज्ञ के ज्ञान का वचन के साथ विरोध नहीं है इसलिये वादी के प्रयोग में सर्वज्ञरूप विपक्ष से वचन की व्यावृत्ति संदिग्ध है और वक्तृत्वरूप हेतु अनैकान्तिक है।

यहां पर सर्वज्ञ के ज्ञान के साथ कहने की इच्छा का विरोध नहीं है--इस प्रकार का जो प्रतिपादन है वह भी जैन तार्किकों का एक पक्ष है। श्रीवादीदेवसूरिजी स्याद्वादरत्नाकर में कहते हैं--"सर्वज्ञ की इच्छा शुद्ध इच्छा होती है उसके द्वारा समस्त लोगों का शुभ सपादित होता है। वह रागात्मक नहीं होती। इसलिये वचन का और सर्वज्ञभाव का परस्पर विरोध नहीं है।"

यदि अन्य पक्ष माना जाया तो इच्छा के कारण सर्वज्ञ के ज्ञान और वचन का विरोध सर्वथा नहीं रहता। यह पक्ष ही जैन तार्किकों के अनुसार मुख्य है। इस पक्ष के अनुसार सर्वज्ञ इच्छा के कारण नहीं बोलते। सर्वज्ञ में सामान्यरूप से इच्छा नहीं रहती। इसलिये इच्छा का अवान्तरभेद विवक्षा अर्थात् बोलने की इच्छा भी नहीं है। इस पक्ष के अनुसार सर्वज्ञ का वचनव्यापार केवल चेष्टा है। सोये

हुए और मत्त पुरुष इच्छा के बिना भी बोलते हैं । इसलिये विवक्षा सदा वचन का अपरिहार्यरूप से कारण नहीं होती । श्रीवादीदेवसूरिजी कहते हैं–"सर्वज्ञ अमनस्क है । उसमें सामान्य रूप से कोई भी इच्छा नहीं है ।" इस दशा में वचन से इच्छा का अनुमान और उसके साथ सर्वज्ञ भाव का विरोध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ।

[××× अथ सर्वज्ञत्वेन सह वचनस्य विरुद्धत्वात्ततो व्यावृत्तिस्तस्य निश्चीयत एवेति चेत् ?, तदप्यपेशलम् । तेन सह तस्य विरोधः सिध्यतीति तु बुद्धिः कस्यचित् [न] साधीयसी सुप्तमत्तप्रभृतिषु विवक्षामन्तरेणापि वक्तृत्वस्योपलम्भात्तस्यास्तत्कारणत्वस्यैवासिद्धेः। ××× अस्तु वा विप्रतिपत्तिमात्रे पुंसि शुद्धेच्छा तथापि न रागस्वभावत्वमस्य लोकशुभेच्छाया रागत्वेन प्रतीतेरभावात् । अतः कथमपि वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वेन समं न विरोधः सिध्यतीति सर्वज्ञभावे साध्ये सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकाख्यानैकान्तिकत्वमस्य सुव्यवस्थितम् ।

स्या० र० परि० ६, सू० ५७]

मूलम्:–एवं स श्यामो मित्रापुत्रत्वादित्यादयप्युदाहार्यम् ।

अर्थः–इसी प्रकार से 'वह श्याम है, मित्रा का पुत्र होनेसे' इत्यादि को भी उदाहरण रूप में समझ-लेना चाहिये ।

विवेचना:—मित्रा के अनेक पुत्र हैं । उनमें से कुछ को किसीने देखा है । जिनको देखा है , उनका वर्ण श्याम है। श्याम पुत्रों को देखनेवाले ने एक पुत्र को नहीं देखा। अदृष्ट पुत्र के विषय में वह अनुमान करता है—वह श्याम है, मित्रा का पुत्र होनेसे, मित्रा के दृष्ट पुत्रों के समान। इस अनुमान में मित्रा का पुत्र होना हेतु है, मित्रा का वह पुत्र जो अदृष्ट है, वह पक्ष है, और श्याम वर्ण साध्य है। मित्रा के श्याम पुत्र सपक्ष हैं। जो मनुष्य श्याम वर्ण के नहीं हैं वे विपक्ष हैं, वे मित्रा के पुत्र नहीं हैं। यह जानकर कोई इस अनुमान का प्रयोग करता है। वह समझता है, मैंने मित्रा के जितने पुत्रों को देखा है वे सब श्याम वर्ण के हैं, जिनका वर्ण मुझे शुक्ल दिखाई दिया है वे मित्रा के पुत्र नहीं हैं। इसलिए यहाँ हेतु की साध्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक से व्याप्ति है। शुक्ल वर्णवाले मनुष्य विपक्ष हैं। उनमें मित्रा का पुत्रभाव-रूप हेतु नहीं है इसलिए विपक्ष में हेतु की वृत्ति नहीं है।

यहाँ पर अनुमान का प्रयोक्ता भूल करता है। शुक्ल वर्ण के कुछ लोगों को मित्रा से भिन्न नारियों के पुत्ररूप में देखकर जो शुक्ल मनुष्य है वह मित्रा का पुत्र नहीं है इस प्रकार का नियम नहीं मान लेना चाहिये। अन्य स्थान में मित्रा का पुत्र, इस प्रकार का भी हो सकता है जो श्याम न हो। श्याम वर्ण के अभाव के साथ मित्रा के पुत्रभाव का कोई विरोध नहीं है। इस दशा में हेतु का विपक्ष में अभाव सन्देह युक्त हो जाता है। संभव है, मित्रा का अदृष्ट पुत्र शुक्ल वर्णवाला हो, मित्रा के पुत्र श्याम और शुक्ल दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इस रीतिसे मित्रा के पुत्रभावरूप हेतु की श्याम वर्ण से भिन्न वर्णवाले पुत्ररूप विपक्ष में वृत्ति

सन्देह युक्त है। अतः यह हेतु भी विपक्ष में सन्दिग्ध वृत्ति-वाला अनैकान्तिक है।

नैयायिक उपाधि से युक्त होनेके कारण इस हेतु को साध्य का असाधक कहते हैं। उनके अनुसार जो हेतु उपाधि से रहित होता है, वह साध्य का साधक होता है। जो साधन का व्यापक न हो और साध्य का व्यापक हो-वह उपाधि है। यहाँ पर श्यामत्व साध्य है और मित्रापुत्रत्व हेतु है। इस साध्य के साथ इस हेतु की वास्तव में व्याप्ति नहीं है। यहाँ पर शाक आदि आहार के परिपाक से उत्पन्न होना उपाधि है, प्रकृत अनुमान में मित्रापुत्रत्व हेतु है। शाकादिपाकजन्यत्व उसका व्यापक नहीं है। जो जो मित्रा का पुत्र हो वह वह विशेष प्रकार के शाकादि के परिपाक से उत्पन्न हो यह आवश्यक नहीं है। शाकादि के परिपाक के बिना भी मित्रापुत्रत्व हो सकता है। यही शाकादिपाक-जन्यत्व साध्य श्यामत्व का व्यापक है शाक आदि आहार के परिपाक के बिना श्यामत्व कहीं नहीं प्रतीत होता; इस लिए जहाँ जहाँ श्यामत्व है वहाँ वहां शाकादिपाकजन्यत्व है। इस प्रकार की व्याप्ति हो सकती है। उपाधि के इस लक्षण से युक्त होने के कारण शाकादिपाकजन्यत्व उपाधि है उपाधि से युक्त होने के कारण मित्रापुत्रत्वरूप हेतु श्यामत्व साध्य का साधक नहीं है। इसी को अप्रयोजक भी कहते हैं, जो हेतु किसी अन्य धर्म के द्वारा प्रयुक्त व्याप्ति का आश्रय ले-वह अप्रयोजक होता है। यहां पर उपाधि अन्य धर्म है, वही वास्तव में व्याप्ति का प्रयोजक है।

इस रीति से जो लोग हेतु को उपाधि से युक्त अथवा अप्रयोजक कहते हैं। वे भी विपक्ष में हेतु की संदिग्ध वृत्ति

को प्रकट करते हैं। शुक्ल वर्णवाला पुत्र विपक्ष है वह भी मित्रा का पुत्र हो सकता है। विपक्ष में रहने का सन्देह होने-के कारण यह अनैकान्तिक है।

मूलम्:–अकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः। सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत-निराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात्।

अर्थः–धर्मभूषण ने अकिंचित्कर नाम का चौथा हेत्वाभास का भेद कहा है, वह मानने योग्य नहीं है। सिद्ध साधन और बाधित विषय इस प्रकार अकिंचित्कर के दो भेद हैं। दोनों प्रकार का अकिंचित्कर अप्रयोजक कहा जाता है और यह पक्षाभास के प्रतीत और निराकृत नामक भेदों से भिन्न नहीं है।

विवेचनाः–असिद्ध साध्य को सिद्ध करने के लिये हेतु का प्रयोग होता है। यदि अन्य प्रमाण से साध्य की सिद्धि हो जाय तो हेतु कुछ भी नहीं करता, इसलिए अकिंचित्कर कहा जाता है। वह निष्प्रयोजन होता है। कान से शब्द का प्रत्यक्ष होता है इस वस्तु को सिद्ध करने के लिए यदि कोई 'शब्द कान से प्रत्यक्ष होता है, शब्दत्व होने से'–इस प्रकार अनुमान का प्रयोग करे तो शब्दत्व हेतु अकिंचित्कर है। इस हेतु के प्रयोग से पहले कान के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष शब्द को कर्ण इन्द्रिय का विषय सिद्ध कर देता है। श्रावणत्व से

भिन्न किसी अन्य साध्य की सिद्धि में भी शब्दत्व हेतु असमर्थ है इसलिए अकिंचित्कर है। अकिंचित्कर को हेत्वाभास मानने वाले वादियों का यह अभिप्राय है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी कहते हैं, सिद्ध साधन हेत्वाभास नहीं है, हेतु में दोष हो, तो हेत्वाभास होता है। प्रकृत अनुमान में शब्दत्व हेतु है उसमें कोई दोष नहीं है। प्रकृत अनुमान में शब्द पक्ष है और श्रावणत्व धर्म साध्य है। जो धर्म सिद्ध न हो उसको सिद्ध करने के लिए हेतु का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर श्रावणत्व शब्द में प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है उसको सिद्ध करने के लिये हेतु की आवश्यकता नहीं है। अनावश्यक होनेके कारण कोई हेतु अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। हेतु क्या, कोई भी अर्थ अनुपयोगी होनेसे अपने स्वरूप को किसी काल और किसी देश में नहीं छोडता। तृण किसी व्यक्ति के लिए उपयोगी न हो, तो वह तृण के स्वरूप में ही रहता है. उसका स्वरूप दूर नहीं होता। यहाँ पर पक्ष का दोष है। जब धर्मी प्रसिद्ध होता है और उसको किसी असिद्ध धर्म के साथ सिद्ध करने की इच्छा होती है तो धर्मी पक्ष कहा जाता है। पर्वत प्रसिद्ध धर्मी है जब उसमें असिद्ध वह्नि के संबंध को सिद्ध करने की इच्छा होती है तो पर्वत पक्ष हो जाता है। धर्मी के पक्ष होने के लिये साध्य धर्म का असिद्ध होना आवश्यक है। यहां पर श्रावणत्व धर्म प्रत्यक्ष से सिद्ध है। असिद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध न होनेके कारण शब्द धर्मी पक्ष नहीं है, किन्तु पक्षाभास है। प्रकृत अनुमान में शब्दत्व हेतु है, उसमें कोई दोष नहीं है अतः वह हेत्वाभास नहीं है। निश्चित अन्यथानुपपत्ति हेतु का लक्षण है जहां पर अन्यथानुपपत्ति विपरीत होती है वहां हेतु विरुद्ध होता है। जहां अन्यथानुपपत्ति का

निश्चय नहीं होता वहां हेतु अनैकान्तिक होता है। जहां पर अन्यथानुपपत्ति का अज्ञान हो वहां पर हेतु असिद्ध हो जाता है। हेतु के स्वरूप की यदि प्रतीति न हो, तो अन्यथानुपपत्ति की अप्रतीति होती है। प्रकृत अनुमान में शब्दत्व हेतु है। उसकी अन्यथानुपपत्ति श्रावणत्व रूप साध्य के अभाव के साथ नहीं है। जहां शब्दत्व है वहां श्रावणत्व है इसलिये श्रावणत्व के साथ अन्यथानुपपत्ति अनिश्चित भी नहीं है। शब्द का जिस प्रकार प्रत्यक्ष है इस प्रकार शब्दत्व का भी प्रत्यक्ष है। अतः शब्दत्वरूप हेतु के स्वरूप की प्रतीति है इसलिये हेतु की साध्यके साथ जो अन्यथानुपपत्ति है उसका अप्रतीति भी नहीं है इस कारण शब्दत्व न असिद्ध है, न विरुद्ध है, न अनैकान्तिक है। हेतु के तीन ही दोष हैं, इन तीनों से रहित होनेके कारण शब्दत्व हेतु हेत्वाभास नहीं है। श्रावणत्वरूप साध्यधर्म प्रत्यक्ष से सिद्ध है इसलिये हेतु निष्फल है। निष्फलता हेतु के स्वरूप का दोष नहीं है। सिद्ध वस्तु को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त करने के कारण यह पुरुष का दोष है। पक्ष दूषित है अतः प्रतीत साध्य धर्म विशेषण नामक पक्षाभास यहां पर वस्तु का दोष है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास का दूसरा भेद वहां कहा जाता है जहां साध्य प्रत्यक्ष अनुमान आदि से बाधित होता है। अग्नि उष्ण नहीं है–द्रव्य होने से, यह बाधित विषय नामक अकिंचित्कर का उदाहरण है। अग्नि का उष्ण स्पर्श त्वचा के द्वारा प्रत्यक्ष है। अतः यहाँ पर अनुष्णत्वरूप साध्य प्रत्यक्ष से बाधित है। द्रव्यत्व हेतु अग्नि को अनुष्ण सिद्ध करने में असमर्थ है इसलिए अकिंचित्कर है।

साध्य प्रत्यक्ष से बाधित है इसलिये यहां पर हेतु साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ कहा जाता है। हेतु का

यह असामर्थ्य साध्य के दोष के कारण है, अपने दोष के कारण नहीं है। इसलिये इस प्रकार का अकिंचित्कर हेतु भी हेत्वाभास नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण जिसका निषेध न करते हों और जो असिद्ध हो वह धर्म साध्य है। यहाँ पर अनुष्णत्व प्रत्यक्ष से निषिद्ध है। निषिद्ध धर्म के साथ अग्नि धर्मी का सम्बन्ध है इसलिए यहां पर निराकृतसाध्यधर्म विशेषण नामक पक्षाभास है। पक्ष दोष से दूषित होने के कारण यहां बाधितविषय नामक अकिंचित्कर हेत्वाभास का अलग रूप से कहना व्यर्थ है।

मूलम्:–न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः।

अर्थः–जहाँ पक्ष का दोष हो वहां अवश्य हेतु का दोष भी कहना चाहिये यह उचित नहीं है। इस रीति से हेतु का दोष हो तो दृष्टान्त आदि के दोष को भी हेतु दोष के रूप में कहना पडेगा।

विवेचनाः–पक्ष दोष होने पर भी जहां पक्ष दोष होता है वहां अवश्य हेतु दोष होता है इस नियम को मानकर यदि इसको हेत्वाभास माना जाय तो जहां दृष्टांत दोष होता है वहाँ अवश्य हेतु दोष होता है इस नियम को मानकर दृष्टान्त के दोषों को भी हेत्वाभास के रूप में कहना पडेगा। दृष्टान्त दोष जिस प्रकार हेत्वाभास नहीं है इस प्रकार पक्षाभास भी हेत्वाभास नहीं है।

दिगंबर जैन विद्वानों ने दो प्रकार के अकिंचित्कर नामक हेत्वाभास का निरूपण किया है वे भी इसको वास्तव में हेतु का दोष नहीं स्वीकार करते, पक्ष दोष ही मानते हैं। वे कहते हैं शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिए अकिंचित्कर का हेत्वाभास के रूप में निरूपण है। व्युत्पन्न लोगों के लिए तो इस प्रकार के स्थल में पक्ष दोष ही है। व्युत्पन्न पुरुष का इस रीति से प्रयोग पक्ष दोष से ही दूषित हो जाता है। प्रमेय कमल मार्तण्ड में प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं - लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्न प्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दृष्टत्वात् ॥ ३६ ॥

(प्र. क. मा. ६।३६)

गौतमीय न्याय के अनुगामी भी सिद्ध साधन को हेत्वाभासरूप में स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है-दो प्रकार से हेतु हेत्वाभास होता है। अनुमिति के करण का विरोधी होनेसे अथवा अनुमिति का विरोधी होनेसे। विरुद्ध और अनैकान्तिक अनुमिति के करण व्याप्ति ज्ञान का विरोध करते हैं इसलिये वे हेत्वाभास हैं। बाध अनुमिति का प्रतिबंधक है इसलिए हेत्वाभास है। सिद्ध साधन न व्याप्ति का विरोधी है न सीधा अनुमिति का-अतः हेत्वाभास नहीं है। जो लोग सिद्ध साधन को अनुमिति की उत्पत्ति में प्रतिबंधक मानते हैं, वे कहते हैं-जिस प्रकार व्याप्ति ज्ञान अनुमिति की उत्पत्ति में कारण है इस प्रकार पक्षधर्मता का ज्ञान भी कारण है। हेतु पक्ष में रहना चाहिये। पक्ष वह होता है जिसमें साध्य धर्म असिद्ध हो और उसके सिद्ध करने की इच्छा हो। जब किसी प्रमाण से साध्य की सिद्धि हो जाती है तो उसको सिद्ध करने की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। साध्य धर्म सिद्ध है और उसके सिद्ध करने की इच्छा

भी नहीं है इसलिए वहाँ धर्मी पक्ष नहीं है। पक्ष न होनेके कारण वहां हेतु पक्ष का धर्म नहीं है इस प्रकार सिद्ध साधन पक्षता का विनाश करके अनुमिति का विरोध करता है। इसी लिए यदि साध्य की सिद्धि होने पर भी सिद्ध करने की इच्छा हो जाय तो सिद्धसाधन दोष नहीं रहता।

इस मत के अनुसार भी सिद्ध साधन पक्ष के स्वरूप का विरोधी है, अतः इसको पक्ष दोष ही मानना चाहिये।

मूलम्:–एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः।

अर्थः–इस कथन से कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभास का भी खंडन समझ लेना चाहिए।

विवेचनाः—हेतु के प्रयोग का जो उचित काल है उसका अतिक्रमण करके जो हेतु कहा जाता है वह कालात्ययापदिष्ट है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जिसका निराकरण नहीं हुआ वह पक्ष है। उस पक्ष के ग्रहण करने के काल को उल्लंघन करके जिस हेतु का प्रयोग हो वह हेतु प्रमाण से बाधित विषय में प्रवृत्त होनेके कारण कालात्ययापदिष्ट होता है। यहां पर भी साध्य बाधित है, इसलिए पक्ष दोष है हेतु का दोष नहीं है। जहां साध्य के अभाव का निश्चय है वहाँ साध्य की अनुमिति नहीं होती। जहां पर जिस भाव का ज्ञान है वहाँ पर उसी भाव के अभाव का ज्ञान नहीं होता। साध्याभाव की बुद्धि से पक्ष के स्वरूप का विनाश होता है। हेतु में कोई विकार नहीं आता; इसलिये बाध के स्थल में भी पक्ष दोष मानना चाहिये।

मूलम्:–प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यबलसाध्यतद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथानुपपत्त्यनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावादिति संक्षेपः।

अर्थः–प्रकरण सम भी अधिक हेत्वाभास नहीं है। साध्य और साध्य के अभाव के साधक तुल्य बलवाले दो हेतुओं को प्रकरण सम कहा जाता है। इसमें प्रकृत साध्य और साधनों की अन्यथानुपपत्ति का निश्चय न होने पर असिद्ध में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यह संक्षेप से कथन है।

विवेचनाः—नैयायिक कहते हैं—जिस हेतु के कारण पक्ष के समान प्रतिपक्ष की भी चिंता होने लगती है वह हेतु जब निश्चय के लिए कहा जाता है तब वह प्रकरण सम कहा जाता है। विशेष धर्म का ज्ञान न होने पर सन्देह होता है। जहां सन्देह होता है वहां दो परस्पर विरोधी धर्मों का ज्ञान होता है। किसी भी एक धर्म के साधक विशेष धर्म का ज्ञान नहीं होता। दूरसे किसी ऊंचे अर्थ को देखकर यदि विशेष धर्मों का निश्चय न हो, तो 'स्थाणु है वा पुरुष' इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न होता है। सन्देह के उत्पन्न होने से पहले वृक्ष के शाखा, पत्र, फूल, फल आदि विशेष धर्मों का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार हाथ, पैर, शिर आदि पुरुष के विशेष धर्मों का ज्ञान नहीं होता। यदि इन दोनों परस्पर विरोधी धर्मोंमें से किसी एक विशेष धर्म का ज्ञान हो जाय तो सन्देह

नहीं रहता। वृक्ष है अथवा पुरुष है-इस प्रकार का निश्चय हो जाता है। प्रत्यक्ष विषय में सन्देह की उत्पत्ति का यह स्वरूप है। जहां विषय प्रत्यक्ष नहीं है वहां पर भी यदि विशेष धर्मों की प्रतीति न हो और उसी अप्रतीति को किसी एक विरोधी धर्म को सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में कहा जाय तो सन्देह होने लगता है। वादी अथवा प्रतिवादी जब विशेष धर्म के अज्ञान को किसी एक विरोधी धर्म की सिद्धि के लिये हेतुरूप में प्रयोग करता है, तो प्रतिपक्षी भी अपने साध्य की सिद्धि के लिये विशेष धर्म के अज्ञान को हेतुरूप में कहता है। इस प्रकार विशेष धर्मों का अज्ञान, वादी और प्रतिवादी के लिये विरोधी साध्यों का साधकरूप हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष के लिए समान होनेके कारण इसको प्रकरणसम कहा जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं। जो प्रकरण में सम है वह प्रकरणसम है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रकरणसम का यह स्वरूप है।

इसका उदाहरण—शब्द अनित्य है, नित्य के धर्म का उपलम्भ न होनेसे, घट आदिके समान। जो नित्य होता है, उसमें नित्य के धर्म का अज्ञान नहीं होता। आत्मा आदि नित्य अर्थ हैं, उनमें नित्य के धर्म का अज्ञान नहीं है। इस प्रकार एक जब नित्य धर्म के अज्ञान को अनित्यत्वरूप साध्य की सिद्धि के लिये हेतुरूप में प्रयोग करता है तो दूसरा कहता है-यदि इस रीति से आप अनित्यता को सिद्ध करते हैं तो नित्यत्व धर्म की सिद्धि भी इस रीति से हो सकती है। शब्द नित्य है, अनित्य अर्थ के धर्म के अज्ञात होनेसे, आत्मा आदिके समान। जो अनित्य होता है उसमें अनित्य के धर्म का अज्ञान नहीं होता। घट आदि इसमें दृष्टांत हैं। विशेष

धर्म के अज्ञान को वादी और प्रतिवादी नित्यत्व और अनित्यत्व दो परस्पर विरोधी साध्यों की सिद्धि के लिये हेतु-रूप में कहते हैं इसलिए विशेष धर्म का अज्ञानरूप हेतु एक कहा जा सकता है। एक के लिये नित्य धर्म का अज्ञान हेतु है और दूसरे के लिए अनित्य धर्म का अज्ञान हेतु है। दो विरोधी साध्यों के साथ सम्बन्ध होनेके कारण विशेष धर्म का अज्ञान दो हेतुओं के रूप में हो जाता है। इसलिये उपाध्यायजी प्रकरणसम को दो हेतुओं के रूप में कहते हैं।

एक हेतु के रूप में हो अथवा दो हेतुओं के रूप में हों, प्रकरणसम असिद्ध आदि तीन हेत्वाभासों से अतिरिक्त नहीं है। जो वादी नित्य धर्म के अज्ञान को हेतुरूप में कहता है यदि वह ज्ञान के केवल अभाव को साध्य का साधक समझता है, तो उसका मत युक्त नहीं है। ज्ञान का अभाव सर्वथा असत् होने पर तुच्छरूप होगा और तुच्छ किसी भावात्मक साध्य का साधक नहीं हो सकता। यदि वादी नित्य धर्म के अज्ञान का अर्थ अनित्य धर्म के ज्ञान को समझता है, तो वह भी युक्त हेतु नहीं है। यदि अनित्य धर्म का ज्ञान सिद्ध हो, तो शब्द में अनित्यत्व साध्य की सिद्धि हो जायगी। यदि अनित्य धर्म का ज्ञान वादी के लिए निश्चित नहीं है तो हेतु वादी के लिए संदिग्धासिद्ध हो जायगा। प्रतिवादी की अपेक्षा से तो अनित्य धर्म का ज्ञानरूप हेतु स्वरूपासिद्ध है। प्रतिवादी शब्द में नित्य धर्म के ज्ञान को सिद्धरूप में स्वीकार करता है। इसी प्रकार अनित्य धर्म का अज्ञान भी हेतुरूप में युक्त नहीं है। अभिप्राय यह है, यदि विरोधी हेतु का ज्ञान सिद्ध है तो वह अपने साध्य की सिद्धि अवश्य करेगा। यदि विरोधी हेतु निश्चित

नहीं है तो वह वादी की अपेक्षा से संदिग्धासिद्ध और प्रतिवादी की अपेक्षा से स्वरूपासिद्ध होगा। इस प्रकार प्रकरणसम हेत्वाभास असिद्ध के अन्तर्गत है।

नवीन नैयायिक प्रकरणसम को सत्प्रतिपक्ष नाम से कहते हैं। उनके अनुसार जिस काल में एक हेतु साध्य की सिद्धि के लिए बोला जाता है उसी काल में साध्य के विरुद्ध साध्याभाव का साधक हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। दोनों हेतुओं में अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता। अप्रामाण्य के समान दोनों हेतुओं में प्रामाण्य का ज्ञान भी नहीं होता। वादी और प्रतिवादी दोनों अपने अपने हेतुओं को विरोधी साध्यों के अभाव का साधक मानते हैं। इस मत के अनुसार भी साध्याभाव के साधक हेतु की व्याप्ति यदि निश्चित है, तो साध्य की सिद्धि हो जानी चाहिये और यदि व्याप्ति निश्चित नहीं है तो हेतु असिद्ध हो जायगा। कोई इस प्रकार का स्वरूप नहीं है जिसके कारण सत्प्रतिपक्ष को असिद्ध से भिन्न कहा जा सके।

प्राचीन और नवीन नैयायिकों के प्रकरणसम और सत्प्रतिपक्ष में कुछ भेद है। प्राचीन नैयायिकों ने जो उदाहरण दिया है उससे प्रतीत होता है, वादी और प्रतिवादी विरोधी साध्य के साधक धर्म की अनुपलब्धि को हेतुरूप में जब कहते हैं तब दोनों हेतु परस्पर की अपेक्षा से प्रकरणसम होते हैं। नित्य धर्म और अनित्य धर्म की अनुपलब्धिरूप दो प्रकरणसम हेतु विशेष धर्म के अज्ञानरूप हैं। नवीन नैयायिकों के अनुसार एक वादी यदि पर्वत में वह्नि को सिद्ध करने के लिये धूम को हेतुरूप में कहे और दूसरा पर्वत में वह्नि के अभाव को सिद्ध करने के लिए पाषाणमयत्व को हेतुरूप में कहे तो 'पर्वत वह्निवाला है धूम होनेसे, महानस के समान'

और 'पर्वत वह्नि के अभाव से युक्त है पाषाणमय होनेसे, वह्नि रहित पर्वत के समान' ये दोनों हेतु परस्पर सत्प्रतिपक्ष हो जाते हैं। धूम हेतु वास्तव में हेत्वाभास नहीं है परंतु भ्रम से पाषाणमयत्वरूप हेतु के कारण वह्नि की अनुमिति रुक जाती है। इस उदाहरण में विशेष धर्म का अज्ञान हेतु नहीं है। वादी धूम को और प्रतिवादी पाषाणमयत्व को हेतु रूप में कहता है। दोनों हेतु परस्पर विरोधी होनेसे सत्प्रतिपक्ष हैं परंतु वह्नि और वह्नि के अभाव के साधक हेतु विशेष धर्म के अज्ञानरूप नहीं है। इस भेद के होने पर भी दोनों उदाहरणों में हेतु जब दोष युक्त होता है तो वह असिद्ध से भिन्न नहीं हो सकता।

[आगम प्रमाण का निरूपण]

मूलम्–आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।

अर्थः–आप्त पुरुष के वचन से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान आगम है।

विवेचनाः–अर्थ के सत्य स्वरूप को जो जानता है और यथार्थ ज्ञान के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन करता है वह आप्त है। उसके वचन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आगम प्रमाण है। मुख्यरूप से आगम प्रमाण ज्ञानरूप है, परन्तु श्रोता के ज्ञान की उत्पत्ति में आप्त पुरुष का वचन कारण है इसलिए कारण में ज्ञानरूप कार्य के वाचक आगम शब्द का उपचार से प्रयोग होता है और आप्त वचन को आगम प्रमाण कहा जाता है। जिनको अर्थ का सत्य ज्ञान नहीं है अथवा सत्य ज्ञान होने पर भी लोगों को वंचित करने के लिये जो अयुक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं वे आप्त

नहीं अनाप्त हैं। उनके वचन से उत्पन्न ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और वह आगम प्रमाण नहीं है।

मूलम्:–न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद्धूमवदस्यानुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्यार्थबोधकत्वात्।

अर्थः–व्याप्ति ज्ञान के बल से आगम, अर्थ का प्रतिपादन करता है। इसलिए धूम के समान इस आगम का भी अनुमान में अन्तर्भाव है। इस प्रकार यदि कहो तो वह कथन युक्त नहीं हैं। मिथ्या और सत्य कार्षापण के निश्चय में समर्थ प्रत्यक्ष के समान अभ्यास की दशा में व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा के बिना आगम, अर्थ का ज्ञान कराता है। अतः आगम का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं है।

विवेचनाः–वैशेषिक शास्त्र के मत को माननेवाले लोग आगम प्रमाण को अनुमान से भिन्न नहीं मानते। वे कहते हैं व्याप्ति ज्ञान के बल से जब एक अर्थ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, तो अनुमान प्रमाण कहा जाता है। धूम और वह्नि को व्याप्ति है इसलिए धूम परोक्ष वह्नि को प्रतीति कराता है। धूम अनुमान प्रमाण है। शब्द से जब अर्थ की प्रतीति होती है, तब शब्द भी व्याप्ति के बल से अर्थ का ज्ञान कराता है 'जहां धूम है वहाँ वह्नि है' इस सम्बन्ध को जाननेवाला पुरुष धूम को देखकर वह्नि की अनुमिति

करता है। यह 'शब्द' वाचक है और यह 'अर्थ' वाच्य है इस प्रकार वाच्य-वाचकरूप सम्बन्ध को जो जानता है वह शब्द को सुनकर अर्थ को समझता है। जिसको वाच्य-वाचक भाव का ज्ञान नहीं है वह किसी पद वा वाक्य को सुनकर अर्थ को नहीं समझता—इसलिए धूम के समान शब्द भी अनुमान है।

जैन कहते हैं व्याप्ति की अपेक्षा से अर्थ का प्रतिपादन करनेके कारण शब्द, अनुमान नहीं हो सकता। जो लोग तांबा, चांदी और सोना की मुद्राओं को सदा लेते देते हैं वे रूप और परिमाण आदिके ज्ञान से झूठी और सच्ची मुद्राओं को देखकर अथवा छूकर पहचान लेते हैं। इस प्रकार का रूप, स्पर्श और शब्द हो तो मुद्रा सच्ची होती है और इससे भिन्न हो तो खोटी होती है इस नियम से वे जान लेते हैं। अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। चक्षु से रूप का और रूप से युक्त वृक्ष आदिका, त्वचा से कोमल और कठोर स्पर्श का और स्पशवाले पुष्प आदिका, कान से तीव्र-मन्द शब्द का प्रत्यक्ष होता है। अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होते ही इन्द्रिय ज्ञान को उत्पन्न करती हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए इन्द्रियों को किसी सहकारी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। मुद्रा के रूप और स्पर्श अथवा शब्द का ज्ञान इंद्रिय किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा के बिना करती हैं। अतः रूप आदिका ज्ञान प्रत्यक्ष है। परन्तु रूप और शब्द आदि विशेष प्रकार के हों तो मुद्रा सच्ची अथवा खोटी होती है, इस नियम की सहायता से होनेवाला ज्ञान केवल इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं है तो भी वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।

शब्द भी, जो आम्र शब्द है वह आम्ररूप अर्थ का वाचक है इस वाच्य-वाचक भाव के ज्ञान की सहायता से आम्ररूप अर्थ का प्रतिपादन करता है। यह ज्ञान भी मुद्रा के सच्चे खोटे होने के ज्ञान के समान अनुमान से भिन्न है। व्याप्ति की अपेक्षा के होने पर भी सच्ची और खोटी मुद्रा का ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष है. इसी प्रकार व्याप्ति की अपेक्षा होनेपर भी शब्द से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान भी अनुमान से भिन्न है। यहां शंका हो सकती है- सच्ची खोटी मुद्रा को पहचानने के लिये पहले व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा होती है और पीछे अभ्यास हो जाने पर व्याप्ति की अपेक्षा नहीं रहती अतः यह प्रत्यक्ष है। परंतु जब व्याप्ति की अपेक्षा हो तो यह ज्ञान अनुमान होता है। देखनेवाला अनुमान करता है--पहले जिन खोटी मुद्राओं को मैंने देखा था उनके रूप स्पर्श आदि विशेष प्रकारके थे। वे जिस प्रकार के थे उसी प्रकार के रूप आदि इस मुद्रा के भी हैं जिसको मै देख रहा हूं। इसलिये यह भी खोटी है।

इसका समाधान इस प्रकार है--जो कुछ आपने कहा है वह आगम प्रमाण में भी समान रूप से कहा जाता है। अभ्यास की अवस्था में व्याप्ति की अपेक्षा शब्द में भी नहीं होती। सुनते ही वाच्य अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जब अभ्यास नहीं होता तब शब्द भी अनुमानरूप होता है। आम्र शब्द वाचक है और विशेष प्रकार का वृक्ष वाच्य है, इस वाच्य-वाचक भाव को जो भूल गया है. वह किसी काल में आम्र शब्द को सुनने पर अनुमान करने लगता है--आम्र शब्द जब जब बोला जाता है तब तब विशेष प्रकार के वृक्ष का ज्ञान कराता है। चैत्र आदिने जब कभी आम्र शब्द का

प्रयोग किया था तो वृक्ष विशेष का ज्ञान हुआ था, अब मैत्र भी आम्र शब्द का प्रयोग कर रहा है इसलिए यह आम्र शब्द भी वृक्ष विशेष का वाचक है। इस रीतिसे शब्द जब व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा से अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करता है तब अनुमानरूप होता है। परन्तु जब अभ्यास होने पर व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा से रहित होकर अर्थ को प्रकाशित करता है तब अनुमान से भिन्न होता है। इस विषय में खोटी सच्ची मुद्रा के भेद को प्रकाशित करने वाले प्रत्यक्ष के समान शब्द है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष, अनुमान से जिस प्रकार भिन्न है इस प्रकार शब्द भी।

मूलम्:-यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवणआप्तः, वर्णपदवाक्यात्मकं तद्वचनम्,

अर्थः-जो पुरुष अर्थ के वास्तवरूप को जानकर हित का उपदेश करने में कुशल है वह आप्त है। उसका वचन वर्ण, पद और वाक्यरूप होता है।

मूलम्:-वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकः, पदं सङ्केतवत्, अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाक्यम्।

अर्थः-पुद्गलों से उत्पन्न अकार आदि वर्ण है, सङ्केत से युक्त पद कहा जाता है। परस्पर की अपेक्षा करनेवाले पदों का समूह वाक्य है।

विवेचनाः-नैयायिक वर्णों को आकाश का गुण मानता है। कुमारिल भट्ट का अनुगामी वर्णों को नित्य और व्यापक

द्रव्य मानता है। सांख्य का अनुगामी अहंकार नामक तत्व से उत्पन्न कहता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति से महत् नामक तत्त्व उत्पन्न होता है और महत् से अहंकार नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। अहंकार से शब्द उत्पन्न होता है यह शब्दतन्मात्र कहा जाता है और इस शब्दतन्मात्र से आकाश नामक स्थूल भूत उत्पन्न होता है। वर्णरूप और ध्वनिरूप शब्द इस आकाश का गुण है इन सब मतों से भिन्न मत जैनों का है। इनके अनुसार भाषावर्गणा के परमाणुरूप पुद्गलों से अकार आदि वर्ण उत्पन्न होता है। पृथिवी, जल आदि द्रव्य जिस प्रकार पुद्गलों के परिणाम हैं इस प्रकार वर्ण भी पुद्गलों के परिणाम हैं।

किसी अर्थ में जिसका संकेत है इस प्रकार का वर्ण अथवा परस्पर की अपेक्षा रखनेवाले वर्णों का समूह पद है। अर्थ का ज्ञान करने में परस्पर की अपेक्षा करनवाले और अन्य वाक्य के पदों की अपेक्षा न रखनेवाले पदों का समूह वाक्य है। 'गाम् आनय' यह एक वाक्य है-इसके दो पद हैं। गाम् और आनय। आनय, गाम् की आकांक्षा करता है और गाम् आनय की।

मूलम्:—तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, तथैव परिपूर्णार्थप्रापकत्वलक्षणतात्त्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्, क्वचिदेकभङ्गदर्शनेऽपि व्युत्पन्नमतीनामितरभङ्गाक्षेपध्रौव्यात्।

अर्थः—यह आगम प्रमाण सब स्थानों पर विधि और प्रतिषेध के द्वारा अपने वाच्य अर्थ का निरूपण करता हुआ सप्तभङ्गी का अनुसरण करता है। सप्तभङ्गी के रूप में ही वह पूर्ण अर्थ का प्रकाशन करता है और इस प्रकार उसके तात्त्विक प्रामाण्य का निर्वाह होता है। कहीं कहीं पर एक भङ्ग देखा जाता है तो भी व्युत्पन्न बुद्धिवालों को अन्य भङ्गों का आक्षेप अवश्य हो जाता है।

विवेचनाः—वाच्य अर्थ की प्रतीति को उत्पन्न करने-के कारण आगम प्रमाण है। आगम का यह प्रामाण्य दो प्रकारका है, तात्त्विक और लौकिक। तात्त्विक प्रामाण्य तब होता है जब शब्द परिपूर्ण अर्थ का प्रकाशन करता है। शब्द के द्वारा पूर्ण अर्थ का प्रकाशन तब होता है जब शब्द विधि और निषेध के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ, सप्तभङ्गों को प्राप्त करता है। अर्थ में अनन्त धर्म हैं। उनमें से किसी एक धर्म के विषय में अपेक्षा से विरोधी धर्म के साथ सात भङ्गों द्वारा प्रतिपादन पूर्ण ज्ञान का उत्पादक है। यहां पर ज्ञान की पूर्णता पारिभाषिक है। अनन्त पर्यायों के साथ समस्त अर्थों का प्रकाशक केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है। सप्तभङ्गी के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें वह पूर्ण भाव नहीं होता जो केवलज्ञान में होता है। सप्तभङ्गी किसी एक धर्म के विषय में सात प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करती है, इस ज्ञान की पूर्णता इतनी ही है। यह स्पष्टरूप से अनन्त धर्म तो क्या ? प्रतिपाद्य धर्म के अति

रिक्त किसी दूसरे धर्म का भी प्रतिपादन नहीं करती। केवलज्ञान और सप्तभङ्गी से उत्पन्न ज्ञानों की पूर्णता में यह बडा भारी भेद है। लौकिक वाक्य की अपेक्षा सप्तभङ्गी वाक्य अधिक धर्मों का प्रकाशक है इसलिए पूर्ण ज्ञान का जनक कहा गया है।

सप्तभङ्गी आगम प्रमाण है और आगम श्रुतरूप है। श्रुत तीन काल के अर्थों को प्रकाशित करता है और केवलज्ञान भी। श्रुत और केवल में इतना साम्य है, परन्तु केवलज्ञान समस्त द्रव्यों के अनन्त पर्यायों का जिस स्पष्ट भाव से प्रकाशन करता है उस स्पष्ट भाव से श्रुत नहीं प्रकाशित करता। इसके अतिरिक्त श्रुत केवल सप्तभङ्गीरूप नहीं है। द्वादश अंग और उपांग, श्रुत के अन्दर आ जाते हैं। वे सब अङ्ग और उपांग, तीन काल के अर्थों को प्रकट करते हैं। किसी एक अर्थ के किसी एक सत्त्व अथवा असत्त्व धर्म को लेकर सात प्रकार से प्रतिपादन करनेवाली सप्तभङ्गी मुख्य भाव से किसी एक धर्म का प्रतिपादन कर सकती है। समस्त पर्यायों के साथ समस्त द्रव्य उसके विषय नहीं हैं। सप्तभङ्गी सात प्रकार से धर्म का प्रतिपादन करने के कारण प्रमाणवाक्य अवश्य है। परन्तु वह विशाल श्रुत प्रमाण का अत्यन्त सूक्ष्म अंश है, इस पारिभाषिक पूर्णता के अभिप्राय से सप्तभङ्गी वाक्य को प्रमाण वाक्य और पूर्ण ज्ञान का जनक कहा गया है। सप्तभङ्गी के सात भङ्ग हैं। प्रत्येक भङ्ग सात प्रकार से अर्थ के किसी एक सत्त्व, नित्यत्व, आदि धर्म का निरूपण नहीं करता। एक एक भङ्ग प्रमाण वाक्य नहीं है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी नयोपदेश में सप्तभङ्गी के

अन्तर्गत अथवा उसके बहिर्गत किसी एक भङ्ग को नय वाक्य कहते हैं।

(नयोपदेश-नयामृततरङ्गिणी और आ. विजय लावण्य-सूरि रचित तरङ्गिणी से युक्त, पृ. ५२)

जो व्युत्पन्न पुरुष है उसके सामने यदि एक भङ्ग को भी कहा जाय तो वह स्याद्वाद से परिचित होनेके कारण अन्य भङ्गों का स्वयं आक्षेप कर लेता है। इस प्रकार उसको सात भङ्गों के समुदाय से पूर्ण अर्थ का ज्ञान हो जाता है। सात भङ्ग सात वाक्य हैं, परस्पर मिलकर वे एक महा वाक्य बन जाते हैं।

अर्थ केवल भावरूप नहीं अभावरूप भी है इसलिए सप्तभङ्गी विधि और निषेध दोनों के द्वारा अर्थ का निरूपण करती है।

मूलम्:-यत्र तु घटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये सप्तभङ्गीसंस्पर्शशून्यता तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तत्त्वतो न प्रामाण्य-मिति द्रष्टव्यम्।

अर्थः-घट है इत्यादि जिस लोक वाक्य में सप्तभङ्गी का स्पर्श नहीं है वहां पर लोगों की अपेक्षा से प्रामाण्य है। परंतु तत्त्व की अपेक्षा से उसमें प्रामाण्य नहीं है।

विवेचनाः-लोग जब कहते हैं 'घट है' तो सुननेवाले को केवल घट की सत्ता का ज्ञान होता है। सत्त्व के विषय में सात प्रकार का ज्ञान नहीं होता। केवल सत्ता का ज्ञान होने पर भी यह ज्ञान शुक्ति में रजत ज्ञान के समान अथवा मरु-स्थल में पानी के ज्ञान के समान भ्रान्त नहीं है। शुक्ति को

रजत समझकर लेनेके लिए जो प्रवृत्ति करता है उसको रजत नहीं मिलता किन्तु शुक्ति मिलती है। वह शुक्ति के द्वारा रजत के आभूषणों की रचना नहीं करा सकता। इसी प्रकार जो जल समझकर मरुस्थल में प्रवृत्ति करता है उसको पानी नहीं मिलता और न उसकी प्यास पानी पीने से दूर होती है। अर्थ की प्राप्ति न होने से इस प्रकार के ज्ञान अप्रमाण हैं घट है' इत्यादि वाक्य को सुनकर जब कोई प्रवृत्ति करता है तो उसको घट मिल जाता है। घट की प्राप्ति का कारण होनेसे लौकिक वाक्य के द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। यदि मरुस्थल में जल ज्ञान के समान लौकिक वाक्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अप्रमाण होता तो प्रवृत्ति करने पर घट की प्राप्ति न होती। घट का प्रकाशक प्रत्यक्ष ज्ञान घट की प्राप्ति का कारण होने से जिस प्रकार प्रमाण है इस प्रकार अर्थ को प्राप्त करानेवाला लौकिक वाक्य भी प्रमाण है।

लौकिक प्रत्यक्ष और लौकिक वाक्य की प्रमाणता समान है। घट आदि लौकिक अर्थ अनन्तधर्मों से युक्त हैं। प्रत्येक अर्थ के कुछ अपने पर्याय हैं और कुछ पर पर्याय हैं। रूप, स्पर्श आदि घट के स्व पर्याय हैं और पट-वृक्ष आदिसे भेद पर पर्याय हैं। घट से जितने भिन्न अर्थ हैं उन सबसे भेद घट में विद्यमान है। घट से भिन्न अर्थ अनन्त हैं इसलिए उन सबसे भेद भी अनन्त हैं। इन सभी स्व-पर पर्यायों के साथ घट का भेदाभेद है। इसलिये घट अनन्त धर्मात्मक है।

अन्य युक्तियों से भी अर्थों के अनन्त धर्म सिद्ध होते हैं। जब कोई घट आदि द्रव्य उत्पन्न होता है तभी त्रिभुवन के अन्दर जितने द्रव्य हैं उन सबके साथ साक्षात् अथवा परम्परा

से सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। आकाश-धर्मास्तिकाय--अधर्मास्तिकाय-आदि द्रव्य व्यापक हैं। उनका समस्त द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है। जब कोई घट आदि द्रव्य उत्पन्न होता है तब उसका आकाश आदि व्यापक द्रव्यों के साथ सम्बन्ध हो जाता है। व्यापक द्रव्यों का समस्त द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है इसलिए घट का आकाश आदिके द्वारा समस्त द्रव्यों के साथ परंपरा से सम्बन्ध हो जाता है, इस प्रकार घट के अनन्त सम्बन्ध हैं सम्बन्ध घट के धर्म हैं। धर्म का धर्मी के साथ भेदाभेद है। रूप, स्पर्श आदिके साथ घट का जिस प्रकार भेदा-भेद है इस प्रकार अनन्त सम्बन्धरूप धर्मों के साथ भी भेदा भेद है। घट, रूप-स्पर्शाद्यात्मक है और अनन्त सम्बन्धों के साथ अभेद होनेके कारण अनन्तधर्मात्मक भी है। मयूर के अंडे के रसमें जिस प्रकार शिर, ग्रीवा, चोंच, नेत्र आदि अनेक अवयवों की उत्पत्ति एक साथ हो जाती है इस प्रकार अनेक द्रव्यों के साथ एक द्रव्य के अनेक सम्बन्धों की उत्पत्ति भी एक क्षण में हो जाती है। यदि पहले क्षण में ही उत्पत्ति न हो तो पीछे भी कभी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त शीत, उष्ण आदिके सम्बन्ध से भी द्रव्यों में प्रतिक्षण अनेक विकार उत्पन्न होते रहते हैं। वे सब कभी नवीन और कभी प्राचीन रूप में प्रतीत होते हैं। यदि प्रतिक्षण इन विकारों की उत्पत्ति न हो तो क्रम से नवीन और प्राचीनरूप में प्रतीति नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार घट आदि प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मात्मक सिद्ध होता है। अनुमान के द्वारा अर्थ के अनन्त धर्मात्मक सिद्ध होने पर भी प्रत्यक्ष से किसी अर्थ का जब ग्रहण होता है तब कुछ धर्मों का ही प्रत्यक्ष होता है। अनन्त धर्मों का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष

नहीं होता। चक्षु से जब घट के रूप का लौकिक प्रत्यक्ष होता है तब रूपात्मक घट का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है। स्पर्शात्मक होने पर भी चक्षु से स्पर्शात्मक घट का प्रत्यक्ष नहीं होता। स्पर्श चक्षु का विषय नहीं है, इसलिये स्पर्शात्मक रूप से चक्षु घट को नहीं जान सकती। स्पर्श के साथ प्रत्यक्ष न होने पर भी घट चक्षु का विषय है। स्पर्श के समान जिन अनेक धर्मों का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उन धर्मों से अभिन्न रूप में चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करती। घट अनंत धर्मात्मक है और चक्षु का विषय है, इसलिये अनन्त धर्मात्मक घट चक्षु का विषय कहा जाता है। घट के विषय होने मात्र से उसके अनन्त धर्म चक्षु के विषय नहीं हो जाते। अनन्त धर्मों का प्रकाशक न होने पर भी चक्षु घट ज्ञान में प्रमाण है। घट है-इत्यादि लौकिक वाक्य भी घट के अनन्त धर्मों को प्रकाशित नहीं करता, वह केवल सत्त्व धर्म को प्रकाशित करता है। इतने से घट के विषय में चक्षु के समान वाक्य का भी लौकिक प्रामाण्य है। अर्थ अनन्त धर्मात्मक है, इसलिये देखने पर घट की जब प्राप्ति होती है तब अनन्त धर्मों के साथ होती है। चक्षु से होनेवाला ज्ञान अनन्त धर्मों के साथ घट की प्राप्ति में हेतु नहीं है। लौकिक वाक्य भी जब किसी अर्थ की प्रतीति को उत्पन्न करके प्राप्ति कराता है तब अनन्त धर्मात्मक वस्तु की प्राप्ति का कारण वस्तु का सहज स्वरूप है। वाक्य उसके अनन्त धर्मों को प्रकाशित नहीं करता। जिस प्रकार घट है इतना वाक्य अनन्त धर्मों को नहीं प्रकाशित करता-इसी प्रकार उन सात प्रकारों को भी नहीं प्रकट करता जो सात भङ्गों से प्रकट होते हैं। अेक रूप को प्रकट करनेवाली चक्षु में जिस प्रकार लौकिक प्रामाण्य है, इस प्रकार घट है-

इत्यादि वाक्य में भी सत्त्व धर्म को प्रकाशित करने के कारण लौकिक प्रामाण्य है।

[सप्तभङ्गी के स्वरूप का निरूपण]

मूलम्:-केयं सप्तभङ्गीति चेदुच्यते-एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्कारालिङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी।

अर्थः-सप्तभङ्गी क्या है? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर यह है—किसी भी एक वस्तु में एक एक धर्म के विषय में प्रश्न करने के कारण बिना विरोध के अलग अलग और मिलित विधि और निषेध की कल्पना के द्वारा स्यात् शब्द से युक्त सात प्रकार का शब्द प्रयोग सप्तभङ्गी कहलाता है।

विवेचनाः—जीव अजीव आदि जितने अर्थ हैं उन सब में सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, आदि धर्मों में प्रश्न करने के कारण विधि और निषेध के द्वारा सात प्रकार का वचन सप्तभङ्गी है। प्रत्येक धर्म का अपने अभावात्मक धर्म के साथ स्वाभाविक विरोध है। अपेक्षा के भेद से परस्पर विरोधी धर्मों के विरोध को दूर करके धर्मी अर्थ अनेक धर्मों से युक्त प्रकाशित किया जाता है। कभी विधि की कल्पना की जाती है और कभी निषेध की। एक अपेक्षा से विधि होती है और अन्य अपेक्षा से निषेध। निरपेक्ष भाव से जो विरोधी हैं उनका विरोध

अपेक्षा के कारण दूर हो जाता है। एक धर्मी में एक काल में विरोधी धर्मों का प्रतिपादन सप्तभङ्गी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिन धर्मों का परस्पर विरोध नहीं है उन धर्मों का धर्मी में एक साथ प्रतिपादन सप्तभङ्गी नहीं है एक फल में रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि एक काल में प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं। रूप आदिका परस्पर विरोध नहीं हैं, वे परस्पर मिलकर रहते हैं, इसलिए उनका एक धर्मी में निरूपण सप्तभङ्गी नहीं है। धर्म का अपने अभाव के साथ विरोध होता है। धर्म भावात्मक है और अभाव उसका निषेधात्मक है। भाव और अभाव स्वाभाविक रूप से परस्पर विरोधी हैं। जहाँ भाव है वहाँ अभाव नहीं और जहाँ अभाव है वहां भाव नहीं। भाव और अभाव रूप विरोधी धर्मों का अपेक्षा के द्वारा एक धर्मी में एक काल में निरूपण हो, तो सप्तभङ्गी हो जाती है। कोई भी धर्म हो उसका अपने अभाव के साथ विरोध है इस विरोध को सप्तभङ्गी दूर करती है। किसी भी धर्म के विषय में सप्तभङ्गी होती है तो भाव के साथ अभाव के विरोध को दूर करती ही है। जब सत्त्व और असत्त्व का एक धर्मी में प्रतिपादन होता है तभी भाव और अभाव का विरोध दूर नहीं होता किन्तु जब भेद और अभेद का नित्यत्व और अनित्यत्व आदिका एक धर्मी में प्रतिपादन होता है तभी भाव और अभाव का विरोध दूर हो जाता है। असत्त्व जिस प्रकार सत्त्व का अभाव है इस प्रकार अभेद भेद का अभाव है, नित्यत्व का अभाव अनित्यत्व है। भाव और अभावरूप से विधि और निषेध का प्रतिपादन सप्तभङ्गी का प्राण होता है।

एक धर्मी में एक धर्म का विधान हो और उससे भिन्न किसी अन्य धर्म का निषेध हो, तो सप्तभङ्गी नहीं होती।

अग्नि में रूप है और रस नहीं इस प्रकार कहा जाय तो सप्तभङ्गी नहीं प्रकट हो सकती । अग्नि में रूप के सत्त्व के साथ रस के असत्त्व का विरोध नहीं है । बिरोध से रहित अनेक धर्मों का एक धर्मी में प्रतिपादन करने पर जिस प्रकार सप्तभङ्गी नहीं होती, इस प्रकार एक धर्मी में विरोध से रहित एक धर्म के सत्त्व और अन्य धर्म के असत्त्व का प्रतिपादन हो तो भी सप्तभङ्गी नहीं हो सकती। विरोधी धर्मों में विरोध के अभाव का निरूपण हो, तो सप्तभङ्गी होती है।

वचन के जिन प्रकारों से अर्थ भिन्न हो जाते हैं वे भङ्ग कहे जाते हैं। सात भङ्गों के समूह को सप्तभङ्गी कहते हैं।

मूलम्:–इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते ।

अर्थः–एक वस्तु के प्रत्येक पर्याय में सात प्रकार के ही धर्म हो सकते हैं। इस कारण सात प्रकार के संदेह और इसी कारण संदेह से उत्पन्न सात प्रकार की जिज्ञासा और उनके कारण सात प्रकार के प्रश्न होते हैं, इन प्रश्नों के कारण प्रत्येक पर्याय में सात भङ्ग उत्पन्न होते हैं।

विवेचनाः–मुख्यरूप से सत्त्व और असत्त्व धर्म का आश्रय लेकर सप्तभङ्गी उठती है। क्रम से और क्रम के बिना

इन्हीं दो धर्मों का विधान और निषेध करने के कारण सात-भङ्ग हो जाते हैं। एक धर्म का आश्रय लेकर इन सात प्रकार के धर्मों से अतिरिक्त धर्म नहीं हो सकते, इसलिए उनके विषय में संशय जिज्ञासा और प्रश्न ही नहीं हो सकते, इसलिए सप्तभङ्गी के समान अष्टभङ्गी आदि सम्भव नहीं हैं। प्रत्येक भङ्ग में स्यात् और एवकार का प्रयोग होता है। घट के सत्त्व धर्म को लेकर सात भङ्ग इस प्रकार होंगे-स्यादस्त्येव घटः १, स्यान्नास्त्येव घटः २, स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव च घटः ३, स्यादवक्तव्य एव घटः ४, स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ५, स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ६, स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ७, ।

मूलम्:-तत्र स्यादस्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः।

अर्थः-स्यात् सब पदार्थ हैं ही इस प्रकार प्रधान रूप से विधि की विवक्षा करने पर प्रथम भङ्ग होता है।

विवेचनाः-सब अर्थों को धर्मी बनाकर और एक सत्त्व धर्म का आश्रय लेकर भङ्गों का प्रकाशन किया जाय तो घट आदि सभी धर्मियों में सत्त्व आदिके प्रकाशक भङ्गों के प्रयोगों का ज्ञान सरलता से हो सकता है। इस कारण सब को धर्मी बनाकर प्रथम भङ्ग का निरूपण किया।

मूलम्:-स्यात् कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः।

अर्थः-स्यात् का अर्थ है कथञ्चित्। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से, यह अर्थ है।

विवेचनाः–स्यात् अनेकान्त का प्रकाशक अव्यय है। यह 'तिङन्त' पद नहीं है किन्तु तिङन्त के समान है और अपेक्षा का बोध कराता है। अपेक्षा के द्वारा जब सत्त्व धर्म का प्रतिपादन होता है तब प्रथम भङ्ग होता है। अपेक्षा अेक प्रकार का मानस ज्ञान है। भावों के कुछ धर्म परस्पर अपेक्षा नहीं रखते और कुछ धर्म परस्पर अपेक्षा रखते हैं। रूप रस आदि परस्पर सापेक्ष नहीं हैं। सत्त्व और असत्त्व आदि अपेक्षा से प्रतीत होते हैं, इसलिए अपेक्षा के द्वारा इनका प्रतिपादन भङ्गरूप हो जाता है।

मूलमः–अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरादित्वेन, न वासन्तिकादित्वेन। भावतः श्यामादित्वेन, नरक्तादित्वेनेति।

अर्थः–घट आदि द्रव्य की अपेक्षा से पार्थिव आदि स्वरूप के द्वारा है, जल आदि रूप से नहीं है। क्षेत्र की अपेक्षा से पाटलिपुत्र में है, कान्यकुब्ज में नहीं है। काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु में है, वसन्तऋतु में नहीं है। भाव की अपेक्षा से श्याम आदि रूप में है, रक्त आदि रूप में नहीं है।

विवेचनाः—प्रत्येक द्रव्य का कोई उपादान कारण होता है और वह किसी देश में और किसी काल में होता है। जब द्रव्य प्रतीत होता है तब अपने गुणों और पर्यायों के

साथ प्रतीत होता है । गुण और पर्याय के साथ अर्थ का प्रतीत होनेवाला स्वरूप भाव है। जब भी कोई अर्थ प्रतीत होता है तब उपादान कारण देश काल और अपने गुणों और पर्यायों के साथ प्रतीत होता है। मिट्टी का घडा जब दिखाई देता है तब उपादान कारण मिट्टी भी दिखाई देती है। वह किसी न किसी देश में और किसी न किसी काल में प्रतीत होता है। कोई गुण और पर्याय भी उसका दृष्टि गोचर होता है। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के बिना किसी अर्थ का स्वरूप विचार में भी नहीं लाया जा सकता। अर्थ के साथ अपरिहार्यरूप से रहनेवाले द्रव्य, क्षेत्र आदि अर्थ के अपने होते हैं। जो द्रव्य क्षेत्र आदि स्व नहीं हैं अर्थात् अपने नहीं है उनकी अपेक्षा से अर्थ सत् नहीं होता। घट जब है तब अपने उपादान पृथिवी के साथ रहता है, पृथ्वी के बिना घट नहीं रह सकता। जल घट का उपादान कारण नहीं है इसलिए जलरूप से घट सत् नहीं हैं। जब घट किसी एक स्थान में रहता है तब अन्य स्थान में वह नहीं रहता। अन्य स्थान की अपेक्षा से वह असत् है। जब घट वर्तमान काल में प्रतीत होता है तब अनागत अथवा अतीत काल में प्रतीत नहीं होता । वर्तमान काल की अपेक्षा से घट सत् होता हुआ भी अतीत और अनागत में असत् है । इसी प्रकार दिखाई देनेके समय पर यदि घट श्याम हो तो श्याम स्वरूप से ही सत् है। पीत अथवा रक्त रूप से सत् नहीं है। उस काल में श्याम रूप के साथ ही घट का अभेद है। उपादान पृथिवी के साथ और श्याम आदि गुणों के साथ घट का भेदाभेद है। देश और काल के साथ भेदाभेद तो नहीं है किंतु संयोग सम्बन्ध है। उपादान और गुणों के समान देश और काल के साथ

भेदाभेद न होने पर भी अवश्यंभावी संयोग सम्बन्ध है। इन नियत संबधियों के साथ ही अर्थ प्रतीत होता है इसलिए इनकी अपेक्षा से सत् है। जो द्रव्य क्षेत्र आदि पर हैं उनके साथ प्रतीति नहीं होती इसलिए उनकी अपेक्षा से असत् है।

मूलम्:–एवं स्यान्नास्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः।

अर्थः–इसी प्रकार किसी अपेक्षा से सब पदार्थ नहीं हैं इस रीति से निषेध की प्रधानरूप से विवक्षा के द्वारा दूसरा भङ्ग होता है।

विवेचनाः–प्रथम भङ्ग में सत्त्वरूप धर्म की प्रधानरूप से विवक्षा है, इस कारण असत्त्व का ज्ञान गौण रूप से होता है। सर्वथा असत्त्व की अप्रतीति नहीं होती। प्रत्येक भङ्ग एक एक नियत धर्म को प्रधानरूप से प्रकट करता है। अभावात्मक विरोधी धर्मों की प्रतीति अप्रधानरूप से होती है। सप्तभङ्गी श्रुत प्रमाण का अवान्तर भेद है। एक एक भङ्ग नयरूप वाक्य है। विरोधी धर्म का सर्वथा निषेध न करके किसी धर्म का निरूपण करना नय के स्वरूप के लिए आवश्यक है। यदि पहला भङ्ग असत्त्व का सर्वथा निषेध करे तो वह नय वाक्य ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार यदि दूसरा भङ्ग सत्त्व का सर्वथा निषेध करे तो वह भी नय न होकर दुर्नय हो जायगा। इस दशा में नयों का समूहरूप सप्तभङ्गी भी अप्रमाण हो जायगी। सत्त्व और असत्त्व सापेक्ष भाव हैं। अपेक्षा युक्त अर्थों में अपेक्षा से ही प्रतिपादन होना चाहिए। सत्त्व और असत्त्व, रूप-रस स्पर्श आदिके समान सर्वथा परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। स्वद्रव्य और पर द्रव्य आदि

की अपेक्षा से किसी भी अर्थ का सत्त्व और असत्त्व अनुभव सिद्ध है। शब्द जब द्रव्य आदिकी अपेक्षा के बिना अर्थ के सत्त्व और असत्त्व का प्रकाशन करता है तब वह नय वाक्य नहीं होता। तब उसमें लौकिक प्रामाण्य रहता है। सप्त-भङ्गीरूप प्रामाण्य के लिए अथवा प्रथम द्वितीय आदि भङ्ग-रूप नय के लिए शब्द से उत्पन्न ज्ञान का अपेक्षात्मक होना आवश्यक है।

स्व-द्रव्य क्षेत्र आदिके साथ अर्थ का साक्षात् संबन्ध है। इसलिए उनके कारण एक अर्थ का सत्त्व है, पर जो द्रव्य क्षेत्र आदि भिन्न वस्तु के साथ संबंध रखते हैं, वे भी सत् वस्तु के संबंधी हैं। अपेक्षा के कारण होनेवाला सम्बन्ध दो प्रकार से होता है, सत्त्व के द्वारा और असत्त्व के द्वारा। जो द्रव्य आदि स्व है उनके साथ सत्त्व के द्वारा संबंध है और जो द्रव्य आदि पर हैं उनके साथ असत्त्व के द्वारा सम्बन्ध है। घट अवस्था में पिंड आकार का पर्याय नहीं होता, इसलिये उसके साथ असत्त्व के द्वारा सम्बन्ध है जो द्रव्य क्षेत्र आदि घट के स्वरूप में प्रतीत नहीं होते, वे ही पर कहे जाते हैं और इसलिए उनके साथ असत्त्व के द्वारा सम्बन्ध होता है। सत्त्व के द्वारा जिसके साथ सम्बन्ध है वही संबधी नहीं होता। जिनके साथ असत्त्वरूप से संबंध है वे भी सम्बन्धी होते हैं। यदि वे पर होने के कारण सर्वथा सम्बन्ध से रहित हों तो सामान्य-रूप से उनकी सत्ता कहीं भी नहीं होनी चाहिये। परंतु पर द्रव्य आदि का स्व-स्वरूप से अभाव प्रत्यक्ष और युक्ति के विरुद्ध है। जब लोग कहते हैं दरिद्र के पास धन नहीं है तब असत्त्वरूप से धन का संबंध दरिद्र के साथ होता है, सत्त्वरूप से सम्बन्ध न होनेके कारण असत्त्वरूप से जो सम्बन्ध है उसका निषेध नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं, असत्त्व अभावरूप है और अभाव तुच्छरूप है । तुच्छ का स्वभाव शून्यता है । शून्य की कोई शक्ति नहीं होती, इसलिये उसमें सम्बन्ध करने की शक्ति भी नहीं होती। इस दशा में तुच्छ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, उनका कथन भी युक्त नहीं है। भिन्न भिन्न रूप से न होनेको असत्त्व कहते हैं और असत्त्व वस्तु का धर्म है इसलिये एकान्तरूप से वह तुच्छरूप नहीं है। असत्त्व भी वस्तु है इसलिए उसके साथ सत् वस्तु का सम्बन्ध हो सकता है। अब जो लोग वस्तु के असत्रूप होने पर आक्षेप करते हैं- यदि पर द्रव्य आदि एक अर्थ में नहीं है तो असत्त्व के साथ अर्थ का सम्बन्ध हो सकता है पर जिनका असत्त्व है उन द्रव्य आदिके साथ तो सम्बन्ध नहीं हो सकता । घट का यदि पट के अभाव के साथ संबंध हो तो पट के साथ सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। वे भी युक्त नहीं कहते । पर द्रव्य आदिको अपेक्षा से जब घट का असत्त्व कहा जाता है तब पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा आवश्यक होती है, इसलिये पर द्रव्य आदि भी सत् अर्थ के लिये उपयोगी हो जाते हैं। इस प्रकार की विवक्षा में पट आदि भी सत् घट का सम्बन्धी हो जाता है । घट की अपेक्षा से घट पटरूप से असत् कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त जब तक पर द्रव्य-क्षेत्रादि का ज्ञान न हो, तब तक स्व-द्रव्य क्षेत्र आदिका स्व-रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। पर की अपेक्षा से स्व का व्यवहार होता है स्व के व्यवहार में कारण होनेसे पर द्रव्य आदि भी अर्थ के सम्बन्धी हैं ।

वस्तु केवल सत्रूप नहीं है, असत्रूप भी है। प्रत्येक वस्तु का स्वरूप नियत है। नियत स्वरूप का ज्ञान तब तक

नहीं हो सकता जब तक एक अर्थ भिन्न अर्थों के अभाव के रूप में प्रतीत न हो । जब तक घट पट आदिके रूप में असत् न प्रतीत हो तब तक घट का यथार्थ रूप से ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये पट आदिके रूप में असत्त्व भी घट का धर्म है। धर्म के साथ धर्मी का भेदाभेद है इसलिये घट असत् स्वरूप भी है। मुख्य रूप से किसी भी अर्थ का असत्त्व पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा से प्रतीत होता है । इसलिये दूसरा भङ्ग इसी रीति से असत्व का प्रतिपादन करता है। यहां पर कई लोग आक्षेप करते हैं, असत्त्व अभावरूप है अभाव प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करता है। घट का ज्ञान न हो तो घट के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु भाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता घट को घटाभाव के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है । जब घट के साथ नेत्र का सम्बन्ध होता है तभी घट का स्वरूप प्रकट हो जाता है घटाभाव के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। इन लोगों का आक्षेप युक्त नहीं है । अर्थ का ज्ञान दोनों प्रकार से होता है-अपेक्षा से और अपेक्षा के बिना। अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करता है परन्तु जब अभाव का ज्ञान प्रमेय रूप से होता है तब प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। घट हो अथवा पट, वृक्ष हो वा लता हो, कोई भी हो सभी अर्थ प्रमेय हैं प्रमेय रूप से ज्ञान का विषय होनेके लिये वृक्ष लता की वा लता वृक्ष की अपेक्षा नहीं करती। प्रमेयत्व सब वस्तुओं का सामान्य धर्म है। भावों के समान अभाव भी ज्ञान के विषय हैं-अतः प्रमेय हैं। प्रमेय रूप से वृक्ष आदि भाव जिस प्रकार किसी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं करते इसी प्रकार अभाव

भी प्रमेयरूप से किसी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं करते। अभाव अभावरूप से प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करते हैं। भाव भी अपने अभाव के अभावरूप है इस रूप में भाव भी अपने अभाव की अपेक्षा करते हैं। घट घटाभाव का अभाव है इसलिये घटाभाव के ज्ञान की अपेक्षा करता है।

यह तो हुई स्वाभावाभाव रूप में अर्थात् अपने अभाव के अभाव के रूप में प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा, भाव रूप में भी सत्त्व रूप के लिए स्व द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा अनुभव सिद्ध है। बिना द्रव्य आदिके किसी भी अर्थ का स्वरूप प्रतीत नहीं होता. इसलिये प्रथम भङ्ग सत्त्व को और द्वितीय भङ्ग असत्त्व को अपेक्षा से प्रकट करता है इस दशा में सत्त्व असत्त्व का और असत्त्व सत्त्व का सर्वथा विरोधी नहीं रहता।

मूलम्:-न चासत्त्वं काल्पनिकम्, सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभवात्, अन्यथा विपक्षा-सत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्या-घातप्रसङ्गात्।

अर्थः-यदि कहो असत्त्व कल्पना से प्रतीत होता है तो यह युक्त नहीं, सत्त्व के समान असत्त्व का भी स्वतन्त्ररूप से अनुभव होता है, यदि असत्त्व केवल कल्प-ना द्वारा सिद्ध हो तो सत्य रूप से विपक्ष में असत्त्व के न होनेके कारण हेतु के तीन रूपों के नष्ट होनेकी आपत्ति होगी।

विवेचनाः-बौद्ध लोग कहते हैं-सत्त्वधर्म वस्तु का सत्य है असत्त्व सत्य नहीं है, किन्तु कल्पना के द्वारा प्रतीत होता है। काल्पनिक धर्म वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता। मरुस्थल में कल्पना के द्वारा जल प्रतीत होता है। वास्तव में मरुभूमि के साथ जल का सम्बन्ध नहीं होता। असत्त्व भी कल्पना से प्रतीत होता है इसलिये वास्तव में वस्तु असत् नहीं हो सकती। यह कथन युक्त नहीं है। बिना किसी बाधा के जिस प्रकार सत्त्व का अनुभव होता है इस प्रकार असत्त्व का भी। यदि कल्पना के ही कारण असत्त्व की प्रतीति हो तो प्रत्येक अर्थ अन्य अर्थों के रूप में प्रतीत होना चाहिए। पर देश-काल आदिके द्वारा घट का असत्त्व यदि वास्तव न हो, तो घट अन्य देश में और अन्य काल में भी प्रतीत होना चाहिये। वह जिस प्रकार पार्थिवरूप में प्रतीत होता है इस प्रकार जलीय रूप में अथवा अग्नि आदिके रूप में भी प्रतीत होना चाहिये। एक अर्थ को समस्त वस्तुओं के रूप में हो जाना चाहिये। मरुस्थल में दूर से ग्रीष्म ऋतु में जल दिखाई देता है परन्तु पास जाने पर जल नहीं मिलता और उसको पीकर प्यास नहीं दूर होती। इस बाधक ज्ञान के कारण मरुस्थल में जल का ज्ञान कल्पना से उत्पन्न सिद्ध होता है परन्तु पर द्रव्य, देश, काल आदिके रूप में असत्रूप के ज्ञान को बाधित करनेवाला कोई ज्ञान नहीं है इसलिए वस्तु का असत् रूप कल्पना से सिद्ध नहीं है। असत्रूप के सत्य नहीं काल्पनिक होनेमें आपत्ति है, इसलिये असत् रूप भी सत्य है। इस पर बौद्ध कहते हैं-पर द्रव्य, क्षेत्र आदिके रूप में जो असत्त्व प्रतीत होता है वह स्व द्रव्य आदिकी अपेक्षा से प्रतीत होनेवाले सत्त्व

से भिन्न नहीं है, सत्त्व ही परकी अपेक्षा असत्त्व रूप में प्रतीत हो रहा है, इसलिये यदि पर रूप से असत्त्व सत्य न हो तो भी घट आदि अर्थ पट वृक्ष आदिके रूप में प्रतीत नहीं होगा । असत्त्व यदि सत्य होता तो उसके न होने पर घट आदिके वृक्ष आदि रूप में प्रतीत होनेकी आपत्ति दी जा सकती थी । परन्तु पर रूप से असत्त्व स्वरूप से सत्त्व की अपेक्षा भिन्न नहीं है। यह भी युक्त नहीं। इस रूप से यदि स्वरूप का सत्त्व पर रूप से असत्त्व हो तो सत्त्व का अपना रूप न होनेसे पर रूप से असत्त्व ही प्रधान हो जायगा । इस दशा में घट आदि अर्थ सर्वथा असत् रूप हो जाना चाहिये। इस दशा में स्वरूप से सत्त्व का अपना अलग स्वरूप नहीं है वह पर रूप से असत्त्व में समा गया है इसलिये अर्थ को असत् हो जाना चाहिये। यदि आप पर रूप से असत्त्व को प्रधानता न देकर स्वरूप से स्व सत्त्व में ही पर रूप से असत्त्व का समावेश करें तो पर रूप से असत्त्व के न होनेके कारण प्रत्येक अर्थ अन्य सब अर्थों के रूप में हो जाना चाहिये । यदि आप कहें कोई भी पदार्थ अपने कारणों के द्वारा नियत रूप से उत्पन्न होता है। उसका नियत स्वरूप पर रूप से असत्त्व की अपेक्षा नहीं करता, तो भी आपका कथन युक्त नहीं है । जब तक पर रूप से वस्तु असत् न हो तब तक कारणों के द्वारा उसकी नियत रूप से उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् और असत् रूप से वस्तु की प्रतीति के बिना वस्तु के अपने स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। असत् रूप में ज्ञान को मिथ्या भी नहीं कह सकते। सत् रूप में ज्ञान जिस प्रकार प्रतीत होता है इसी प्रकार असत् रूप में भी। इस अवस्था में सत् रूप को सत्य और असत् रूप को मिथ्या

नहीं कहा जा सकता-अतः स्व सत्त्व ही पर रूप से असत्त्व नहीं है। स्व द्रव्य आदिकी अपेक्षा से सत्त्व का ज्ञान और पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा से असत्त्व का ज्ञान होता है। यह कारणों का भेद भी स्वरूप से सत्त्व और पर रूप से असत्त्व को भिन्न सिद्ध करता है और एकान्त रूप से अभेद का निषेध करता है।

यदि असत्त्व कल्पना से सिद्ध हो तो बौद्ध निर्दोष हेतु के जिन तीन रूपों को स्वीकार करते हैं वे भी उपपन्न नहीं होंगे। बौद्धों के अनुसार हेतु के लिए पक्ष में सत्त्व, सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व ये तीन रूप होने चाहियें। यदि असत्त्व कल्पना मूलक हो, तो विपक्ष में असत्त्व भी काल्पनिक हो जायगा। उस दशा में हेतु का निर्दोष स्वरूप न रह सकेगा। अतः सत्त्व और असत्त्व वस्तु के दोनों धर्म तात्त्विक हैं।

मूलम्:-स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति प्राधान्येनक्रमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः।

अर्थः-किसी अपेक्षा से प्रत्येक अर्थ सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है इस प्रकार प्रधानरूप से क्रम के साथ विधि और निषेध के निरूपण द्वारा तृतीय भङ्ग होता है।

विवेचनाः-क्रम के साथ विधि और निषेध इन दोनों की विवक्षा हो, तो तृतीय भंग होता है। प्रथम भङ्ग के द्वारा स्व-द्रव्य आदिकी अपेक्षा से केवल सत्त्व का प्रधानरूप से निरूपण होता है। द्वितीय भङ्ग के द्वारा पर-द्रव्य आदिकी

अपेक्षा से असत्त्व का प्रधान रूप में निरूपण होता है। सत्त्व और असत्त्व दोनों का क्रम के साथ प्रधान रूप से निरूपण तृतीय भङ्ग में होता है। प्रथम भङ्ग अथवा द्वितीय भङ्ग दोनों का प्रधानरूप से निरूपण नहीं करता, यही तृतीय भङ्ग का प्रथम और द्वितीय भङ्ग से भेद है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी अन्य रीतिसे भी प्रथम और द्वितीय भङ्ग से तृतीय भङ्ग के भेद को प्रकट करते हैं। प्रथम भङ्ग से विधि का मुख्य रूप से भान होता है द्वितीय भङ्ग से निषेध का बोध मुख्य रूप से होता है। प्रथम भङ्ग के अनन्तर द्वितीय भङ्ग है इसलिये विधि और निषेध का क्रम से ज्ञान दोनों भङ्ग कर देते हैं। तृतीय भङ्ग भी क्रम के साथ विधि और निषेध के ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसलिये तृतीय भङ्ग का प्रथम और द्वितीय भङ्ग से कोई भेद नहीं है इस आशंका का निराकरण करने के लिए वे कहते हैं तृतीय भङ्ग से जो बोध होता है वह 'एकत्र द्वयम्' इस रीति से होता है। एक विशेष्य में दो अर्थों का प्रकाररूप से जो ज्ञान होता है वह 'अेक में दो' नाम से कहा जाता है। चैत्र दण्डी है और कुंडली है यह वाक्य इसका उदाहरण है। चैत्र दण्डवाला है और कुण्डलवाला है यह ज्ञान इस वाक्य से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में चैत्र विशेष्य है दण्ड और कुण्डल प्रकार हैं। इसी प्रकार तृतीय भङ्ग में एक ही ज्ञान है जिसमें विधि भी प्रकार है और निषेध भी प्रकार है। एक वस्तु विशेष्य है। प्रथम भङ्ग के अनन्तर जब द्वितीय भङ्ग से बोध होता है तब क्रम से विधि और निषेध का ज्ञान-तो होता है परन्तु वह ज्ञान एक नहीं होता। वे दो ज्ञान होते हैं जो क्रम से होते हैं। तृतीय भङ्ग के द्वारा होनेवाला ज्ञान एक ही है उस एक ज्ञान

में विधि भी प्रकार है और निषेध भी प्रकार है। प्रथम और द्वितीय भङ्ग से उत्पन्न होनेवाले दो ज्ञानों की अपेक्षा एक विलक्षण ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण तृतीय भङ्ग भिन्न है।

ध्यान रहे-तृतीय भङ्ग से उत्पन्न ज्ञान में जो विधि और निषेध प्रतीत होते हैं उनमें परस्पर विशेषण विशेष्य भाव नहीं है। यदि इन दोनों में विशेषण विशेष्य भाव हो तो विशेषण गौण हो जायगा और विशेष्य मुख्य हो जायगा। क्रम से दोनों की प्रधानता इष्ट है वह नहीं रहेगी। इसलिए तृतीय भङ्ग एक ही अर्थ को विधि और निषेध से विलक्षण रूप में प्रकाशित करता है। इस बोध में विधि और निषेध दोनों समान रूप से प्रकार हैं और घट आदि अर्थ विशेष्य हैं।

मूलम्-स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत्प्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः, एकेन पदेन युगपदुभयोर्वक्तुमशक्यत्वात्।

अर्थः-किसी अपेक्षा से सब पदार्थ अवक्तव्य ही हैं। इस प्रकार एक काल में प्रधानरूप से विधि और निषेध की विवक्षा के कारण चतुर्थ भङ्ग होता है। एक पद एक काल में विधि और निषेध का कथन नहीं कर सकता, इसलिये अर्थ अपेक्षा से अवक्तव्य है।

विवेचनाः- असत्त्व को गौण करके मुख्य रूप से सत्त्व का प्रतिपादन करना हो तो प्रथम भङ्ग होता है। इसके विपरीतरूप में सत्त्व को गौणरूप से और असत्त्व को मुख्य-रूप से कहना हो, तो द्वितीय भङ्ग होता है। सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों का मुख्यरूप से निरूपण करना हो तो कोई भी

वचन इसके लिये समर्थ नहीं है, अतः अर्थ अवाच्य है। अर्थ, में किसी धर्म का निरूपण एक काल में मुख्य अथवा गौणरूप से हो सकता है। दोनों परस्पर विरोधी धर्मों को मुख्यरूप से वा गौणरूप से नहीं कहा जा सकता। दोनों धर्म एक अर्थ में एक काल में गौण अथवा मुख्य नहीं हो सकते। अर्थ में इस प्रकार का स्वरूप असंभव है, इसलिये उसका वाचक पद भी नहीं है। वाचक से रहित होनेके कारण अर्थ अवक्तव्य है।

अवक्तव्य भङ्ग का निरूपण अनेक प्रकार से हो सकता है। अर्थ में स्वरूप की अपेक्षा से अेकान्त सत्त्व ही नहीं है और पर-रूप की अपेक्षा से अेकान्त असत्त्व ही नहीं है। केवल सत्त्व अथवा असत्त्व को मानकर किसी शब्द से अर्थ का कथन नहीं हो सकता, अतः अर्थ अवाच्य है। केवल सत्त्व अथवा केवल असत्त्व सर्वथा अविद्यमान है इसलिए उसका कोई वाचक नहीं हो सकता।

यदि अर्थ सब प्रकार से सत् ही हो, तो उसकी किसी अन्य अर्थ से व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी। वह महासामान्य सत्ता के समान सब स्थानों पर रहेगा इसलिये विशेषरूप में प्रतीत न हो सकेगा। यदि घट सर्वथा सत् हो, तो सभी स्थानों पर सत्‌रूप में ही प्रतीत होना चाहिये। घटरूप में उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। घट जब प्रतीत होता है- तब वृक्ष आदि अर्थों से भिन्न आकार में ही प्रतीत होता है, इसलिये घट-घटरूपसे ही सत् है। इसी प्रकार यदि घट आदि अर्थ असत्‌रूप हो, तो वृक्ष आदिके रूपसे जिस प्रकार अविद्यमान है इस प्रकार अपने रूपसे भी अविद्यमान होने के कारण शशशृंग के समान तुच्छ हो जाना चाहिये एकान्त

रूप से केवल सत्त्वात्मक और असत्त्वात्मक रूप में घट आदि अवाच्य है। यह अवक्तव्य का पहला प्रकार है।

अथवा नाम स्थापना द्रव्य और भाव के भेद से जब अर्थों का भेद किया जाता है, तब जिस रूप में विवक्षा चाहते हैं और जिस रूप में विवक्षा नहीं चाहते हैं-उन दो रूपों से प्रथम और द्वितीय भङ्ग होते हैं। इन दोनों प्रकारों से यदि एक काल में कहने की इच्छा हो, तो अर्थ किसी भी शब्द से नहीं कहा जा सकता इसलिये अवाच्य है। जिस रूप से विवक्षा नहीं है उस रूप से भी यदि घट हो, तो नियत नाम और स्थापना आदिका व्यवहार नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार जिस रूप से कहना चाहते है उस रूप से भी यदि घट न हो तो घट का व्यवहार ही नहीं होना चाहिये। इन दोनों पक्षों में से यदि केवल एक पक्ष को स्वीकार किया जाय तो अर्थ का स्वरूप नहीं रहता इसलिये अवाच्य हो जाता है-यह अवक्तव्य का दूसरा प्रकार है।

अथवा नाम आदिका जो प्रकार नियत है उसमें जो आकार आदि है उसके रूप में घट है। नाम आदि में जो आकार आदि नहीं है उसके द्वारा वह घट नहीं है। इन दोनों प्रकारों से एक काल में कहने की शक्ति किसी पद में नहीं है--अतः अवक्तव्य है। जो आकार आदि विद्यमान है उसके कारण जिस प्रकार घट है इस प्रकार यदि आविद्यमान आकार से भी घट हो, तो एक ही घट समस्त घटों के रूपमें हो जाना चाहिये। यदि विद्यमान आकार से भी घट न हो, तो घट का अर्थी मनुष्य, वृक्ष में जिस प्रकार प्रवृत्ति नहीं करता इस प्रकार घट में भी प्रवृत्ति न करे। इन दोनों में से कोई भी एकान्त प्रमाणों से सिद्ध नहीं है--इसलिये

अवक्तव्य है। अवक्तव्य का यह तीसरा प्रकार है। अन्य अनेक प्रकार भी अवक्तव्य के हो सकते हैं। अर्थ के अवक्तव्य होने में दो कारण हैं-जो मुख्य हैं। दो प्रकारों से वस्तु एक काल में एकान्तरूप से सम्बन्ध नहीं रखती। एकान्त रूप में यह वस्तु का अत्यन्त अभाव अवक्तव्य होनेका एक कारण है। विरोधी दो धर्मों को प्रधान अथवा अप्रधान रूप से कहने में पद असमर्थ है यह दूसरा कारण है।

मूलम्-शतृशानशौ सदित्यादौ साङ्केतिकपदेनापि क्रमेणार्थद्वयबोधनात्। अन्यतरत्वादिना कथञ्चिदुभयबोधनेऽपि प्रातिस्विकरूपेणैकपदादुभयबोधस्य ब्रह्मणापि दुरुपपादत्वात्।

अर्थः-शतृ और शानश् सत् है इत्यादि स्थल में साङ्केतिक पद से भी क्रम के साथ दोनों अर्थों का बोध होता है। अन्यतरत्व आदिके द्वारा किसी प्रकार दोनों का ज्ञान हो जाय तो भी प्रत्येक में होने वाले नियतरूप से दोनों का ज्ञान ब्रह्मा भी नहीं करा सकता।

विवेचनाः-प्रतिस्वं भवति इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रातिस्विक पद का अर्थ है-प्रत्येक में रहनेवाला असाधारण स्वरूप। विरोधी दो अर्थों को एक काल में प्रधानता अथवा अप्रधानता के साथ कहने में कोई भी पद समर्थ नहीं है इस हेतु पर आक्षेप करते हैं। संकेत के द्वारा पद अर्थ का बोध

कराता है। जिस प्रकार अविरोधी अर्थ में संकेत किया जा सकता है इसी प्रकार विरोधी अर्थ में भी संकेत हो सकता है। संकेत होने पर विधि और निषेध दोनों का ज्ञान एक पद करा सकता है। व्याकरण में शतृ और शानश् दो विरोधी प्रत्यय हैं। इन दोनों के लिए 'सत्' पद का संकेत है. सत् पद से दोनों का ज्ञान एक साथ होता है। 'सत्' पदके समान कोई सांकेतिक पद विधि और निषेध का ज्ञान करा सकता है।

इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं. संकेत कराने से पद दो अर्थों का बोध करा सकता है। परन्तु क्रम के साथ, एक काल में नहीं। जिस भी पद का विधि और निषेध दोनों के लिये संकेत किया जायगा वह क्रम से ही ज्ञान करा सकेगा, एक काल में नहीं।

इस पर फिर शंका की जाती है-विरोधी अर्थों में विरोधी धर्म रहते हैं, इन धर्मों के द्वारा बोध दोनों अर्थों का एक पद से हो, तो क्रम अवश्य होता है। घट में घटत्व है उसका विरोधी पटत्व पट में है। यदि कोई भी पद संकेत के कारण घटत्व और पटत्व धर्मों के द्वारा बोध करावे तो क्रम से ही करा सकता है। विरोधी धर्मों का ज्ञान क्रम से ही हो सकता है। शतृ और शानश् भी दो विरोधी प्रत्यय हैं। शतृपन और शानशपन दो विरोधी धर्म हैं। 'सत्' पद इन दो धर्मों के द्वारा ज्ञान कराता है, इसलिये ज्ञान क्रम से होता है सत्त्व और असत्त्व भी दो विरोधी धर्म हैं। घटत्व और पटत्व के स्वरूप से सत्त्व और असत्त्व का स्वरूप भिन्न है परन्तु विरोध की दृष्टि से भेद नहीं है। घटत्व और पटत्व के धर्मी भिन्न हैं। किसी एक धर्मी में घटत्व और पटत्व नहीं

रहते। परन्तु सत्त्व और असत्त्व यहाँ पर भिन्न धर्मियों में नहीं हैं, एक ही धर्मी में हैं। एक धर्मी में होने पर भी उनका स्वभाव परस्पर विरोधी है। एक घट में रूप रस गन्ध आदि धर्म हैं। भिन्न धर्मियों में रहनेवाले घटत्व पटत्व के समान उनमें विरोध नहीं है। परन्तु असाधारण धर्म के कारण उनमें भी विरोध है। रूपत्व और रसत्व आदि धर्मों के कारण रूप रस आदि धर्म भी परस्पर विरोधी हैं। रूपत्व केवल रूप में है और रसत्व केवल रस में है। रूपत्व के द्वारा रूप का और रसत्व के द्वारा रस का जब ज्ञान होगा तब एक घट अथवा फल आदि धर्मी में रहने पर भी रूप और रस का ज्ञान क्रम से होता है। सत्त्व और असत्त्व रूप रस आदिके समान घट और फल आदि धर्मियों में एक साथ रहते हैं। परन्तु रूपत्व जिस प्रकार रसत्व से भिन्न है इस प्रकार घट आदि एक अर्थ में रहनेवाले सत्त्व और असत्त्व भी सत्त्व भाव और असत्त्व भाव से भिन्न हैं। सत्त्व भाव केवल सत्त्व में और असत्त्वभाव केवल असत्त्व में है. इसलिये एक धर्मी में रहने पर भी सत्त्व और असत्त्व का जब अपने अपने सत्त्व भाव और असत्त्वभाव-रूप असाधारण स्वरूप से ज्ञान होगा, तब क्रम से ही होगा। परन्तु जब भिन्न विरोधी धर्मों में समान रूपसे रहने वाले किसी एक सामान्य धर्म के द्वारा ज्ञान होगा तो एक साथ भी हो सकेगा। रूप, रस आदि गुणों में गुणत्व एक सामान्य धर्म है। गुणत्व रूप से रूप रस आदि समस्त गुणों का एक साथ ज्ञान हो सकता है। गुण पद गुणत्वरूप से रूप आदि समस्त गुणों का एक काल में प्रतिपादन कर सकता है।

सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों में सत्त्व और असत्त्व का अन्यतरत्व सामान्य धर्म है। दोनों में से एक को अन्यतर कहते हैं। अन्यतरत्व दोनों में है। इसी प्रकार ज्ञेयत्व वाच्यत्व आदि साधारण धर्म भी सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों में हैं। इन धर्मों के द्वारा भी सांकेतिक पद सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों का ज्ञान करा सकता है और वह ज्ञान एक काल में हो सकता है। इस प्रकार एक पद से वाच्य होनेके कारण घट आदि अर्थ किसी अपेक्षा से अवक्तव्य नह हो सकता।

इसका उत्तर यह है—अन्यतरत्व ज्ञेयत्व आदि रूप से एक काल में सत्त्व और असत्त्व का बोध हो सकता है, पर असाधारण रूप से कोई भी पद दोनों धर्मों का बोध नहीं करा सकता। सत्त्व का असाधारण धर्म सत्त्वभाव है और असत्त्व का असाधारण धर्म असत्त्वभाव है। इन दोनों असाधारण धर्मों के साथ दोनों का बोध एक काल में एक पद के द्वारा नहीं हो सकता। गुण पद जब रूप रस आदिका गुणत्व रूप से ज्ञान कराता है तब रूपत्व रसत्व आदि असाधारण रूपों से नहीं कराता। घट आदिको जब कथंचित् अवक्तव्य कहा जाता है तब असाधारण स्वरूप के साथ प्रधान वा अप्रधानरूप में सत्त्व और असत्त्व का कथन नहीं हो सकता यह भाव होता है, अतः इस अपेक्षा से घट आदि अर्थ अवक्तव्य है।

कुछ लोग सत् और असत् शब्द के समास द्वारा दोनों धर्मों का एक काल में कथन कहते हैं, उनका वचन भी युक्त नहीं है। समास से युक्त वचन भी इस प्रकार के दोनों धर्मों का प्रधानरूप से अथवा गुणरूप से निरूपण नहीं कर सकता। समासों में बहुव्रीहि समास है जिस में अन्य पद का अर्थ

प्रधान होता है वह भी इस विषय में समर्थ नहीं हो सकता। यहाँ पर दोनों धर्मों की प्रधानभाव से विवक्षा है। अव्ययीभाव में पूर्व पद के अर्थ की प्रधानता होती है, अतः वह भी दोनों धर्मों का प्रधानरूप से प्रतिपादन नहीं कर सकता। द्वन्द्व समास में यद्यपि दोनों पद प्रधान होते है, तो भी यहाँ पर द्रव्य का बोधक द्वन्द्व उपयोगी नहीं है। यहां पर दो द्रव्यों का नहीं किन्तु दो धर्मों का प्रतिपादन है। जो द्वन्द्व गुणों का बोधक होता है। वह भी द्रव्य में रहनेवाले गुणों का प्रकाशन करता है। वह दो प्रधान धर्मों का प्रतिपादन नहीं कर सकता। तत्पुरुष समास उत्तर पद के अर्थ का प्रधानरूप से प्रकाशन करता है, इसलिये वह भी दो धर्मों के प्रधानरूप से प्रतिपादन में असमर्थ है। द्विगु समास में पूर्वपद संख्यावाची होता है इसलिये उसका यहां अवसर नहीं है। कर्मधारय समास गुणी द्रव्य को कहता है, इसलिये दो धर्म प्रधानरूप से उसके विषय नहीं हो सकते।

जो समास का अर्थ है वही वाक्य का अर्थ होता है। समास के असमर्थ होनेके कारण वाक्य भी दो प्रधान धर्मों का असाधारण स्वरूप के साथ प्रतिपादन नहीं कर सकता, अतः इस अपेक्षा से अर्थ अवक्तव्य है।

सत् और असत् शब्द का प्रयोग समास में अथवा वाक्य में क्रमसे ही हो सकता है। इस दशा में यदि सत् शब्द सत्त्व और असत्त्व को एक काल में कहे तो अपने वाच्य अर्थ सत्त्व के समान असत्त्व को भी सत्‌रूप में प्रकाशित करेगा। यदि असत् शब्द सत्त्व और असत्त्व को एक काल में कहे तो अपने वाच्य अर्थ असत्त्व के समान सत्त्व को भी असत्त्व रूप में प्रकाशित करेगा। वस्तुतः सत् असत् का और

असत् सत् का वाचक नहीं होता, अतः एक शब्द एक काल में परस्पर विरोधी भाव और अभाव का वाचक नहीं हो सकता।

मूलम्:—स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः। स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति।

अर्थः—सब पदार्थ किसी अपेक्षा से हैं और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य हैं इस प्रकार विधि की विवक्षा से और एक साथ विधि और निषेध की विवक्षा से पांचवां भङ्ग होता है। किसी अपेक्षा से सब पदार्थ नहीं हैं और कथञ्चित् अवक्तव्य हैं इस प्रकार निषेध की तथा एक काल में विधि-निषेध की विवक्षा से छठा भङ्ग होता है। किसी अपेक्षा से सब पदार्थ है, किसी अपेक्षा से नहीं है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है इस प्रकार क्रम से विधि-निषेध की और एक साथ विधि निषेध की विवक्षा से सातवां भङ्ग होता है।

विवेचनाः-अपेक्षा से अर्थ के सत्त्व और असत्त्व का निरूपण करनेवाले प्रथम और द्वितीय भङ्ग मूलभूत हैं। भाव और अभावरूप दो धर्मों की प्रतीति प्रधानरूप से कोई शब्द नहीं करा सकता इसलिये अवक्तव्य भङ्ग प्रकट होता है। एक काल में दो धर्मों की प्रधानरूप से कहनेकी इच्छा अवक्तव्य भङ्गके प्रकट होनेमें कारण है। आद्य दो भङ्गों के साथ अवक्तव्य भङ्ग का विविध रीति से संयोग करने पर अन्य भङ्ग बन जाते हैं। इनमें अवक्तव्य भङ्गको कुछ लोग तृतीय स्थान देते हैं तथा विधि और निषेध का क्रम से प्रतिपादन करनेवाले भङ्ग को चतुर्थ स्थान देते हैं। जब एक धर्मी में चतुर्थ भङ्ग के द्वारा प्रतिपादित होनेवाले अवक्तव्यत्व को प्रथम भङ्ग के द्वारा प्रतिपाद्य सत्त्व के साथ कहना चाहते हैं तब पञ्चम भङ्ग प्रवृत्त होता है। स्व द्रव्य आदिकी अपेक्षा से सत्त्व का अलग निरूपण करना चाहते हैं इसके साथ ही स्व-द्रव्य आदिकी अपेक्षा से सत्त्व को और पर-द्रव्य आदिकी अपेक्षा से असत्त्व को प्रधानरूप में एक साथ कहना चाहते हैं-तब पञ्चम भङ्ग होता है। कथञ्चित् सत्त्व और कथञ्चित् अवक्तव्यत्व इन दो धर्मों को प्रकाररूप से और घट आदि एक धर्मी को विशेष्यरूप से प्रकाशित करना पञ्चम भङ्ग का असाधारण स्वरूप है। "स्यात् अस्ति एव, स्यात् अवक्तव्य मेव" यह पञ्चम भङ्ग का आकार है।

द्वितीय भङ्ग में असत्त्व का प्रतिपादन और चतुर्थ में अवक्तव्य का है। दोनों को मिलाने से छठा भङ्ग प्रकट होता है। छठे भङ्ग से जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब किसी अपेक्षा से असत्त्व और किसी अपेक्षा से अवक्तव्यत्व प्रकार रूप में प्रतीत होते हैं। घट आदि धर्मी विशेष्यरूप से प्रतीत होता है इस प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करना छठे भङ्ग का लक्षण है

तीसरे भङ्ग में क्रम से सत्त्व और असत्त्व धर्मों का प्रकाशन होता है। चतुर्थ भङ्ग के द्वारा अवक्तव्यत्व का प्रकाशन होता है। जब किसी अपेक्षा से सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म क्रम से प्रतीत होते हैं और अपेक्षा से अवक्तव्यत्व भी प्रतीत होता है तब सप्तम भङ्ग होता है। सप्तम भङ्ग में क्रम से सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म प्रकार रूप से प्रतीत होते हैं। इसके कारण पञ्चम और छठे भङ्ग से सप्तम भङ्ग का भेद है। पञ्चम भङ्ग में अपेक्षा से केवल सत्त्व और छठे भङ्ग में केवल असत्त्व प्रकाररूप से प्रतीत होता है। सप्तम भङ्ग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें अपेक्षा के द्वारा सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म प्रकार रूप से प्रतीत होते हैं।

[सप्तभङ्गो के सकलादेश और विकलादेश स्वभावों का निरूपण]

मूलम्:–सेयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च।

अर्थः–यह सप्तभङ्गी प्रत्येक भङ्ग में सकलादेश स्वभाववाली और विकलादेश स्वभाववाली है।

मूलम्:–तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेणाभिधायकवाक्यं विकलादेशः।

अर्थः—प्रमाण से सिद्ध अनन्त धर्मोंवाली वस्तु का काल आदि के द्वारा अभेद की प्रधानता से अथवा अभेद के उपचार से एक काल में प्रतिपादन करनेवाला वचन सकलादेश कहा जाता है । नय के विषयभूत वस्तु के धर्म का भेद वृत्ति की प्रधानता से अथवा भेद के उपचार से क्रम के साथ प्रतिपादक वाक्य विकलादेश कहा जाता है ।

विवेचनाः—प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं उन सब का एक में जो प्रतिपादन करे वह वचन सकलादेश है । साधारण रूप से एक शब्द एक धर्म का प्रतिपादन करता है । यदि एक एक धर्म के लिये एक एक शब्द का प्रयोग किया जाय तो अनन्त धर्मों के लिये अनन्त शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा । परन्तु यह हो नहीं सकता, इसलिये एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ अभेद मान लिया जाता है । मुख्यरूप से एक धर्म एक शब्द का वाच्य है । पर अभेद हो जाने से अन्य धर्म भी वाच्य हो जाते हैं । इस प्रकार एक शब्द अनन्त धर्मों का प्रतिपादक हो जाता है । इस प्रकार अनन्त धर्मों का प्रतिपादक होने पर प्रत्येक भङ्ग सकलादेश हो जाता है । सकलादेश को प्रमाण वाक्य कहते हैं । वाच्य एक धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद न मानकर जब एक धर्म का प्रतिपादन होता है, तब प्रत्येक भङ्ग विकलादेश कहा जाता है । वस्तु के एक श का प्रतिपादक होनेके कारण उसको नय वाक्य कहते हैं । काल आदिके द्वारा किसी एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ अभेद दो-प्रकार से किया जाता है, प्रधानभाव से और उपचार से । इस प्रधान भाव और उपचार का स्वरूप उपाध्याय

श्री यशोविजयजी ने शास्त्र वार्ता समुच्चय की व्याख्या स्याद्वादकल्पलता में इस प्रकार किया है--

१–अभेदवृत्तिप्रधान्यम्–द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्ताद्यभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसंधानेन पर्यायार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोधः। अभेदोपचारश्च–पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानुपपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा।

इसके अनुसार द्रव्यार्थिक नय से जब सत्ता आदि किसी एक धर्म का ज्ञान होता है, तब उससे अभिन्न अनन्तधर्मात्मक वस्तु में सत् आदि पद की शक्ति होती है। काल आदि के द्वारा अभेद मानने के कारण सत् आदि पद से अन्य धर्म भी वाच्य प्रतीत होते हैं। इस दशा में पर्यायार्थिक नय के विचार से अन्य धर्मों की प्रतीतिरूप शक्य अर्थ में जो रुकावट आती है उसका दूर करना अभेद वृत्ति की प्रधानता है। पर्यायार्थिक नय के द्वारा सत् आदि पद की शक्ति केवल सत्ता आदिमें प्रतीत होती है और उसका पर्यवसान अन्यापोह में होता है। इस दशामें 'सत्' पद जो असत् नहीं हैं उनका ज्ञान कराता है। केवल सत्त्व आदि धर्म में प्रतिपादन की शक्ति है इस प्रकार प्रतीत होने पर सत् आदि पद की सत्ता से भिन्न अन्य धर्मों में लक्षणा की जाती है। इस विवेचना के अनुसार अनन्त धर्मरूप शक्य अर्थों के ज्ञान में रुकावट को दूर करना

टिप्पण १ शास्त्र वार्ता समुच्चय स्याद्वाद कल्पलता सहित पृ. २५४–प्रथम अंश,

अभेद वृत्तिकी प्रधानता है । तात्पर्य उपपन्न नहीं होता-इस कारण अन्य अनन्त धर्मों में सत् आदि पद की लक्षणा उपचार है । अभेद की प्रधानता में शक्य रूप में सत् आदि पद अनन्त धर्मों को प्रतिपादित करते हैं । उपचार की दशा में उन्हीं अनन्त धर्मों में सत् आदि पद लक्षणा के द्वारा ज्ञान उत्पन्न करते हैं ।

जब वस्तु का धर्म नय के द्वारा प्रकाशित होता है, तब भेद के प्रधान होनेसे अथवा भेद का उपचार होनेसे क्रमसे निरूपण होता है। क्रम से धर्म का प्रतिपादक वचन विकलादेश कहा जाता है ।

यहाँ पर उपाध्यायजीने आचार्यदेवसूरि के अनुसार प्रत्येक भङ्ग का सकलादेश और विकलादेश के रूप में निरूपण किया है । अन्य आचार्य पहले तीन भङ्गों को सकलादेश-रूप और पिछले चार भङ्गों को विकलादेश मानते हैं। १ तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में व्याख्याकार सिद्ध सेन गणि--स्यादस्ति, स्याद् नास्ति और स्याद् अवक्तव्यः इन तीन भङ्गों को सकलादेश कहते हैं और अन्य भङ्गों को विकलादेश कहते हैं ।

मूलमः-ननु कः क्रमः किं वा यौगपद्यम् ! उच्यते-यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि

टिप्पणः-१ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र स्वोपज्ञ भाष्य टीका युक्त अध्यायपांचवां सूत्र-३१, पृष्ठ-४१५ १६,

शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामाप-न्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भ-वाद्यौगपद्यम् ।

अर्थः—जिज्ञासा—क्रम क्या है और यौगपद्य क्या है ? जब काल आदिके द्वारा अस्तित्व आदि धर्मों के भेद की विवक्षा की जाती है तब एक शब्द की अनेक अर्थों के प्रकाशित करने में शक्ति नहीं होती है इसलिये क्रम होता है । जब उन्ही धर्मों का काल आदिके द्वारा अभिन्न स्वरूप कहा जाता है तब एक ही शब्द एक धर्म का प्रकाशन करके एक धर्म के स्वरूप को प्राप्त करनेवाले अन्य समस्त धर्मात्मक अर्थों का प्रतिपादन करता है इसरूप से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन होनेसे यौगपद्य कहा जाता है ।

विवेचनाः—घट आदिमें सत्त्व आदि अनेक धर्म हैं वे परस्पर भिन्न हैं । जब उनके भेद को प्रधानरूप से प्रकाशित करनेकी इच्छा हो, तब क्रम से ही प्रतिपादन हो सकता है । 'अस्ति' पद जब सत्त्व का प्रतिपादन करता है—तब नास्ति पद असत्त्व का प्रतिपादन करता है । केवल अस्ति पद असत्त्व आदि अनेक धर्मों का प्रकाशन नहीं कर सकता । जब एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ अभेद मान लिया जाता है तब

कोई एक अस्ति अथवा नास्ति पद समस्त धर्मों को एक काल में कहने लगता है।

मूलम्:-के पुनः कालादयः ?। उच्यते-काल-आत्मरूपमर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ।

अर्थः-जिज्ञासा-काल आदि कौन हैं ?'उत्तर (१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणिदेश (७) संसर्ग (८) शब्द, ये आठ हैं।

मूलम्-तत्रस्याज्जीवादिवस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः।

अर्थः-(१) किसी अपेक्षा से जीव आदि वस्तु है ही यहाँ जिस काल में जीव आदिमें अस्तित्व है उसी काल में उन वस्तुओं में शेष अनन्त धर्म भी हैं, यह काल से अभेदवृत्ति है।

विवेचनाः—अर्थ का धर्म के साथ भेद भी है और अभेद भी। घट आदि अर्थ जिस काल में हैं, उस काल में उनके सत्त्व आदि धर्म भी हैं। काल के साथ जिस प्रकार घट का सम्बन्ध है इस प्रकार घट के धर्मों का भी सम्बन्ध है। एक काल में सम्बन्ध होनेसे समस्त धर्म काल की अपेक्षा से अभिन्न हैं। इस रीतिसे विचार करने पर जिस काल में घट में

सत्त्व है उसी काल में पर-द्रव्य आदिकी अपेक्षा से असत्त्व भी है। एक काल में होनेके कारण सत्त्व और असत्त्व का अभेद है। जिस प्रकार सत्त्व का काल के कारण असत्त्व के साथ अभेद है इसप्रकार शेष धर्मों के साथ भी अभेद है।

मूलम्:–यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः ।

अर्थः–(२) जीव आदिका अथवा घट आदि का गुण होना जिस प्रकार अस्तित्व का आत्मरूप है इसप्रकार अनन्त गुणों का भी यही आत्मरूप है। इस रीति से आत्मरूप के द्वारा अभेद वृत्ति है ।

मूलम्:–य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः।

अर्थः–(३) जो द्रव्य–रूप अर्थ अस्तित्व का आधार है वही अन्य धर्मो का भी आधार है, इस कारण अर्थ के द्वारा अभेद वृत्ति है।

मूलम्:–य एव चाविष्वग्भावः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः।

अर्थः–(४) अस्तित्व का जीव आदिके साथ जो अविष्वग्भाव नामक सम्बन्ध है वही सम्बन्ध अन्य धर्मो का भी है। इस रीतिसे सम्बन्ध के द्वारा अभेदवृत्ति है।

मूलम्:–य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एवान्यैरपीत्युपकारेणाभेदवृत्तिः।

अर्थः–(५) अस्तित्व जिस उपकार को करता है वही उपकार अन्य धर्म भी करते है। यह उपकार से अभेदवृत्ति है।

विवेचना:—यहां पर उपकार का अर्थ है अपने रंग में रंगना। अस्तित्व के कारण वस्तु सत् प्रतीत होती है। प्रमेयत्व के कारण प्रमेय प्रतीत होती है। वाच्यत्व के कारण वाच्य प्रतीत होती है। लाल रंग वस्त्र को लाल और पीला रंग वस्त्र को पीला करता है अस्तित्व आदि धर्म भी अर्थ को अपने सम्बन्ध से अपने स्वरूप के साथ प्रकाशित करते हैं। धर्मी को अपने स्वरूप के साथ प्रकाशित करना धर्मों का उपकार है।

मूलम्:–य एव गुणिनः सम्बन्धीदेशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः।

अर्थः–(६) अस्तित्व धर्म गुणी अर्थ के जिस क्षेत्ररूप देश में रहता है, वही देश अन्य धर्मों का भी है-यह गुणी के देश के द्वारा अभेदवृत्ति है।

मूलम्:–य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः।

अर्थः–(७) अस्तित्व का जीव आदिके साथ एक वस्तुरूप से जो संसर्ग है वही अन्य धर्मों का भी है यह संसर्ग से अभेदवृत्ति है ।

मूलम्:–गुणीभूतभेदादभेदप्रधानात् सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः ।

अर्थः–जिसमें भेद गौण है और अभेद प्रधान है–इस प्रकार के सम्बन्ध से विपरीत स्वरूप वाला होने के कारण संसर्ग का भेद है ।

विवेचनाः - पहले अविष्वग्भाव नामक सम्बन्ध का वर्णन हुआ है वही संसर्ग है, इन दोनों में भेद का कोई लक्षण नहीं प्रतीत होता । इस शंका के उत्तर में कहा है-सम्बन्ध और संसर्ग में अभेद है। परन्तु भेद भी है, सम्बन्ध में भेद गौण होता है और अभेद प्रधान होता है इसका उलटा रूप ससर्ग में है, ससर्ग में अभेद गौण और भेद प्रधान होता है।

मूलम्:–स एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाशेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः ।

अर्थः–(८) जो अस्ति शब्द अस्तित्व धर्मात्मक अर्थात् अस्तित्व स्वरूप वस्तु का वाचक है वही अन्य अनन्त धर्मों के स्वरूप में प्रतीत होने वाली वस्तु का वाचक है, यह शब्द से अभेद वृत्ति है ।

मूलम्:-पर्यायार्थिकनयगुणभावेन द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते ।

अर्थः-पर्यायार्थिक नय के गौण होनेसे और द्रव्यार्थिक नय के प्रधान होनेसे यह अभेद होता है ।

विवेचनाः-द्रव्य पर्यायों में अनुगत रहता है । पृथ्वी द्रव्य है-वह ईंट-पत्थर-घट आदिमें अनुगत होनेसे अभिन्न है । ईंट, पत्थर आदिका आकार आदि भिन्न रहता है । पृथिवी रूप से ये सब अभिन्न हैं. इसी प्रकार द्रव्यों में जो अनेक धर्म रहते हैं वे द्रव्य की अपेक्षासे अभिन्न हैं । द्रव्य का स्वरूप जब मुख्य रहता है, तब काल आदिके कारण समस्त धर्मों का अभेद प्रतीत होता है । इस दशा में पर्याय गौण होते हैं इसलिये धर्मो का भेद मुख्यरूप से नहीं प्रतीत होता ।

मूलम्:-द्रव्यार्थिक-गुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति ।

अर्थः-द्रव्यार्थिकनय के गौण होने पर और पर्यायार्थिकनयके प्रधान होने पर गुणों की अभेदवृत्ति नहीं हो सकती ।

विवेचनाः-काल आदिके द्वारा एक धर्म के साथ अन्य अशेष धर्मों का भेद प्रतीत होता है, फिर भी अभेद का उपचार करके एक शब्द एक काल में अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करता है-अतः प्रत्येक भङ्ग सकलादेश हो जाता है । काल आदि इस दशा में अभेद का प्रतिपादन जन कारणों से नहीं करते उनका निरूपण करने के लिए कहते हैं—

मूलम्:-समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य भेदप्रसङ्गात्।

अर्थः-(१) एक काल में एक धर्मी में अनेक गुण नहीं हो सकते। यदि हो सके तो उनके आश्रय अर्थ में भी भेद हो जाना चाहिये।

विवेचनाः—पर्यायों को प्रधान मानकर गुणी का विचार किया जाय तो जिस काल में एक अर्थ में सत्त्व है उसी काल में असत्त्व नहीं रह सकता एक कालमें सत्त्व और असत्त्व दोनों रहें तो उनके आश्रय भिन्न हो जाने चाहियें। गोत्व और अश्वत्व दो भिन्न धर्म हैं। दोनों के आश्रय गौ और अश्व भिन्न हैं। एक काल में रहने के कारण गोत्व और अश्वत्व का अभेद नहीं होता।

मूलम्:-नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मस्वरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यथा तेषां भेदविरोधात्,

अर्थः-(२) अनेक गुणों का सम्बन्धी आत्मरूप भी भिन्न होता है यदि भिन्न न हो, तो गुणों में भेद नहीं हो सकता।

विवेचना-पुष्प आदि गुणी अर्थों में रूप रस आदि गुणों का स्वरूप परस्पर भिन्न होता है। यदि स्वरूप भिन्न न हो तो रूप आदिमें भेद नहीं होना चाहिये। रूप आदिके समान सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म भी अपने अपने स्वरूप से भिन्न

हैं। यदि इनका स्वरूप भिन्न न हो, तो सत्त्व असत्त्वरूप से और असत्त्व सत्त्वरूप से प्रतीत होना चाहिये।

मूलम्:-स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात्।

अर्थः-(३) गुणों का आश्रय अर्थ भी भिन्न भिन्न है, यदि भिन्न न हो तो वह नाना गुणों का आश्रय नहीं हो सकता।

मूलम्:-सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात्।

अर्थः-(४) सम्बंधियों के भेद से सम्बन्ध का भेद भी देखा जाता है। अनेक सम्बन्धी एक स्थान में एक सम्बन्ध की रचना नहीं कर सकते।

विवेचनाः-प्रतियोगी और अनुयोगी के भेद से सम्बन्ध का भेद देखा जाता है। भूतल और घट का जो संयोग है उससे पर्वत और अग्नि का संयोग भिन्न है। यदि भूतल और घट का जो संयोग है वही पर्वत और अग्नि का संयोग हो, तो जब घट और भूतल का सयोग उत्पन्न हो तभी पर्वत और अग्नि का संयोग भी उत्पन्न हो जाय और जब घट भूतल का संयोग नष्ट हो तभी पर्वत और अग्नि का संयोग भा नष्ट हो हो जाय। संयोग के समान घट आदि धर्मी का सत्त्व आदि धर्मों के साथ एक सम्बन्ध नहीं है। घट अनुयोगी है सत्त्व आदि धर्म प्रतियोगी हैं, इसलिये प्रत्येक प्रतियोगी के साथ सम्बन्ध भी भिन्न है।

मूलम्:--तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात्।

अर्थः-(५) धर्मों के द्वारा किया जानेवाला उपकार भी नियत स्वरूप में होनेके कारण अनेक होता है। अनेक उपकारियों से किया जानेवाला उपकार एक नहीं हो सकता।

विवेचनाः- धर्मी को अपने रंग में रंगना धर्मों का उपकार है। इस प्रकार का उपकार धर्मों के द्वारा एक नहीं हो सकता। दंड के कारण पुरुष दंडी कहलाता है। कुंडल उस स्वरूप को नहीं बना सकता जो दण्ड से बनता है दण्ड और कुंडल के समान सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म भी धर्मी के स्वरूप को एक प्रकार का नहीं बनाते। सत्त्व जिस स्वरूप से अर्थ को व्याप्त करता है, असत्त्व उससे भिन्न स्वरूप के द्वारा व्याप्त करता है, अतः पर्याय नय में उपकार से अभेद वृत्ति नहीं हो सकती।

मूलम्:-गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात्।

अर्थः-(६) प्रत्येक गुण का गुणिदेश भिन्न भिन्न होता है, यदि उसका अभेद हो तो भिन्न भिन्न पदार्थों के गुणों के गुणिदेश को भी अभिन्न मानना पडेगा।

विवेचनाः-यदि घट के सत्ता आदि गुणों का भेद होने पर भी गुणिदेश एक ही हो, तो वृक्ष आदिके सत्त्व आदि गुणों का भी वही एक देश हो जाना चाहिए।

मूलमः-संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात्, तदभेदे ससर्गिभेदविरोधात्।

अर्थः-(७) संसर्गी के भेद से संसर्ग में भी भेद होता है। संसर्ग में भेद न हो, तो संसर्गियों में भी भेद नहीं हो सकता।

विवेचनाः-वृक्ष, जल आदि संसर्गियों के भेद से संसर्ग में भेद देखा जाता है। इसलिये एक धर्मी में अनेक धर्मों का ससर्ग भी भिन्न है। यदि संसर्ग में भेद न हो तो धर्मों में भी भेद नहीं रहना चाहिये।

मूलमः-शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेरिति कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते।

अर्थः-(८) विषय के भेद से शब्द भी भिन्न हो जाता है, यदि सब गुण एक शब्द के वाच्य हों, तो समस्त अर्थ एक शब्द के वाच्य हो जाँय। इस प्रकार काल आदिके द्वारा भिन्न स्वरूप वाले धर्मों में अभेद का उपचार किया जाता है।

विवेचनाः-वृक्ष शब्द, वृक्ष रूप अर्थ का वाचक है। नक्षत्र शब्द नक्षत्र रूप अर्थ का वाचक है। अन्य शब्द भी भिन्न अर्थों के वाचक हैं। इसलिये सब धर्म एक शब्द के वाच्य नहीं हो सकते। यदि स्वरूप के भिन्न होने पर भी सब धर्मों का वाचक एक शब्द हो, तो वृक्ष नक्षत्र आदि सब अर्थों का भी वाचक एक शब्द हो जाना चाहिये। इस रीतिसे काल आदिके द्वारा भिन्न स्वरूपवाले धर्मों में अभेद का उपचार किया जाता है।

पर्यायार्थिक नय से काल आदि जब अभेद का प्रतिपादन नहीं कर सकते, तब भिन्न धर्मों में भेद होने पर भी अभेद का व्यवहार किया जाता है।

मूलम्:-एवं भेदवृत्तितदुपचारावपि वाच्याविति।

अर्थः-इसी प्रकार भेदवृत्ति और भेद के उपचार का भी प्रतिपादन कर लेना चाहिये।

विवेचनाः-विकलादेश में काल आदिके द्वारा भेद का प्रधान रूप से प्रतिपादन होता है अथवा भेद का उपचार होता है। जब पर्याय नय प्रधान होता है, तब द्रव्यार्थ नय के द्वारा भेद प्रधान नहीं हो सकता, इसलिये भेद का उपचार किया जाता है। जब पर्याय नय के अनुसार गुण आदि अभेद को असंभव कर देते हैं-तब भेद मुख्य हो जाता है।

मूलम्:-पर्यवसितं परोक्षम्। ततश्च निरूपितः प्रमाणपदार्थः।

अर्थः—परोक्ष प्रमाण पूर्ण हुआ और इस कारण प्रमाण पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ।

विवेचनाः-प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से प्रमाण दो प्रकार का है, इस प्रकार का निर्देश आरंभ में किया था। भेद के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष का निरूपण हो चुका है-अतः प्रमाण पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ।

इति महामहोपाध्याय श्री कल्याणविजयशिष्यमुख्य पण्डित श्रीलाभविजय गणि शिष्यावतंसपण्डित श्री जीतविजय गणि सतीर्थ्य पण्डित श्री नयविजय गणि शिष्येण पण्डित श्री पद्मविजय गणि सहोदरेण पण्डित यशोविजय गणिना कृतायां जैनतर्कभाषायां प्रमाणपरिच्छेदः

❀ ❀ सम्पूर्णः ❀ ❀

महामहोपाध्याय श्रीकल्याणविजयजी के शिष्य मुख्य पण्डित श्रीलाभविजय गणि है। उनके शिष्यों में अलंकार रूप पण्डित श्री जीतविजय गणि हैं। उनके सहाध्यायी पण्डित श्रीनयविजयजी गणि हैं। उनके शिष्य पण्डित श्री पद्मविजय गणि के सहोदर पण्डित यशोविजय गणि के द्वारा रचित जैन तर्क भाषा में प्रमाण परिच्छेद

॥ समाप्त हुआ ॥

❀ इति प्रमाण परिच्छेदः ❀

——

॥ नमः श्री प्रवचनाय ॥

卐 द्वितीय विभागः । 卐

अथ नय परिच्छेदः ।

अब नयों का स्वरूप निरूपण किया जाता है ।

मूलम् :–प्रमाणान्युक्तानि । अथ नया उच्यन्ते ।

अर्थः— प्रमाण कहे जा चुके हैं, अब नय कहे जाते हैं ।

मूलम् :–प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेश-ग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः ।

अर्थः— प्रमाण से जिस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का ज्ञान होता है उसके एक अंश का प्रकाशन करने वाले और प्रकाशित अंश से भिन्न अंश का निषेध न करने वाले विशेष प्रकार के अभिप्राय नय हैं ।

विवेचना :— यहां पर प्रमाण शब्द से श्रुत प्रमाण को लिया जाता है। वादी श्री देवसूरि प्रमाण नय तत्त्वालोक में नय के लक्षण में स्पष्ट रूप से श्रुत-प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अर्थ के एक अंश का प्रकाशन करनेवाले अभिप्राय को नय कहते हैं —

"नीयते येन श्रुताख्य प्रमाणविषयी कृतस्यार्थस्यांशात
दितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥१॥"

(प्रमाण नय तत्त्वालोक, सप्तम परिच्छेद सूत्र–१)

नय प्रधान रूपसे शब्दात्मक प्रमाण पर आश्रित हैं इसलिए यहां पर प्रमाण पद से श्रुत प्रमाण को लेना चाहिए। अर्थ में अनन्त धर्म हैं। उनमें कुछ धर्म परस्पर विरोधी हैं। इन परस्पर विरोधी धर्मों में से किसी एक धर्म का अपेक्षा के द्वारा ज्ञान हो, तो ही वह ज्ञान नय रूप होता है। शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका एक भेद अपेक्षा है इस प्रकार ज्ञान रूप नय अपेक्षात्मक होने से शब्द पर आश्रित है। अपेक्षात्मक ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला वचन वाक्य रूप नय है। स्वयं उपाध्याय श्री यशोविजयजी नयोपदेश में नय का लक्षण इस प्रकार करते हैं — सत्त्वाऽसत्त्वाद्युपेतार्थांशपक्षा वचनं नयः।

(नयामृत तरंगिणी-तरंगिणी तरणि से अलंकृत नयोपदेश-श्लोक-२, पृष्ठ नं.-६)

अपेक्षा वचन की व्याख्या में लिखते हैं – "अपेक्षावचनं प्रतिनियतधर्मप्रकारकापेक्षाख्यशाब्दबोधजनकं वचनम्, नय-वाक्यमित्यर्थः, इदं वचनरूपस्य नयस्य लक्षणम्, ज्ञान रूपस्य तु नयस्य अपेक्षात्मक शाब्दबोधत्वमेवेति द्रष्टव्यम्,"

विरोधी धर्मों में अपेक्षा का आश्रय लेकर एक धर्म का ज्ञान नय के स्वरूप के लिए आवश्यक है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से अर्थके ज्ञान में इस प्रकार की अपेक्षा आवश्यक नहीं होती। श्रुत प्रमाण एक धर्मी में विरोधी धर्मों का प्रतिपादन करने में समर्थ है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण धर्मों का प्रकाशन करते हैं, पर विरोध के साथ नहीं, अतः नय के के लिए श्रुत प्रमाण का आश्रय आवश्यक है।

जब 'घट है' इस प्रकार कहते हैं तब यह वाक्य 'घट अनंत धर्मात्मक वस्तु है, सत्त्व उसका एक अंश है' इस तत्त्व का प्रतिपादक है। सत्त्व के विरुद्ध असत्त्व धर्मका यह निषेध नहीं करता, इसलिये

यह वाक्य-नय है। जब 'घट है ही' इस प्रकार बोलकर बिना किसी अपेक्षा के सत्त्व धर्म का प्रतिपादन करते हैं, तब असत्त्व का निषेध करने के कारण वह वाक्य-नय नहीं रहता किन्तु दुर्नय हो जाता है।

नय के लक्षण में प्रकाशित अंश से भिन्न अंश का निषेधक न होना भी कहा गया है। यहां पर भिन्न पद से केवल भेद का अभिप्राय नहीं है, किन्तु विरोधी भिन्न धर्म का ग्रहण है। प्रत्यक्ष से फल आदि के रूप का ज्ञान होता है। यह ज्ञान फल के रस आदि धर्मों का निषेध नहीं करता। परन्तु यह नय नहीं है। रूप और रस आदि विरोधी नहीं है। इसलिए रूप को देखने पर रस आदि की प्रतीति और उसके निषेध की सम्भावना ही नहीं है अतः रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नय नहीं है। जब घट का सत्त्व धर्म प्रतीत होता है तब विरोधी असत्त्व धर्म का अभाव प्रतीत होने लगता है। उसकी ओर उदासीन भाव धारण करके जब स्व द्रव्य आदि की अपेक्षा से सत्त्व का प्रकाशन होता है तब नय कहा जाता है। प्रत्यक्ष आदि अपेक्षा से एक धर्म का प्रतिपादन करके किसी विरोधी धर्म की ओर उदासीन भाव नहीं रखते अतः नय नहीं हैं।

मूलम्:- प्रमाणैकदेशत्वात् तेषां ततो भेदः। यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणमिति।

अर्थः— प्रमाण का एक देश होने से उन नयों का प्रमाण से भेद है। जिस प्रकार समुद्र का एक देश न समुद्र है—न असमुद्र है, इस प्रकार नय भी न प्रमाण हैं—न अप्रमाण हैं।

विवेचना — नय ज्ञान रूप हैं। जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं उसका सत्य रूप में करते हैं। तात्त्विक स्वरूप में रूप रस गन्ध

आदि का प्रकाशन करनेवाले प्रत्यक्ष अनुमान आदि जिस प्रकार प्रमाण हैं इस प्रकार वस्तु के सत्त्व आदि धर्मरूप अंश का प्रकाशन करनेवाले नय भी प्रमाण होने चाहिए। इस आशंका को दूर करने के लिए कहते हैं, नय ज्ञान रूप होने पर भी प्रमाण और अप्रमाण से भिन्न है। प्रमाण अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशन करते हैं परन्तु नय वस्तु के एक देश का प्रकाशन करते हैं इसलिए प्रमाण नहीं हैं। अप्रमाण ज्ञान अर्थ को मिथ्या रूप में प्रकाशित करता है। मरुस्थल में जल का ज्ञान जल रहित स्थान को जल सहित रूप में प्रकाशित करता है। मिथ्या रूप में प्रकाशित करने के कारण जल ज्ञान अप्रमाण है। नयात्मक ज्ञान एक देश को मिथ्या रूप में प्रकाशित नहीं करता, इसलिए अप्रमाण नहीं है। समुद्र का बिन्दु-न समुद्र है न असमुद्र है किन्तु समुद्र का एक देश है, इस प्रकार नय भी न प्रमाण है न अप्रमाण है किन्तु प्रमाण का एक देश है। अनन्त धर्मात्मक वृक्ष आदि अर्थ वस्तु रूप है। उनके सत्त्व आदि धर्म वस्तु रूप नहीं हैं। मरु में जल के समान अवस्तु भी नहीं हैं किन्तु वस्तु के एक देश हैं। इसी प्रकार वस्तु के एक देश सत्त्व आदि का ग्रहण करनेवाले न प्रमाण हैं न अप्रमाण हैं किन्तु प्रमाण के एक देश हैं। इस रीति से भिन्न होने के कारण नयों का प्रमाणों से भिन्न रूप में और सत्य ज्ञान के साधन रूप में उल्लेख हुआ है। यदि नय प्रमाण हों तो प्रमाणों से भिन्न रूप में प्रतिपादन नहीं हो सकता। यदि नय अप्रमाण हों तो सत्य ज्ञान के साधन रूप में उल्लेख नहीं हो सकता।

जहां दो धर्मों का परस्पर विरोध होता है वहां तीसरा प्रकार नहीं होता इस नियम के अनुसार नय रूप ज्ञान में शंका हो सकती है। नय ज्ञान है, ज्ञान दो प्रकार का है-प्रमाण और अप्रमाण। प्रमाण और अप्रमाण दोनों परस्पर विरोधी हैं, इनमें तीसरा भेद नहीं हो सकता इसलिए नय को प्रमाण रूप अथवा अप्रमाण रूप होना चाहिये यह शंका हो सकती है। इसका उत्तर नयात्मक वस्तु के

विलक्षण स्वरूप से होता है। जहां कोई तत्त्व प्रमाण से सिद्ध हो वहां पर परस्पर विरोध के होने पर भी तीसरा प्रकार युक्त होता है। नैयायिक भी ज्ञान के दो भेद मानते हैं, प्रमा और अप्रमा। इन दोनों में परस्पर विरोध है तो भी वे निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा और अप्रमा से भिन्न मानते हैं। नय भी इसी प्रकार प्रमाण और अप्रमाण से भिन्न हैं।

मूलम् :- ते च द्विधा-द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात्। तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्र-ग्राही द्रव्यार्थिकः। प्राधान्येन पयायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः।

अर्थः – वे नय दो प्रकार के हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमें प्रधान रूप से केवल द्रव्य का ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक है। प्रधान रूप से केवल पर्याय का ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक है।

विवेचनाः— जो नय प्रधान रूप से द्रव्य का प्रतिपादन करता है वह द्रव्यार्थिक है। जो पर्याय को प्रधान रूप से प्रतिपादित करता है वह पर्यायार्थिक है। इन दोनों को द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक भी कहते हैं। प्रत्येक अर्थ द्रव्यरूप और पर्यायरूप है। द्रव्य पर्याय के बिना और पर्याय द्रव्य के बिना नहीं रहता। पर्यायों के उत्पन्न और विनष्ट होने पर भी जो स्थिर रहता है वह द्रव्य हैं। जो स्थिर नहीं रहते, किसी काल में प्रतीत होते हैं और किसी काल में नहीं प्रतीत होते वे पर्याय हैं। सुवर्ण का कभी कुण्डल रूप में और कभी कंकण रूप में परिणाम होता है। जब कुण्डल रूप में परिणाम दिखाई देता है तब कंकण का आकार नहीं दिखाई देता, परन्तु कुण्डल और कंकण दोनों पर्यायों की दशा में सुवर्ण दिखाई देता रहता है। सब दशाओं में दिखाई देना सुवर्ण द्रव्य को स्थिर सिद्ध करता है। पर्याय सदा नहीं दिखाई देते इसलिए

वे स्थिर नहीं है। स्थिर सुवर्ण द्रव्य है। देश और काल के क्रम से उसके पर्याय प्रकट होते है। पर्याय द्रव्य में सर्वथा असत् नहीं होते। पर्यायों का द्रव्य के साथ अभेद और भेद दोनों हैं। द्रव्यपर्यायरूप वस्तु में जब प्रधान रूप से द्रव्य को लेकर प्रतिपादन किया जाता है तब द्रव्यार्थिक नय होता है और जब प्रधान रूप से पर्यायों का प्रतिपादन होता है तब पर्यायार्थिक नय होता है। ध्यान में रखना चाहिए — वस्तु में द्रव्य और पर्याय समान रूप से रहते हैं। प्रधान और गौण रूप से नहीं। परन्तु जब अपेक्षा से एक का प्रधान भाव से और दूसरे का गौणभाव से प्रतिपादन होता है तब द्रव्यार्थिक अथवा पर्यायार्थिक नय उपस्थित होता है। इस वस्तु को तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार कहा है — "अर्पितानर्पित सिद्धेः" [तत्त्वार्थ. अ. ५ सू. ३१]।

अर्पित का अर्थ है अर्पण, अनर्पित का अर्थ है अनर्पण। ये दोनों क्रम से कहने की इच्छा और अनिच्छा को कहते हैं। धर्मी में अनेक धर्म हैं। कभी प्रयोजन से किसी धर्म की मुख्य रूप से विवक्षा की जाती है अन्य धर्मों को होने पर भी नहीं कहा जाता। जिन धर्मों का प्रतिपादन होता है उतने ही धर्म धर्मी में नहीं होते। वस्तु के द्रव्य रूप और पर्याय रूप होने पर भी प्रधान और गौण रूप से कहने की इच्छा के कारण वस्तु कभी सत् और कभी असत् प्रतीत होती है। कभी नित्य और कभी अनित्य प्रतीत होती है, जब अनुगामी नित्य स्वरूप के कहने की इच्छा होती है तब द्रव्य प्रधान रूप से प्रतीत होता है। जब उत्पत्ति और विनाश के कहने की इच्छा होती है तब पर्याय प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। स्वयं उपाध्यायजी 'नय रहस्य' में इस तत्त्व को कहते हैं — सन्निकर्ष-विप्रकर्षादिवशाद् यथा क्षयोपशमं द्रव्य-पर्यायप्रधानभावेनाप्रधानगुणभूतेऽपि वस्तुनि सत्त्व -घटत्वादिप्रतिपत्तेः, तदिदमुक्तम् — "अर्पितानर्पितसिद्धेः"। [तत्त्वार्थ. अ. ५, सू. ३१] इति.

मूलम्:-तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिधा नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्। पर्यायार्थिकश्चतुर्धा-ऋजुसूत्र-शब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात्। ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्यैव भेद इति तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः

अर्थः— द्रव्यार्थिक तीन प्रकार का है — (१) नैगम, (२) संग्रह और (३) व्यवहार। पर्यायार्थिक चार प्रकार का है — (१) ऋजुसूत्र, (२) शब्द, (३) समभिरूढ और (४) एवंभूत। ऋजुसूत्र द्रव्यार्थिक नय का ही भेद है इस प्रकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं।

विवेचनाः— श्री सिद्धसेन आदि आचार्यों के अनुसार ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक का भेद है। द्रव्यार्थिक प्रधान रूप से द्रव्य का ग्रहण करता है इसलिए गौण रूप से पर्याय का ग्रहण करता है, वह पर्याय का तिरस्कार नहीं करता। पर्यायार्थिक प्रधानरूप से पर्याय का ग्रहण करता है और द्रव्य का निषेध नहीं करता। प्रमाण द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रधान-भाव से प्रतिपादन करता है, इसलिये वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक से भिन्न है।

मूलम्:— तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः, यथा पर्याययोर्द्रव्ययोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया विवक्षणपरः।

अर्थः— इनमें से सामान्य विशेष आदि अनेक धर्मों का प्रतिपादन करनेवाला नैगम है। दो पर्यायों, दो द्रव्यों और पर्याय और द्रव्य को मुख्य और अमुख्य रूप से कहने में तत्पर नैगम होता है।

विवेचनाः— अनेक धर्मों का प्रतिपादन नैगम में होता है। वह प्रतिपादन गौण और मुख्य भाव से होना चाहिए। यदि गौण-

मुख्यभाव न हो तो धर्म और धर्मी का प्रतिपादन नैगम नहीं होगा। प्रधान-गौणभाव नियत नहीं है, वक्ता की इच्छा के अनुसार कभी द्रव्य और कभी पर्याय मुख्य और गौण हो जाते हैं। कोई भी नय हो, वक्ता की विवक्षा नय के लिए आवश्यक है। पूर्व आचार्यों के अनुसार नैगम पद की व्युत्पत्ति है — 'नैक गमो नैगमः।' जिस में कहने के एक नहीं अनेक प्रकार हों, वह नैगम है

मूलम्:- अत्र सच्चैतन्यमात्मनीति पर्याययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्। अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य, विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सत्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेनामुख्यत्वात्।

अर्थः— यहां पर 'आत्मा में चैतन्य सत है' इस रूप से पर्यायों में मुख्य और अमुख्य रूप से प्रतिपादन हैं यहांपर चैतन्य नामक व्यंजन पर्याय विशेष्य होने से मुख्य है, सत्त्व नामक पर्याय विशेषण होने से अमुख्य है अर्थात् गौण है।

विवेचनाः— चैतन्य को सत् कहने पर चैतन्य विशेष्यरूप से प्रतीत होता है और सत्त्व विशेषण रूप से प्रतीत होता है। चैतन्य का आत्मा के साथ भेद और अभेद है। सत्त्व जिस प्रकार आत्मा में है, इस प्रकार आत्मा से अभिन्न चैतन्य में भी है। चैतन्य और सत्त्व दोनों धर्म हैं, उनमें न कोई मुख्य है और न गौण। विशेष्य और विशेषण रूप से कहने के कारण चैतन्य मुख्य रूप से प्रतीत होता है और सत्त्व विशेषण रूप से।

चैतन्य और सत्त्व दोनों व्यञ्जन पर्याय हैं। यह दो पर्यायों का मुख्य और गौण-भाव से प्रतिपादन करने वाला नैगम है। यहां पर सत्त्वरूप व्यञ्जन पर्याय तिर्यक् सामान्य है। भिन्न भिन्न व्यक्तिओं में समानपरिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। रत्नाकरावतारिका में

श्री रत्नप्रभसूरि कहते हैं— तिर्यक् सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणाम लक्षणं व्यंजनपर्याय एव।
[रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद-७, सूत्र-५, पृष्ठ-७, भाग तीसरा]

मूलम् :— प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबंधनार्थ क्रियाकारित्वोपलक्षितो व्यञ्जनपर्यायः। भूतभविष्यत्त्वसंस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिन्न वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः।

अर्थः— प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारणभूत अर्थ क्रिया-कारित्व से उपलक्षित पर्याय व्यंजनपर्याय है। भूत और भावि-पन के स्पर्श से रहित वर्तमान काल में होनेवाला वस्तु का स्वरूप अर्थ पर्याय है।

विवेचनाः— वस्तुओं में अनेक प्रकार के धर्म होते हैं, उन धर्मों के कारण अर्थ भिन्न भिन्न कार्यों को करते हैं। अग्नि में उष्ण स्पर्श है इसलिये उसके द्वारा दाहरूप कार्य उत्पन्न होता है। दाहरूप अर्थ क्रियाको उत्पन्न करनेवाला अग्निका उष्ण परिणाम व्यंजन पर्याय है। अल्प और महा परिणाम में अग्नि के अर्थ पर्याय प्रतिक्षण भिन्न होते रहते हैं, परन्तु उष्ण पर्याय स्थिर रहता है। उष्ण परिणाम के कारण अग्नि दाहरूप अर्थक्रिया का जनक है। इस स्वरूप को जानकर लोगों की अग्नि के विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। जीव का चैतन्य भी वृक्ष आदि के विषय में ज्ञान उत्पन्न करता है। अर्थ को प्रकाशित करना ज्ञान की अर्थ क्रिया है। सुख दुःख आदि पर्याय भिन्न होते रहते हैं। परन्तु चैतन्य सभी पर्यायों में स्थिर अनुगत रहता है। ज्ञान के द्वारा वस्तु का प्रकाशन होने पर लोग प्रवृत्ति करते हैं अथवा निवृत्त होते हैं। जब सुख होता है तब दुःख नहीं रहता जब दुःख होता है तब सुख नहीं रहता। परन्तु ज्ञान सुख-दुःख दोनों के काल में रहता है इस अनुगामी स्वरूप के कारण चैतन्य व्यंजन-पर्याय है। अर्थ, अर्थ क्रियाको सदा उत्पन्न नहीं

करता। परन्तु अर्थ क्रिया को उत्पन्न करने वाला पर्याय स्थिर रहता है। जलाने के लिये किसी वस्तु का सम्बन्ध न हो तो अग्नि दाह नहीं उत्पन्न करता परन्तु उस काल में भी दाह का उत्पादक उष्ण पर्याय अग्नि में रहता है इसलिए इस प्रकार का स्थिर पर्याय अर्थ क्रिया कारित्व से उपलक्षित होता है उस काल में भी दाह के उत्पन्न करने की योग्यता अग्नि में रहती है वृक्ष आदि अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने पर ज्ञान भी प्रकाशन नहीं करता, परन्तु उस काल में भी स्थिर ज्ञान अर्थ के प्रकाशन की योग्यता से युक्त रहता है। अर्थ प्रकाशन की योग्यता और अनेक सुख आदि अर्थ पर्यायों में स्थिरता के कारण चैतन्य व्यंजन पर्याय है। सत्त्व भी अन्य पर्यायों में स्थिर रहता है इसलिए यहां पर व्यंजन पर्याय कहा गया है। इन में सत्त्व विशेषण है और चैतन्य विशेष्य है इसलिए यहां पर नैगम नय है।

जो पर्याय धर्मी में अतीत और अनागत काल में नहीं है किन्तु वर्तमान काल में है वह अर्थपर्याय है, यह पर्याय प्रतिक्षण भिन्न होनेवाली वस्तु के स्वरूप में रहता है।

मूलम्:— वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, पर्यायवद् द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, वस्त्वाख्यस्य विशेषणत्वेन गौणत्वात्।

अर्थः— पर्यायवाला द्रव्य वस्तु है इस रूप से दो द्रव्यों का मुख्य और अमुख्य रूप से प्रतिपादन होता है। पर्यायवाला द्रव्य नामक धर्मी विशेष्य होने के कारण प्रधान है। वस्तु नामक धर्मी विशेषण होने से गौण है।

वस्तु विशेषण है। वह भी द्रव्य है पर्याय से विशिष्ट द्रव्य भी द्रव्य है। जब पर्यायों के साथ द्रव्य को विशेष्य रूप से कहते हैं तब वह मुख्य हो जाता है। वस्तु विशेषण रूप से कहागया है इसलिए वह गौण हो जाता है।

जब 'वस्तु कौनसी है ? जो पर्यायों से विशिष्ट द्रव्य है' इस रूप से विवक्षा होती है तो वस्तु विशेष्य होने के कारण प्रधान हो जाती है और पर्याय से विशिष्ट द्रव्य गौण हो जाता है। यह नैगम दो धर्मियों के विषय में है।

मूलम्:— क्षणमेकं सुखी विषयासक्त जीव इति पर्याय-द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, अत्र विषयासक्त जीवाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्य तद्विशेषणत्वेनामुख्यत्वात्।

अर्थः— विषय में आसक्त जीव एक क्षण सुखी होता है इस रीति से पर्याय और द्रव्य की मुख्य और अमुख्य रूप से विवक्षा होती है। यहां विषय में आसक्त जीव नाम धर्मी विशेष्य होने के कारण मुख्य है। सुख रूप धर्म उसका विशेषण होने के कारण अमुख्य है।

यहां पर जीव द्रव्य है और सुख पर्याय है इसलिए यहांपर धर्म और धर्मी को लेकर नैगम है। विशेष्य होने के कारण धर्मी जीव मुख्य है और सुख नामक धर्म विशेषण होने के कारण मुख्य नहीं है।

मूलम्:— न चैवं द्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वेन नैगमस्य प्रामाण्यप्रसङ्गः, प्राधान्येन तदुभयावगाहिन एव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्।

अर्थः— द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रकाशक होने से नैगम प्रमाण हो जाना चाहिए। इस प्रकार की शंका उत्पन्न होती है। इसका उत्तर-प्रधान रूप से जो द्रव्य और पर्याय को प्रकाशित करता है वही ज्ञान प्रमाण होता है।

विवेचनाः— सामान्य और विशेष का, द्रव्य और पर्याय का नित्यत्व और अनित्यत्व आदि का प्रतिपादन नैगम गौण मुख्य भाव से करता है। जहां पर नैगम सामान्य का प्रधान भाव से और विशेष का गौण भाव से प्रतिपादन करता है वहां पर नैगम का और संग्रह का विषय समान हो जाता है। जहां पर विशेष का प्रधान रूप से और सामान्य का गौण रूप से प्रकाशन होता है वहां पर व्यवहार और नैगम का विषय समान हो जाता है। ध्यान में रखना चाहिए, जब नैगम सामान्य अथवा विशेषका प्रतिपादन करता है तब सामान्यके अनुगामी स्वरूपका और विशेषके केवल व्यक्तिमें रहनेवाले स्वरूपका प्रकाशन नहीं करता। वह मुख्य रूप से सामान्य और विशेष के गौण मुख्य भावका आश्रय लेकर प्रकाशन करता है। सामान्य रूप अथवा विशेष रूप वस्तु होती है, केवल इतनेसे संग्रह अथवा व्यवहार के साथ विषय समान होता है। जब नैगम 'जीव में चैतन्य सत् है' इस प्रकार सत्त्व और चैतन्य इन दो पर्यायों का मुख्य और गौण भावसे प्रतिपादन करता है तब सत्त्वके अनुगामी होने पर भी उसके अनुगामी स्वरूपका प्रतिपादन नहीं करता। किन्तु चैतन्य के साथ सत्त्वका केवल सम्बन्ध प्रकट करता है। इसलिए सत्त्वरूप तिर्यक् सामान्य का प्रतिपादन होने पर भी नैगम का संग्रह से स्पष्ट भेद है। जब नैगम 'विषय में आसक्त जीव क्षण भरके लिए सुखी होता है' इस प्रकार प्रतिपादन करता है तब सुखरूप धर्मात्मक पर्याय का प्रतिपादन करने पर भी सुख के व्यक्तिमय विशेष रूपका निरूपण नहीं करता। सुख एक पर्याय विशेष है। इस तत्त्वकी ओर नैगम का ध्यान नहीं है वह केवल सुख को विशेषण रूप से और जीव को विशेष्य रूप से प्रतिपादन करने में ध्यान देता है। सुख एक पर्याय रूप व्यक्ति विशेष है इतने से व्यवहार और नैगम का विषय सर्वथा समान नहीं हो जाता।

सुख रूप धर्म से विशिष्ट धर्मी जीव का प्रतिपादक

होने के कारण यह नैगम द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रकाशक है। परंतु धर्मीका मुख्य रूपसे और सुखात्मक धर्मका गौण रूपसे प्रकाशक है, इसलिए प्रमाण से भिन्न है। द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रधान भाव से प्रकाशन हो तो ज्ञान प्रमाण होता है।

मूलम्:- सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः- स द्वेधा, परोऽपरश्च।

अर्थः— केवल सामान्य को ग्रहण करने वाला अभिप्राय संग्रह नय है। वह दो प्रकार का है, पर और अपर।

विवेचनाः— प्रत्येक अर्थ सामान्यात्मक और विशेषात्मक है। संग्रह सामान्य रूप का ग्रहण करता है। जब सामान्य का ज्ञान होता है तब विशेषों का भी ज्ञान होता है, पर विशेष रूप से नहीं होता। उस काल में विशेष भी सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं।

जो संग्रह अधिक देश में रहता है वह पर है और जो अल्प देश में रहता है वह अपर है।

मूलम्:- तत्राशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः संग्रहः। यथा विश्वमेकं सदविशेषादिति।

अर्थः— समस्त विशेषों में उदासीन भाव को धारण करनेवाला और केवल शुद्ध द्रव्य सत्को स्वीकार करने वाला पर संग्रह कहा जाता है। जैसे 'विश्व एक है, सत् रूप से भेद न होने के कारण।'

विवेचनाः—जीव अजीव आदि जितने अर्थ चेतन और अचेतन हैं, वे सब सत्ता रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा से एक हैं। जीव आदि जितने भी विशेष हैं उनमें किसी का भी स्वभाव असत् नहीं है, सभी

अर्थ सत् रूप से प्रतीत होते हैं। अर्थों में परस्पर भेद है परन्तु कोई भी अर्थ असत् नहीं है। सत् और असत् का विरोध है। जीव आदि में से यदि कोई अर्थ असत् हो, तो वह सत् रूप से प्रतीत नहीं होना चाहिए। सत् होने पर वह असत् नहीं हो सकता। द्रव्य हो, गुण हो, अथवा कर्म आदि हो, कोई भी हो सत्त्व के बिना अपने भिन्न स्वरूप में वह नहीं रह सकता। समस्त विशेषों में सत्त्व अनुगत है इसलिए द्रव्य है। सत् रूपका ज्ञान न होने पर किसी भी विशेष का ज्ञान नहीं होता। सत्त्व का भेदों के साथ विरोध नहीं है, जीव अजीव आदि परस्पर भिन्न होने पर भी समान रूप से सत् प्रतीत होते हैं। पर्याय और गुणों के बिना प्रतीत होने के कारण यहां सत्त्व सामान्य शुद्ध है। संमति तर्क के व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरि भी कहते हैं — शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहः। [संमति तर्क — अभयदेवसूरि कृत व्याख्या सहित पृ. ३११]

मूलमूः— द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसङ्ग्रहः।

अर्थः— द्रव्यत्व आदि अपर सामान्योंको स्वीकार करनेवाला और उनके भेदों में उपेक्षा करनेवाला अभिप्राय अपर संग्रह है।

विवेचनाः—अपर संग्रह के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यत्व सामान्य से व्याप्त हैं, इसलिए जीव आदि एक द्रव्यरूप हैं। इसी प्रकार चेतन और अचेतन द्रव्यों के पर्यायोंमें पर्यायत्व नामक अपर सामान्य है, उसके कारण सब पर्याय एक हैं। द्रव्यत्व और पर्यायत्व आदि पर्यायों के आश्रय द्रव्य और पर्याय हैं। उनके विषय में यह संग्रह उपेक्षा करता है। द्रव्य और पर्याय आदि का निषेध अपर संग्रह के अनुसार नहीं है। पुद्गल आदि द्रव्यों के बिना द्रव्यत्व और क्रमभावी सुखदुःख आदि और सहभावी

गुणात्मक रूप आदि पर्यायों के बिना पर्यायत्व नहीं रह सकता।

मूलम्:- संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः।

अर्थः— संग्रह के द्वारा प्रकाशित अर्थों का विधिपूर्वक विभाग जो अभिप्राय करता है, वह व्यवहार है।

साधारण धर्म के द्वारा जो अर्थ भिन्न होने पर भी एक प्रतीत होते हैं उनका विशेष धर्मों के द्वारा विभाग करना व्यवहार है।

मूलम्:- यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा। यद् द्रव्य तज्जीवादि षड्विधम्। यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेत्यादि।

अर्थः— जिस प्रकार जो सत् है वह द्रव्य रूप अथवा पर्याय रूप होता है जो द्रव्य है वह जीव आदि छह प्रकारका है। जो पर्याय है वह दो प्रकार का है-क्रमभावी और सहभावी इत्यादि।

विवेचना:— अपर संग्रह अनेक प्रकारका है और पर संग्रह एक प्रकार का है। दोनों संग्रहों से जिनका ज्ञान होता है उनका भेद व्यवहार करता है। समस्त अर्थों को पर संग्रह सत् रूपसे एक करता है। व्यवहार उसका विभाग करता है। सत् दो प्रकारका है द्रव्य और पर्याय। अपर संग्रह समस्त द्रव्योंका द्रव्य रूपसे संग्रह करता है और व्यवहार उन द्रव्यों का जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप से विभाग करता है। इसी प्रकार पर्याय रूप से समस्त पर्यायों का संग्रह है और क्रमभावी तथा सहभावी रूप से उनका भेद है। इसके अनन्तर भी विभाग होने लगता है, जीव दो प्रकार का है मुक्त और संसारी। पुदगल दो प्रकार

का है — अणु और स्कंध। धर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गलों की गति में हेतु है। अधर्मास्तिकाय जीव और अजीव की स्थिति में हेतु है।

इसी प्रकार पर्याय दो प्रकार का है। क्रम भावी और सहभावी। क्रमभावी भी दो प्रकार का है – क्रिया रूप और अक्रिया रूप। इस प्रकार अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं।

मूलम्:- ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः।

अर्थः— ऋजु अर्थात् वर्तमान क्षण में स्थिर रहने वाले पर्याय को प्रकाशित करनेवाला अभिप्राय ऋजु सूत्र है।

विवेचनाः— वस्तु के पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। जब एक पर्याय वर्तमान होता है तब पूर्वकालके पर्याय अतीत होते हैं और उत्तर कालके पर्याय अनागत होते हैं। यह नय प्रधान रूपसे वर्तमान पर्याय का बोध कराता है। अतीत और अनागत पर्यायों की उपेक्षा करता है। इसी प्रकार तीनों कालोंमें रहने वाले द्रव्यकी भी उपेक्षा करता है।

मूलम्:- यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति। अत्र हि क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यत इति।

अर्थः— जिस प्रकार इस काल में सुख पर्याय है। यहां पर एकक्षण में रहनेवाला सुख नामक पर्याय प्रकाशित किया गया है परन्तु उसके अधिकरण आत्मद्रव्य की विवक्षा गौण होने के कारण नहीं की है।

विवेचनाः—द्रव्य के बिना पर्याय नहीं रह सकता। इस लिए जब सुख है तब सुख दुःख आदि समस्त पर्यायों में रहने वाला

आत्मद्रव्य भी अवश्य है। मुख्य रूपसे वर्तमान कालके विषय में ध्यान देनेके कारण ऋजुसूत्र तीन कालोंमें अनुगत रूपसे रहनेवाले आत्माको गौण समझता है और इस कारण उसकी उपेक्षा करता है।

मूलम्:- कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिंगसङ्ख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः।

अर्थः— काल आदिके भेदसे शब्द के अर्थमें भेदको स्वीकार करनेवाला शब्द नय है। काल, कारक, लिंग, सङ्ख्या पुरुष, और उपसर्ग कालादि हैं।

मूलम्:- तत्र बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदेन सुमेरोर्भेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भ इत्यादौ कारकभेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिङ्गभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादौ पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन।

अर्थः— सुमेरु था, है और होगा। यहां पर अतीत आदि कालके भेदसे सुमेरु के भेद का ज्ञान होता है। कुम्भार घट को बनाता है, कुंभारके द्वारा घट बनाया जाता है, यहां कारक के भेद से; तटः तटी तटम् इत्यादि स्थल में लिंग के भेद से; दाराः कलत्रम् इत्यादि में संख्या के भेद से; तुम जाओगे आप जायेगें इत्यादि में पुरुष के भेद से; संतिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादि में उपसर्ग के भेद से; अर्थ में भेद का ज्ञान होता है।

विवेचनाः- जब किसी वस्तुका अतीत कालके साथ सम्बन्ध प्रकाशित होता है तब अर्थका ज्ञान जिस रूपमें होता है उसकी अपेक्षा वर्तमान कालमें होनेवाले ज्ञानका रूप भिन्न होता है। ज्ञानके स्वरुप में भेद होनेसे अर्थका भी भेद आवश्यक है। ज्ञान भेदके कारण

अर्थों का भेद निश्चित होता है। वृक्ष और पत्थर, भूमि और सूर्य भिन्न हैं इस तत्त्वका निश्चय ज्ञान के भेद पर आश्रित है। यदि इन समस्त अर्थों का ज्ञान एक रूपमें हो, तो अर्थोंके स्वरूपका भेद निश्चित नहीं हो सकता। शब्द जब कालके भेदसे अर्थको प्रकट करते हैं तब भी ज्ञानका स्वरूप भिन्न होता है, इसलिए कालके भेदसे अर्थमें भी भेद मानना चाहिए—यह शब्द नयका मत है। इसी प्रकार जब घडे को बनाता है इस प्रकार कहते हैं तब घडे का कर्ता प्रधान रूपसे प्रतीत होता है और घट अप्रधान रूपसे प्रतीत होता है। इसके विरुद्ध जब घडा बनाया जा रहा है, इस प्रकार कहते हैं तब घट प्रधान रूपसे प्रतीत होता है और कर्ता अप्रधान रूपसे। प्रधान और अप्रधान रूपोंका भेद आवश्यक है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक का भेद प्राणियों में स्पष्ट है। जब एक अर्थ को स्त्रीलिंग पुल्लिंग अथवा नपुंसकलिंग शब्दसे कहते हैं तब अर्थ एक आकार का प्रतीत होने पर भी भिन्न स्वरूपमें प्रतीत होता है इसलिए वहां भी प्रतीति के अनुसार अर्थका भेद है। उपसर्गों के भेदसे अनेकबार परस्पर विरोधी अर्थोंका ज्ञान होता है। गच्छति कहनेसे जाना प्रतीत होता है और आगच्छति से आना। जाना और आना भिन्न अर्थ हैं। 'आ' उपसर्ग जिस प्रकार भिन्न अर्थ को प्रकट करता है इस प्रकार अन्य उपसर्ग भी भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं।

ऋजु सूत्र के समान शब्द नयभी वर्तमानकाल के अर्थका ज्ञान उत्पन्न करता है। परन्तु शब्द जिस प्रकार कारक आदि के भेदसे अर्थके भेदको प्रकाशित करता है इस प्रकार ऋजुसूत्र नहीं करता। कारक आदि के भिन्न होने पर भी ऋजुसूत्रके अनुसार अर्थमें भेद नहीं होता। वर्तमान कालमें अर्थका जो स्वरूप प्रतीत होता है, वह कारक आदिके भिन्न होने पर भी अभिन्न रहता है—इस कारण ऋजुसूत्र और शब्द नयका भेद है।

शब्द नयको साम्प्रत भी कहते हैं। 'संप्रति' वर्तमान कालका

वाचक है। शब्द वर्तमान कालमें जिस रूपसे अर्थका प्रतिपादन करता है वह अर्थका रूप है, शब्द के अनुसार अर्थका रूप साम्प्रत है।

मूलम्:- पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः।

अर्थः— पर्याय शब्दों म व्युत्पत्ति के भेदसे शब्दोंके अर्थ में भेद मानने वाला अभिप्राय समभिरूढ है।

मूलम्:- शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते। अभेदं त्वर्थगतं पर्याय शब्दानामुपेक्षत इति, यथा इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूदारणात्पुरन्दर इत्यादि।

अर्थः— शब्द नय पर्यायों के भेद में भी अर्थका अभेद मानता है, परन्तु समभिरूढ पर्यायों के भेद में भिन्न अर्थों को मानता है और अर्थ में जो पर्यायों का अभेद है उसकी उपेक्षा करता है। जिस प्रकार इन्दन के कारण इन्द्र, शक्ति के कारण शक्र, नगर का विदारण करने के कारण पुरन्दर इत्यादि।

विवेचनाः—शब्दों के भेदसे अर्थका भेद पाया जाता है। वृक्ष और मनुष्य भिन्न शब्द है। इन दोनों का अर्थ भी भिन्न है। जिन शब्दों को पर्याय कहा जाता है वे भी भिन्न शब्द हैं इन्द्र और शक्र आदि शब्द भिन्न हैं इसलिए इनका अर्थ भी भिन्न होना चाहिए। यहां ध्यान रखना चाहिए—जहां शब्द भिन्न होते हैं वहां अर्थ का भेद होता है, इतना कहकर समभिरूढ नय अर्थों में भेद होने पर वाचक शब्दों के भेद को अनिवार्य नहीं कहता। जहां अर्थ भेद है वहां अवश्य वाचक शब्दों का भेद है, यह उसका अभिप्राय नहीं है। इस प्रकार का कथन तो अयुक्त है। कई शब्द इस प्रकार के होते हैं जिनके अर्थ अनेक होते हैं। गो शब्द एक है पर उसके अर्थ गाय, वाणी, भूमि,

किरण आदि अनेक हैं। इसी प्रकार के हरि आदि शब्द भी एक हैं, जिनके अर्थ भिन्न भिन्न हैं। अनेकार्थक शब्दोंमें अर्थका भेद तो है, पर वाचक शब्दका भेद नहीं है। इसलिए समभिरूढ नय शब्द भेद होने पर अर्थका भेद आवश्यक समझता है। शब्दों के भिन्न होने पर उसके अनुसार अर्थोंका भेद आवश्यक है। जहां शब्द भेद है वहां अर्थ भेद है यह नियम समभिरूढ नयके अनुसार है। अर्थके भेदको केवल शब्दका भेद नहीं प्रकाशित करता। लक्षण और स्वरूपका भेद भी अर्थ के भेद को प्रकट करता है। कहीं पर अर्थ का भेद शब्दके भेदसे प्रतीत होता है और कहीं पर लक्षण अथवा स्वरूपके भेदसे। वृक्ष और मनुष्य शब्द भिन्न हैं इसलिए यहां पर शब्द भेद के कारण अर्थमें भेद प्रतीत होता है जहां एक 'गो' शब्द गाय-भूमि-आदि अनेक अर्थोंको कहता है वहां स्वरूपका भेद अथवा लक्षणका भेद अर्थके भेद को प्रकट करता है। केवल शब्दका भेद ही अर्थके भेदको प्रकट करनेका साधन नहीं है। इतना अवश्य है जहां शब्द भिन्न होते हैं वहां अर्थ भी भिन्न होते हैं शक्र इन्द्र-आदि शब्द भिन्न हैं इसलिए इनका अर्थ भी मनुष्य, वृक्ष आदि शब्दोंके समान भिन्न होना चाहिए।

मूलम् :- शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः। यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः।

अर्थः— शब्दों की प्रवृत्ति में क्रिया निमित्त है। इस क्रियासे युक्त अर्थ को ही वाच्य रूप से स्वीकार करनेवाला एवंभूत है। जिस प्रकार इन्दन क्रिया का अनुभव करता हुआ इन्द्र है।

विवेचनाः- व्युत्पत्ति के द्वारा जो क्रिया प्रतीत होती है उसके कारण अर्थों में शब्दों का प्रयोग होता है। जो क्रिया निमित्त है वह यदि न हो तो अर्थ शब्द का वाच्य नहीं रहता। आज्ञा आदि के द्वारा जो ऐश्वर्य का अनुभव करता है वह इन्द्र है। जब ऐश्वर्य का

अनुभव नहीं कर रहा है तब वास्तव में इन्द्र शब्द का उसके लिए प्रयोग नहीं होना चाहिए-यह एवंभूत नय का अभिप्राय है। जो गति करती है वह गाय है। गम् धातु से गो शब्द की उत्पत्ति है। गम् धातुका अर्थ है-चलना। जब गाय बैठी है अथवा सो रही है तब वह नहीं चलती, इसलिए एवंभूत नय के अनुसार उसको गा नहीं कहा जा सकता।

मूलम्:--समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादरर्थम्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, क्रियोपलक्षितसामान्यस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, पशुविशेषस्यगमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथारूढेः सद्भावात्। एवम्भूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते।

अर्थः— इन्दन आदि क्रिया विद्यमान हो अथवा अविद्यमान, समभिरूढ नय के अनुसार वासव आदि अर्थ इन्द्र आदि शब्द का वाच्य है, कारण; क्रिया से उपलक्षित सामान्य शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है। जाने की क्रिया विद्यमान हो अथवा न हो विशेष प्रकार का पशु गौ कहा जाता है, इसी प्रकारकी रूढि है। परन्तु एवभूत नय इन्दन आदि क्रिया में परिणत अर्थ को उस क्रिया के काल में इन्द्र आदि शब्दों से वाच्य मानता है।

विवेचनाः—समभिरूढ नयके अनुसार व्युत्पत्ति के द्वारा जो क्रिया प्रतीत होती है वह व्युत्पत्ति की निमित्त है। परन्तु व्युत्पत्तिका निमित्त सदा प्रवृत्तिका निमित्त नहीं हो सकता। किसी काल में क्रिया शब्द की प्रवृत्तिमें निमित्त हो सकती है, परन्तु सदा प्रवृत्तिका निमित्त नहीं बन सकती जब क्रिया न हो तब प्रवृत्ति-निमित्त क्रिया से भिन्न हो जाता है। गौ जब न चल रही हो तब गोत्व जातिके कारण गो

शब्द का प्रयोग गायमें होता है। गोत्व जाति जब तक गायका शरीर है तब तक उसमें रहती है। गाय बैठी हो अथवा सो रही हो तो चलनेकी क्रियाके न होने पर भी गोत्व जातिका ज्ञान होता है। उस कालमें गमन क्रिया उपलक्षण होती है। जो वस्तु उपलक्षण रूपमें होती है वह एक बार प्रतीत होकर पीछे अविद्यमान होने पर भी अर्थका ज्ञान करा देती है। 'काक जिस पर बैठा है वह देवदत्त का घर है' इस प्रकार जब कहते हैं तब देवदत्तके घर के लिए काक उपलक्षण होता है। देखनेवाला घर पर काकको देखता है परन्तु घरके पास पहुँचते पहुँचते काक उड जाता है। उड जाने पर भी देवदत्तके घरको अन्य घरोंसे भिन्न रूपमें प्रतीत करा देता है। गो शब्द से जो गमन क्रिया प्रतीत होती है वह भी उपलक्षण है। जब वह नहीं रहती तब गमन क्रियासे गोत्व जाति उपलक्षित होकर प्रतीत होती है इस प्रकार का उपलक्षित सामान्य गो शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है। रूढि इस विषय में प्रमाण है। यदि क्रियासे उपलक्षित सामान्य शब्दकी प्रवृत्ति का निमित्त न हो तो गो शब्द की गायमें रूढि नहीं हो सकती। रूढि के कारण लोग सोती अथवा बैठी गायको भी गौ कहते हैं।

एवंभूत नय व्युत्पत्ति के और प्रवृत्ति के निमित्त को भिन्न नहीं मानता। उसके अनुसार केवल क्रिया शब्दकी प्रवृत्ति में निमित्त है। जब स्वर्गका अधिपति शासन आदि करता है तब ऐश्वर्य से विशिष्ट होनेके कारण एवंभूत नय के अनुसार इन्द्र शब्दका वाच्य है। जब असुरोंके नगर का विदारण करता है, तब वह इन्द्र शब्द से नहीं कहा जा सकता। तब उसको पुरंदर शब्दसे कहना चाहिए।

मूलम्:– न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति। गौरश्व इत्यादि जातिशब्दाभिमतानामपि क्रिया शब्दत्वात् गच्छतीति गाः, आशुगामित्वादश्व इति। शुक्लो, नील इति गुणशब्दा-

भिमता अपि क्रियाशब्दा एव-शुचीभवनाच्छुक्लो, नीलनात् नील इति। देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रिया शब्दा एव, देव एनं देयात् यज्ञ एनं देयादिति। संयोगिद्रव्य शब्दाः समवाय (यि) द्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रिया शब्दा एव, दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात्। पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्र तु, न तु निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते।

अर्थः— एवंभूत नय के अनुसार कोई भी शब्द अक्रिया शब्द नहीं है। गौ अश्व इत्यादि शब्द जाति-वाचक माने जाते हैं पर वे भी क्रिया शब्द हैं। जो गमन करती है वह गौ है और जो जल्दी जाता है वह अश्व है। शुक्ल नील आदि शब्द गुण शब्द कहे जाते हैं पर वे भी क्रिया शब्द हैं। शुचि होने से शुक्ल और नीलन करने से नील कहा जाता है। देवदत्त यज्ञदत्त आदि शब्द यदृच्छा शब्द कहे जाते हैं पर वे भी क्रिया शब्द हैं। देव इसको देवे इस प्रकार की इच्छा जिसके लिए की जाय वह देवदत्त है, यज्ञ इसको देवे इस प्रकार की इच्छा जिसके लिये की जाय वह यज्ञदत्त है। संयोगिद्रव्य शब्द और समवायिद्रव्य शब्द जो माने जाते हैं, वे भी क्रिया शब्द हैं। दण्ड इसका है इसलिए दण्डी, विषाण इसका है इसलिए विषाणी इसरीति से इनमें भी होने की क्रिया प्रधान है। शब्दों के पांच प्रकार केवल व्यवहार से हैं, निश्चय से नहीं, इस वस्तु को यह नय स्वीकार करता है।

विवेचनाः—पांच प्रकारके शब्द माने जाते हैं जाति शब्द गुण शब्द,—क्रिया शब्द—यदृच्छा शब्द— और द्रव्य शब्द। इन सभी शब्दों में कोई न कोई क्रिया अवश्य प्रतीत होती है। जिनको क्रिया शब्द कहा जाता है उनमें क्रिया अति स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है और

अन्य शब्दों में क्रिया का भान अस्पष्ट रूप से होता है। गो आदि शब्दों को जाति शब्द कहा जाता है पर वहां भी व्युत्पत्तिके अनुसार गमन आदि क्रियाका सम्बन्ध प्रतीत होता है। शुक्ल आदि रूप गुण हैं इसलिए शुक्ल आदि शब्दोंको गुणका वाचक होनेसे गुण शब्द कहा जाता है। जो शुचि हो रहा है वह शुक्ल है इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्मल होना एक क्रिया है जिसके साथ संबंध होने से रूप शुक्ल कहा जाता है गति आदि क्रियाओंके समान होना क्रिया, चलन रूप नहीं है परंतु क्रिया है। होना एक प्रकारका परिणाम है और परिणाम क्रिय है। जितने भी अर्थ हैं—परिणामी हैं। जीव पुद्गल आदि जितने भी चेतन अचेतन द्रव्य हैं सब पर्यायोंसे युक्त हैं। पर्याय क्षणिक है, प्रथम क्षणमें जो पर्याय है वह दूसरे क्षणमें नहीं है। चलन रूप अथवा अचलन रूप परिणाम समस्त द्रव्योंमें होता है। गुण द्रव्योंसे भिन्न और अभिन्न हैं इसलिए अभेदकी अपेक्षा से वे भी परिणामी है। निर्मल होनेके कारण रूप शुक्ल कहा जाता है। निर्मल होना भी परिणाम है, इस प्रकार की परिणाम रूप क्रिया के साथ संबंध होनेसे गुण शब्द भी क्रिया शब्द है। जब तक निर्मल हो रहा है तब तक शुक्ल कहा जा सकता है। जब निर्मल भाव नहीं रहेगा तब शुक्ल रूपका स्वरूप भी नहीं रहेगा। उस काल में शुक्ल शब्दका प्रयोग उचित नहीं है।

देवदत्त आदि शब्दों को कुछ लोग यदृच्छा शब्द कहते हैं। वहां भी व्युत्पत्ति के अनुसार देवों क द्वारा दान क्रिया का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में प्रतीत होता है। जिनको द्रव्य शब्द कहा जाता है वे भी संयोगी द्रव्यको अथवा समवायी द्रव्यको कहते हैं। संयोग गुण है परंतु जब संयोग होता है तभी संयोगी द्रव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। दंडका संयोग होना भी क्रिया है। जब तक दंडका सयोग है तभी तक दंडी कहा जाता है, इसलिए यह भी क्रिया शब्द है।

जब लोग शब्दों को पाच प्रकार का कहते हैं, तब व्युत्पत्तिके

द्वारा प्रतीत होनेवाली क्रिया को गौण मानकर और जाति गुण आदि को प्रधान मानकर व्यवहार करते हैं। निश्चय नय के अनुसार विचार करने पर सभी शब्दों में क्रिया विद्यमान है। इस रीति से एवंभूत नय सभी शब्दों को क्रिया शब्द कहता है।

मूलम्:- एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थ-नयाः अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्छब्दनयाः।

अर्थः— इन सात नयों में आदि के चार प्रधान रूप से अर्थ के विषय में हैं इसलिए अर्थ नय हैं और अंतिम तीन मुख्य रूप से शब्द के विषय में हैं इसलिए शब्दनय हैं।

विवेचनाः— नय श्रुत प्रमाण के भेद हैं। अर्थों में अनेक प्रकार के धर्म हैं। द्रव्य आदि की अपेक्षा से किसी धर्म को मुख्य रूप से और किसी को गौण रूप से नय प्रतिपादित करते हैं। कोई नय, विशेष के होने पर भी केवल सामान्य का प्रतिपादन करते हैं कोई केवल विशेष का। अपेक्षा के भेद से शब्दों द्वारा निरूपण नयों का मुख्य कार्य है। इस कारण सातों नय शब्द के साथ सम्बन्ध रखते हैं। उनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह शब्द से उत्पन्न होता है। वृक्ष में फूल हैं। जिस प्रकार वृक्ष की सत्ता है इसी प्रकार फूलों की भी। फूल ही नहीं शाखा, पत्र, मूल आदि की भी समान सत्ता है पर जब हम गौण और मुख्य भाव से कहते हैं तब नैगम नय हो जाता है। इस प्रकार से वक्ता के कहने की इच्छा नैगम नयका मूल है।

अर्थ सामान्य रूप भी है और विशेषरूप भी। जब भेद की उपेक्षा करके अभिन्न स्वरूप से कहने की इच्छा होती है, तब संग्रह नय प्रकट होता है। जब सामान्य रूप की उपेक्षा करके भेद के प्रकट करने की इच्छा होती है तब व्यवहार नय का उदय होता है। जब तीनों कालों के साथ सम्बन्ध होने पर भी वर्तमान काल की

अपेक्षा से किसी धर्म का निरूपण हो, तो ऋजुसूत्र नय हो जाता है। इस प्रकार नैगम से लेकर ऋजुसूत्र तक के नय भी जिस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वह शब्द से उत्पन्न होता है।

शब्द पर आश्रित होने पर भी धर्म और धर्मी, सामान्य और विशेष अथवा वर्तमान काल रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण नैगम आदि चारको अर्थ नय कहा जाता है। शब्द आदि तीन नय शब्दों के कारण भेद न होने पर भी अर्थों में भेद मानने लगते हैं। फल का तीन कालों के साथ सम्बन्ध है काल के भेद से फल के स्वरूप में कोई स्पष्ट भेद नहीं प्रतीत होता, परन्तु शब्द नय वर्तमान काल के वाचक शब्द के साथ सम्बन्ध होने के कारण अतीत काल के सम्बन्धी फल से भेद मानता है। यह भेद वस्तु के स्वरूप के कारण नहीं किन्तु शब्द के कारण प्रतीत होता है इसलिए शब्द नय को अर्थात सांप्रत नय को शब्द नय कहा जाता है।

समभिरूढ नय भी पर्याय शब्द के भेद से अर्थ में भेद मानता है, वास्तव में जो अभेद है उसकी उपेक्षा करता है। जब शासन के द्वारा ऐश्वर्य का प्रकाशन करे तब इन्द्र कहना चाहिए, शक अथवा पुरंदर नहीं। समभिरूढ नय का यह अभिप्राय वाच्य वाचक भाव के साथ सम्बन्ध रखता है। अर्थ के पारमार्थिक स्वरूप के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। एवंभूत भी जब गाय चल रही हो तभी उसको गो शब्द से वाच्य समझता है। जब गाय बैठी हो और सो रही हो तब गो शब्द को उसका वाचक नहीं मानता। इस प्रकार वाच्य वाचक भाव के साथ एवंभूत का भी सम्बन्ध है अतः यह भी शब्द नय कहा जाता है। नैगम आदि का वाच्य-वाचक भाव के साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वे अर्थ नय कहे जाते हैं। शब्द के द्वारा वस्तु के स्वरूप को प्रकट करने पर ही आश्रित होने के कारण शब्दों के साथ सम्बन्ध तो अर्थ नयों का भी कम नहीं है। वे भी जिस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वह भी शब्द से उत्पन्न होनेवाला है।

मूलम्:- तथा विशेषग्राहिणोऽर्पितनयाः सामान्यग्राहिणश्चानर्पित नयाः ।

अर्थः— इसी प्रकार विशेष का ग्रहण करनेवाले अर्पित नय कहे जाते हैं, और सामान्य के ग्रहण करनेवाले नय अनर्पित नय हैं ।

मूलम्:- तत्रानर्पितनयमते तुल्यमेवरूपं सर्वेषां सिद्धानां भगवताम् । अर्पित नयमते त्वेककद्विकादि समय सिद्धाः स्वसमानसमयसिध्दैरेव तुल्या ।। इति ।

अर्थः— अनर्पित नय के मत में सभी सिद्ध भगवानों का एक समान रूप है । अर्पित नय के मत में तो एक समय सिद्ध, द्विसमय सिद्ध और त्रिसमय सिद्ध, अपने समान समय के सिध्दों के ही तुल्य हैं ।

विवेचनाः — अनर्पित नय केवल साधारण धर्म का ग्रहण करता है । इसलिए उसके अनुसार सभी सिद्धों का सामान्य रूप है । सिद्धों में परस्पर भेद होने पर भी सिद्धत्व साधारण धर्म है, उसके कारण समस्त सिद्ध समान हैं । विशेष के प्रकाशक अर्पित नय के अनुसार जितने एक समय सिद्ध हैं वे सब परस्पर समान हैं । उनमें एकसमयसिद्धत्व सामान्य धर्म है । यह सामान्य धर्म द्विसमय सिद्ध अथवा त्रिसमय सिद्ध आदि सिद्धों में नहीं है इसलिए विशेष है । इसके कारण एक समय सिद्धों की ही परस्पर समानता है । इसी प्रकार द्विसमय सिद्धों की द्विसमयसिद्धत्व रूप विशेष धर्म के कारण परस्पर समानता है और त्रिसमय सिद्ध आदि के साथ समानता नहीं है ।अन्य सिद्धों में भी इसी प्रकार की समानता समझ लेनी चाहिए ।

मूलम्:- तथा लोक प्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः, यथा पञ्चस्वपि वर्णेषु भ्रमरे सत्सु श्यामो भ्रमर इति व्यपदेशः ।

तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्मन्यते पञ्चवर्णो भ्रमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात् शुक्लादीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणात् ।

अर्थः— इसी प्रकार लोक में जो अर्थ प्रसिद्ध है उसके कहने में तत्पर नय व्यवहार नय कहा जाता है, जिस प्रकार भ्रमर में पांचों वर्णों के होने पर भी 'भ्रमर श्याम है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करने में तत्पर निश्चय नय होता है। वह भ्रमर में पांचों वर्णों को स्वीकार करता है। बादर स्कंध होने के कारण उसका शरीर पांच वर्णों के पुद्गलों से उत्पन्न हुआ है, शुक्ल आदि वर्ण न्यून होने से देखने में नहीं आते।

विवेचनाः— लोक में जिस प्रकार व्यवहार होता है उसको लेकर व्यवहार नय वस्तु का प्रतिपादन करता है। भ्रमर को लोग श्याम कहते हैं इसलिए व्यवहार नय भी उसको श्याम कहता है परन्तु भ्रमर का शरीर स्थूल है इसलिए पुद्गलों से उत्पन्न है। पुद्गल में पांचों वर्ण हैं इसलिए भ्रमर के शरीर में भी पांचों वर्ण हैं। श्याम वर्ण के द्वारा अन्य वर्णों का अभिभव हो गया है इसलिए वे विद्यमान होने पर भी नहीं दिखाई देते। आकाश में नक्षत्र होते हैं पर दिन में सूर्य के प्रकाश से दब जाने के कारण नहीं दिखाई देते। दिन में नक्षत्रों के समान भ्रमर के शरीर में शुक्ल आदि वर्ण विद्यमान हैं। निश्चय नय युक्ति के द्वारा भ्रमर के शरीर को पांच वर्णों से युक्त समझता है।

मूलम्:- अथवा एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः, सर्व नयमतार्थ ग्राही च निश्चयः। न चैवं निश्चयस्य प्रमाणत्वेन

नयत्व व्याघातः, सर्व नयमतस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमात् ।

अर्थः— अथवा एक नय के अभिमत अर्थ को जो ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। समस्त नयों के द्वारा अभिमत अर्थ को जो स्वीकार करता है वह निश्चय नय है। इसके कारण निश्चय प्रमाण नहीं हो जाता और उसका नयभाव दूर नहीं होता। निश्चय नय को जो अर्थ स्वीकृत है उसको वह प्रधान रूप से मानता है। समस्त नय जिस अर्थ को मानते हैं यदि वह उसको अभिमत नहीं, तो वह उसका प्रतिपादन नहीं करता। निश्चय अपने मत के अनुसार अर्थ को प्रधान समझता है। सब नय जो कुछ कहते हैं उसकी उपेक्षा भी निश्चय कर सकता है अतः वह प्रमाण नहीं है।

मूलमूः- तथा ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः। क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः।

अर्थः— इसी प्रकार ज्ञान की ही प्रधानता को स्वीकार करने वाले नय ज्ञान नय कहे जाते हैं। जो केवल क्रिया को प्रधान मानते हैं वे क्रिया नय कहे जाते हैं।

मूलम् :- तत्रर्जुसूत्रादयश्चत्वारो नयाश्चारित्रलक्षणायाः क्रियाया एव प्राधान्यमभ्युपगच्छन्ति, तस्या एव मोक्षं प्रत्यव्यवहितकारणत्वात् ।

अर्थः— इसमें ऋजुसूत्र आदि चार नय चारित्ररूप क्रिया को ही प्रधान मानते हैं कारण, चारित्र रूप क्रिया ही मोक्ष का व्यवधान से रहित कारण है।

विवेचनाः— जिस कारण के अनन्तर कार्य की उत्पत्ति हो उसको कार्य का कारण मानना चाहिए। जो कारण परम्परा सम्बन्ध से

कार्यको उत्पन्न करते हैं वे प्रधान रूपसे कारण नहीं हैं। क्षायिक परिपूर्ण ज्ञान और क्षायिक दर्शन के प्राप्त होने पर भी उसी क्षण में मोक्ष नहीं होता। सर्व संवररूप चारित्र के मिलने पर ही मोक्ष होता है, इसलिए चारित्र रूप क्रिया को मोक्ष का कारण मानना चाहिए। यह मत ऋजुसूत्र आदि चार नयों का है ज्ञान और दर्शन के बिना सर्व संवर रूप चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इतने से उनको मोक्ष का कारण नहीं माना जा सकता, वे दोनों तो सर्व संवर के कारण हैं। यदि उनको मोक्ष का कारण कहा जाय तो ज्ञान और दर्शन के अनन्तर ही मोक्ष हो जाना चाहिए। यदि सर्व संवररूप चारित्र की प्राप्ति में सहायक होने से ज्ञान और दर्शन को चारित्र के समान ही कारण कहा जाय तो कोई भी अर्थ ऐसा नहीं रहेगा जो ज्ञान दर्शन और चारित्र का कारण न हो। ज्ञानकी उत्पत्ति में विषय कारण है।

संयमी के ज्ञान का विषय समस्त संसार है इसलिए संसार के समस्त अर्थों को ज्ञान का कारण मानना पडेगा। जीव और अजीव का स्वरूप सम्यग् दर्शन का विषय है इसलिए वह भी सम्यग् दर्शन का कारण हो जायगा प्रवृत्ति और निवृत्ति भी अर्थों में होती है इसलिए समस्त अर्थों को संयमी की प्रवृत्ति और निवृत्ति में भी कारण मानना पड़ेगा। इतना ही नहीं, परंपरा से उपकारक होने के कारण यदि ज्ञान और दर्शन को मोक्ष का कारण कहा जाय तो शरीर, माता, पिता, वस्त्र, भोजन, औषध आदि को भी मोक्ष का कारण मानना होगा। इस दशा में ज्ञान दर्शन और चारित्र को ही मोक्ष का कारण नहीं कहा जा सकेगा। ज्ञान आदि तीन मोक्ष के लिए अत्यन्त निकट वर्ती कारण हैं इसलिए वे मोक्ष का उपाय कहे जाते हैं। देह आदि परंपरा से उनकी उत्पत्ति में सहायक हैं इसलिए उनको मोक्ष का उपाय न कहा जाय तो चारित्र को ही मोक्ष का कारण कहना चाहिए। चारित्र के अनन्तर बिना व्यवधान के मोक्ष होता है।

मूलम्:- नैगमसंग्रहव्यवहारास्तु यद्यपि चारित्रश्रुतसम्यक्त्वानां त्रयाणामपि मोक्षकारणत्वमिच्छन्ति, तथापि व्यस्ताना-

मेव, नतु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इत्य-नियमात्, अन्यथा नयत्वहानिप्रसङ्गात, समुदयवादस्य स्थितपक्षत्वादिति द्रष्टव्यम्,

अर्थः— नैगम, संग्रह और व्यवहार यद्यपि चारित्र श्रुत ज्ञान और सम्यक्त्व इन तीनों को मोक्ष का कारण मानते हैं, तो भी प्रत्येक को अलग अलग कारण कहते हैं, मिलित रूप में तीनों को कारण नहीं कहते। इन नयों के अनुसार ज्ञान आदि तीन से ही मोक्ष है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। यदि ये तीनों को मोक्ष का कारण मानलें तो इनमें नय भाव ही नहीं रहेगा। मिलित रूप में ज्ञान दर्शन और चारित्र तीनों मोक्ष के कारण हैं—यह सिद्धांत पक्ष है।

विवेचनाः— कुछ लोग भिन्न नयों के अनुसार तप आदि कर्मों को मोक्ष का कारण मानते हैं और कुछ लोग ज्ञान को। इनमें से जो लोग यम नियम आदि कर्मों को मोक्ष का कारण मानते हैं उनका कहना है—कर्म क्षणिक होते हैं। जिस काल में फल उत्पन्न होता है तब तक वे नहीं रहते। क्षणिक होने पर भी वे फल के उपादान कारण में इस प्रकार का संस्कार उत्पन्न करते हैं जो चिरकाल तक रह सकता है और नियत काल में फल उत्पन्न करता है जो बीज बोता है उसको फल चिरकाल के बीत जाने पर मिलता है किसान खेत में पानी देता है। सूर्य की धूप का उचित परिणाम में खेत के साथ सम्बन्ध हो इसका प्रबन्ध करता है। पवन का भी खेत के साथ सम्बन्ध होता रहता है। यदि जल तेज और पवन आदि की क्रिया न हो तो खेत में बीज अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। जल आदि के कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं परन्तु वे भूमि में पडे बीज के अन्दर संस्कार को उत्पन्न करते हैं। वह संस्कार बीज में स्थिर हो जाता है और किसी काल में अंकुर को उत्पन्न करता है। यदि संस्कार की उत्पत्ति

न हो तो जल आदि की क्रियाओं के नष्ट होने के कारण चिरकाल के पीछे अंकुर न उत्पन्न हो सके। जल आदि के कर्मों के समान यम नियम आदि कर्म भी क्षणिक हैं। कोई भी कर्म हो भूतों में हो वा आत्मा में, क्षणिक ही होता है। यम आदि कर्म भी स्वयं नष्ट होकर आत्मा में फल को उत्पन्न करते हैं। आत्मा, शरीर-वाणी और मन से अच्छे बुरे कर्म करता है। कर्म अपने स्वभाव के अनुसार संस्कार उत्पन्न करके कभी शीघ्र और कभी देर से सुख दुःख रूप फल देते हैं। अनेक जन्मों में सुख-दुःख रूप फल को देनेवाले दान आदि कर्म जिस प्रकार धर्म और अधर्म नामक संस्कार को उत्पन्न करके फल देते हैं इसी प्रकार यम नियम आदि मोक्ष को उत्पन्न करने के लिए आत्मा में अदृष्ट संस्कार को उत्पन्न करते हैं। आत्मा का तत्त्वज्ञान आत्मा के विषय में मिथ्या ज्ञान को दूर करके मोक्ष को प्रकट करता है। इस प्रकार यम आदि कर्म अदृष्ट को उत्पन्न करके और तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान का नाश करके मोक्ष का कारण है। दोनों समान रूप से प्रधान कारण है। भास्कराचार्य आदि इस मत के माननेवाले हैं।

जो लोग ज्ञान को मोक्ष का प्रधान कारण मानते हैं वे कहते हैं—आत्मा के विषय में मिथ्याज्ञान संसार का मूल कारण है! उसका नाश तत्त्वज्ञान से हो सकता है। धर्म मिथ्या ज्ञान के विनाश में असमर्थ है। जो कर्म दुःखरूप फल देते हैं वे तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबंधक हैं। मोक्ष का अभिलाषी पुरुष यम आदि कर्मों के द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक पापों को दूर करता है। इस प्रकार कर्म तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् कारण नहीं है किन्तु परंपरा सम्बन्ध से कारण है, अतः तत्त्वज्ञान मोक्ष का प्रधान कारण है और कर्म गौण कारण है। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक का अभाव सहकारी कारण है। जो कारण प्रतिबन्धक को दूर करते हैं वे प्रतिबन्धक की निवृत्ति में मुख्य रूप से कारण होते हैं। प्रतिबन्धकों के नष्ट होने पर जो कार्य उत्पन्न होता है उसमें वे कारण

नहीं होते। प्रतिबन्धक पाप के नष्ट होनेपर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और फिर आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का मुख्य कारण है, कर्म नहीं। उदयनाचार्य आदि नैयायिकों का यह मत है।

जैन मतके अनुसार ज्ञान और कर्म मोक्ष के प्रति समान रूपसे कारण हैं; गौण मुख्य भाव से नहीं। दुःख के साधन का नाश मोक्ष है। दुःख के प्रधान साधन कर्म हैं जब तक कर्म का नाश नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। क्षायिक केवलज्ञान और यथाख्यात चारित्र आदि कर्म मोक्ष के कारण हैं। तत्त्वज्ञान केवल मिथ्याज्ञान के नाश में कारण नहीं है किन्तु सकल कर्मों के नाश में अथवा समस्त कर्मों के नाश के साथ समनियत भाव से रहनेवाले क्षायिक सुख में कारण है, अतः कर्म और ज्ञान दोंनों प्रधान रूप से कारण हैं। प्रतिबन्धक पापों की निवृत्ति में कर्मों को कारण मानकर यदि उनको गौण कहा जाय तो तत्त्व ज्ञान को भी गौण कहना पडेगा। जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है वे भी जब तक भवोपग्राही चार कर्मों को नष्ट नहीं कर लेते तब तक उसी क्षण मुक्ति को नहीं प्राप्त करते। मुक्ति के प्रतिबन्धक कर्मों को तत्त्वज्ञान भी नष्ट करता है। आगम, केवली के ज्ञान सहित वीर्य को कर्म के नाश में कारण कहते हैं इसलिए तत्त्वज्ञान भी कर्म नाश में कारण है। इस दशा में कर्मों की निवृत्ति करनेवाला तत्त्वज्ञान गौण कारण हो जायगा और कर्म मोक्ष का प्रधान कारण हो जायगा। आगम कहता है, वेदनीय कर्म को अत्यन्त अधिक जानकर और आयुकर्म को थोडा जानकर कर्म का प्रतिलेखन करने के लिए जिन समुद्घात करते हैं। ज्ञान और संयम से युक्त तप मोक्ष का कारण है। यह तप जब बारबार किया जाता है तब क्रिया से शून्य निवृत्ति रहित ध्यान होता है यह ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है इस ध्यान से भवोपग्राही कर्म नष्ट होते हैं। इस ध्यान में केवल ज्ञान ही नहीं है कर्म भी है।

चारित्र के साथ होने पर जिस प्रकार सम्यग् ज्ञान का सम्यक्त्व होता है इसी प्रकार ज्ञान के साथ होने पर चारित्र का सम्यक्त्व होता है। इस विषय में पंगु और अन्ध का दृष्टांत प्रसिद्ध है। पंगु ज्ञान वाला है और जहां जाना है वहां पहुँचाने वाले मार्ग को देखता भी है परन्तु चल नहीं सकता इसलिए वह अकेला नहीं पहुँच सकता। अन्धा पुरुष चल सकता है परन्तु मार्ग को न देखने के कारण स्थान पर नहीं पहुँच सकता। दोनों मिलकर परस्पर की सहायता से नियत स्थान पर पहुँच सकते हैं। ज्ञान और कर्म भी दोनों मिलकर मोक्ष के कारण हैं। जब तक शैलेशी दशा में शुद्ध संयम नहीं प्रकट होता तब तक क्षायिक केवलज्ञान मोक्ष को नहीं दे सकता। अतः ज्ञान और कर्म दोनों मोक्ष के प्रधान कारण हैं, यह सिद्धान्त पक्ष है।

नैगम आदि नय शुद्ध ज्ञान की अथवा शुद्ध क्रिया की प्रधानता मानते हैं ज्ञान आदि तीनों की नहीं यह सिद्धान्त से नयों का भेद है।

[नयों के न्यूनाधिक विषयों का विचार]

मूलम्:- कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाऽल्पविषयः, इति चेत्

अर्थः— इन नयों में किस नय का विषय अधिक है और किसका न्यून है।

मूलम्:- उच्यते--सन्मात्रगोचरात्संग्रहात्तावन्नैगमो बहुविषयो भावाभावभूमिकत्वात्।

अर्थः— उत्तर यह है, संग्रह नय का विषय केवल सत् है और नैगम का विषय भाव और अभाव दोनों हैं। इसलिए नैगम संग्रह की अपेक्षा अधिक विषयवाला है।

विवेचनाः— अनेक धर्मों का गौण मुख्य भाव से प्रतिपादन करने वाला अभिप्राय नैगम है। इस लक्षण के अनुसार नैगम के जितने उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं उन सब में केवल भावात्मक अर्थों का निरूपण है। किसी अभाव का प्रतिपादन नहीं है।

नैगम का इससे भिन्न अन्य लक्षण इस प्रकार है। 'अनिष्पन्नार्थ संकल्पमात्रग्राही नैगमः' (स्याद्वाद रत्नाकर परि. ७, सूत्र १०, पृष्ठ- १०५२ पर)।

जो अर्थ विद्यमान नहीं है उसके संकल्प को प्रकाशित करनेवाला अभिप्राय नैगम है कुल्हाडा लेकर कोई पुरुष जा रहा हो और अन्य कोई उसको पूछे – 'किस लिए आप जा रहे हैं?' तो वह उत्तर में कहता है – 'मैं प्रस्थ के लिए जा रहा हूँ।' यहां पर प्रस्थ विद्यमान नहीं है, जानेवाला कुल्हाडे से लकड़ी को काटकर प्रस्थ की रचना करेगा इसलिए प्रस्थ शब्द का प्रयोग करता है। संकल्प के विषय विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। यहां पर प्रस्थ अविद्यमान है और संकल्प का विषय है इसलिए यहां पर नैगम नय है। संग्रह नय जीव अजीव आदि जिन अर्थोंका संग्रह करता है, वे सब भावात्मक होते हैं। इस प्रकार संग्रह का विषय केवल भाव है और नैगम के विषय-भाव और अभाव दोनों हैं, अतः नैगम का विषय संग्रह से अधिक है। इस वस्तु का निरूपण श्री वादिदेवसूरिजीने स्याद्वादरत्नाकर में किया है।
[स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ-१०६७]

मूलमूः– सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहु विषयः।

अर्थः— सत् वस्तु के भेदों का प्रकाशक व्यवहार नय है और संग्रह समस्त सत् वस्तुओं के समूह का प्रकाशक है इसलिए संग्रह का विषय व्यवहार से बहुत है।

विवेचनाः— व्यवहार नय जब किसी भाव के अवान्तर भेदों को प्रकाशित करता है तो नियत जाति के ही भेदों को प्रकाशित करता है। संग्रह नय किसी विशेष जाति के अर्थों को नहीं प्रकाशित करता किन्तु व्यापक सामान्य धर्म के अनुसार अधिक अर्थों का संग्रह करता है। पृथ्वीत्व सामान्य धर्म से वृक्ष, ईंट, पत्थर, घट, पट आदि का ज्ञान संग्रह नय के अनुसार है। यदि पाषाणत्व धर्म को लेकर समस्त पाषाणों का प्रतिपादन किया जाय तो पाषाणत्व के द्वारा वृक्ष आदि का संग्रह नहीं हो सकता। पृथिवीत्व के द्वारा ईंट पत्थर, वृक्ष आदि समस्त भेदों का प्रतिपादन है इसलिए उसका विषय अधिक है और वह संग्रह नय है। पाषाणत्व के द्वारा केवल पत्थरों को लिया जा सकता है वृक्ष आदि को नहीं इसलिए उसका विषय अल्प है और वह व्यवहार नय है।

मूलमूः— वर्तमानविषयावलम्बिन ऋजुसूत्रात्कालत्रितय-वर्त्यर्थजातावलम्बी व्यवहारो बहु विषयः।

अर्थः— ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान काल के विषय का ग्रहण करता है और व्यवहार तीन काल के अर्थों का प्रतिपादन करता है इसलिए व्यवहार का विषय ऋजुसूत्र से अधिक है।

विवेचनाः— लोगों का व्यवहार किसी एक काल को लेकर नहीं चल सकता। भूतकाल में जिन अर्थों के द्वारा सुख दुःख का अनुभव हो चुका है उन अर्थों को वर्तमान काल में देखकर अनुमान होता है ये अर्थ पहले जिस प्रकार से सुख दुःख उत्पन्न करते थे इसी प्रकार अब भी और आगामी काल में भी सुखादि उत्पन्न कर सकते हैं। यह समझकर लोग सब प्रकार का व्यवहार करते हैं। यदि भूतकाल के साथ अर्थ का सम्बन्ध किसी प्रकार से भी न माना जाय तो कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। केवल वर्तमान काल में अर्थ की सत्ता मानी जाय तो भोजन से तृप्ति होगी और पानी पीने से प्यास

दूर होगी इतना निश्चय भी नहीं हो सकता। भूतकाल में भोजन आदि के द्वारा तृप्तिका अनुभव करने के कारण लोग भूख-प्यास के होने पर भोजन आदि को लेते हैं। आगामी काल में इन वस्तुओं से सुख की प्राप्ति और दुःख दूर हो सकेगा यह समझ कर वर्तमान में धन वस्त्र आदि का संचय किया जाता है। इस प्रकार व्यवहार का तीन कालों के अर्थों के साथ सम्बन्ध है।

दूसरी ओर ऋजुसूत्र वर्तमान काल में अर्थ का जो स्वरूप है उसका प्रधान रूप से आश्रय लेता है। अर्थ के भूत और भावी स्वरूप की उपेक्षा करता है। देश और काल के भेद से अर्थ कभी सुख और कभी दुःख के उत्पादक बन जाते हैं। भूतकाल की अवस्था को प्रधान रूप से ध्यान में लाया जाय तो मनुष्य सुख चाहता हुआ भी आपत्ति में गिर जायगा। विशेष प्रकार के काल में ऋजुसूत्र नय के अनुसार वर्तमान का विचार मुख्य रूप से करना पड़ता है व्यवहार और ऋजुसूत्र का विरोध तब नहीं रहता जब भिन्न अपेक्षाओं का विचार किया जाता है। तीन कालों के अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से व्यवहार का विषय बहुत है और केवल वर्तमान के साथ प्रधान रूप से सम्बन्ध होने के कारण ऋजुसूत्र का विषय अल्प है।

मूलम्:- कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदेशकाच्छब्दात्तद्विपरीतवेदक ऋजुसूत्रो बहुविषयः।

अर्थः— काल आदि के भेद से पदार्थ को भिन्न माननेवाले शब्द की अपेक्षा ऋजुसूत्र वस्तु के उस स्वरूप को प्रकाशित करता है जो शब्द नय के प्रतिकूल है इसलिए बहुत विषय वाला है।

विवेचनाः— ऋजुसूत्र वर्तमान काल के अर्थ का प्रधान रूप से निरूपण करता है परन्तु भूत और भावी काल के साथ सम्बन्ध की उपेक्षा करता है। वह काल के भेद से अर्थ को भिन्न नहीं

मानता। इसके विपरीत शब्द नय, काल और कारक आदि के भेद से अर्थ में भेद मानता है। एक ही वृक्ष अतीत काल के साथ जब सम्बन्ध रखता है तब वह भिन्न है और जब वह वर्तमान में है तब वह वृक्ष वही नहीं है जो भूतकाल में था। काल ही नहीं कारक आदि के भेद से भी शब्दनय अर्थ को भिन्न मानता है इसलिए शब्द नय का विषय अल्प है और तीन काल के साथ रहनेवाले अर्थों का प्रकाशक होने के कारण ऋजुसूत्र का विषय बहुत है।

मूलम्:- न केवलं कालादि भेदेनैवर्जुसूत्रादल्पार्थता शब्दस्य, किन्तु भावघटस्यापि सद्भावा सद्भावादिनाऽर्पितस्य स्याद् घटः स्यादघट इत्यादिभङ्गपरिकरितस्य तेनाभ्युपगमात् तस्यर्जुसूत्राद् विशेषिततरत्वोपदेशात्।

अर्थः— काल आदि के भेद से अर्थ में भेद मानने के कारण ही शब्द नय ऋजुसूत्र से अल्प विषयवाला नहीं है किन्तु सद्भाव और असद्भाव की विवक्षा से कथंचित् घट और कथंचित् अघट इत्यादि भङ्गों के साथ भाव घटको मानने के कारण भी अल्प विषय वाला है, इस रीति से शब्द नय ऋजुसूत्र की अपेक्षा अधिक विशिष्ट अर्थात् अधिक संकुचित अर्थ का प्रतिपादन करता है।

विवेचनाः— शब्द नय के अनुसार शब्द का अर्थ प्रधान है, इस कारण शब्द के द्वारा प्रतीत होनेवाला अर्थ जिस वस्तु में हो सके उसको शब्द नय वास्तव में सत्य मानता है। घट धातु से घट नाम की उत्पत्ति है। घट धातु का अर्थ चेष्टा है। जल का लाना आदि क्रिया यहां पर चेष्टा है। जिस के द्वारा जल लाया जा सकता है वह मिट्टी का बना घडा भाव घट है और वही शब्द नय के अनुसार सत्य है। नाम घट, स्थापना घट अथवा द्रव्य घट शब्द नय के अनुसार सत्य रूप से घट नहीं हैं। नाम आदि घटों से पानी

नहीं लाया जा सकता। इन में घट शब्द का प्रयोग मुख्य नहीं है किन्तु गौण है।

इतना ही नहीं ऋजुसूत्र नय वर्तमान काल के जिस भाव घट को स्वीकार करता है उसको भी शब्द नय सात भंगों में से किसी एक भंग के द्वारा विशिष्ट रूप में स्वीकार करता है। ऊंची ग्रीवा आदि स्वपर्यायों की अपेक्षा से जब सत् रूप में घट की विवक्षा होती है तब वह घट कहा जाता है। पट त्वचा की रक्षा करता है। इस पट पर्याय के द्वारा असत् रूप से विवक्षा के कारण घट अघट है। स्व और पर दोनों पर्यायों के साथ विवक्षा की जाय तो कोई शब्द घट को नहीं कह सकता, इसलिए अवक्तव्य हो जाता है। इसके अनन्तर इन तीनों भंगों के परस्पर सम्बन्ध से अन्य चार भंग भी बन जाते हैं। जल लाने में सामर्थ्य रूप घट शब्द के मुख्य अर्थ को लेकर शब्द नय भाव घट में सात भंगों को स्वीकार करता है। परन्तु ऋजुसूत्र जल लाने आदि क्रिया के कारण भाव घट को सात भंगों के साथ नहीं मानता। ऋजुसूत्र का वर्तमान काल में घट का जो स्वरूप है उसी के साथ मुख्य रूप से सम्बन्ध है। शब्द के वाच्य अर्थ पर आश्रित सात भंगों के साथ जो स्वरूप है उसके विषय में ऋजुसूत्र का ध्यान नहीं है। इस रीति से शब्द नय का विषय बहुत संकुचित हो जाता है। ऋजुसूत्र के अनुसार जल लाने का सामर्थ्य न होने पर भी यदि घट के आकार की प्रतीति होती है तो घट शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस दशा में ऋजुसूत्र के अनुसार जल का लाना आदि जो घट शब्द की वाच्य क्रिया है उसका आश्रय लेकर सात भंग नहीं हो सकते; अतः ऋजुसूत्र का विषय शब्द नय से बहुत अधिक है।

मूलम्:- यद्यपीदृशसम्पूर्ण सप्तभङ्गपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव सङ्गिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृतैतदभ्युपगमा-

पेक्षयाऽन्यतरभङ्गेन विशेषितप्रतिपत्तिरत्रादुष्टेत्यदोष इति वदन्ति ।

अर्थः— यद्यपि इस प्रकार सात भङ्गों से युक्त वस्तु को स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं तो भी ऋजुसूत्र के द्वारा इस वस्तु का जो स्वीकार किया जाता है उसकी अपेक्षा शब्द नय में किसी एक भङ्ग से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति दोष से रहित है इसलिए इस विषय में कोई दोष नहीं इस प्रकार कहते हैं ।

विवेचनाः— अर्थ के किसी एक धर्म का प्रतिपादन करना नय का मुख्य स्वरूप है । सातों भंगों के साथ प्रतिपादन करने पर अनेक धर्मों का निरूपण होने से शब्द नय स्याद्वाद हो जायगा । स्याद्वाद प्रमाणरूप है । यदि शब्द नय सात भंगों से अर्थ का प्रतिपादन करे तो वह प्रमाण हो जाना चाहिए । नय का स्वरूप नहीं रहना चाहिए । इस आशंका को दूर करने के लिए कहते हैं यद्यपि स्याद्वादी सप्त भंगी को स्वीकार करते हैं और सप्तभंगी सात भंगों के रूप में प्रमाण है परन्तु सप्तभंगी का प्रमाणभाव नयभाव का विरोधी नहीं है । प्रत्येक भंग नयरूप है और सातों भंगों का समुदाय प्रमाण रूप है । समुदायी अर्थों का जो स्वरूप होता है वह उनके समुदाय रूप में नष्ट नहीं होता । वृक्षों का समुदाय वन कहा जाता है । वन रूप में होने पर भी प्रत्येक वृक्ष का वृक्षात्मक स्वरूप दूर नहीं होता । सप्तभंगी के रूप में प्रमाण होने पर भी एकएक भंग का नयभाव सर्वथा दूर नहीं होता । वृक्ष और वन का स्वरूप जिस प्रकार परस्पर विरोधी नहीं है इसी प्रकार सप्तभंगीरूप स्याद्वाद नामक प्रमाण का नयों के साथ विरोध नहीं है । शब्द नय के अनुसार शब्द के वाच्य अर्थ का आश्रय लेकर जो सप्तभंगी प्रकट होती है उसका कोई भी एक भंग जिस रूप में अर्थ का प्रतिपादन करता है वह रूप ऋजुसूत्र के अर्थ की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होता है इस तत्त्व में कोई दोष नहीं है ।

मूलम्:- प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विषया (द्विपर्यया) न्यायित्वाद्बहुविषयः।

अर्थः— पर्याय शब्दों के भेद से अर्थ में भेद माननेवाले समभिरूढ नय के द्वारा जो प्रतीत होता है उसके विपरीत विषय का प्रतिपादक होने के कारण शब्द समभिरूढ की अपेक्षा अधिक विषयवाला है।

विवेचनाः— शब्द नयके अनुसार इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि शब्द भिन्न भिन्न पर्याय हैं परन्तु इन्द्र एक अर्थ है। अनेक पर्याय शब्द, शब्द नयके विषय हैं। समभिरुढ के अनुसार इन्द्र को शक्र नहीं कह सकते और शक्र को पुरन्दर नहीं कह सकते। शब्द नयके अनुसार एक इन्द्र के अनेक धर्मों का प्रतिपादन भिन्न पर्याय करते हैं। समभिरूढ के अनुसार कोई भी एक शब्द इन्द्र के अनेक धर्मों का प्रतिपादन नहीं करता। प्रत्येक पर्याय एक एक धर्म को ही कहता है। इसलिए समभिरूढ का विषय न्यून है और शब्द का विषय अधिक है।

मूलम्:- प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात्समभिरूढः तदन्यथार्थस्थापकत्वाद्बहुविषयः।

अर्थः— क्रिया के भेद से अर्थ में भेद माननेवाले एवंभूत की अपेक्षा समभिरूढ का विषय अधिक है। वह एवंभूत के विरोधी अर्थ का प्रतिपादक है।

विवेचनाः— जब गौ चल रही हो तभी एवंभूत नयके अनुसार गौ कही जा सकती है। जो जाती है वह गौ है इस व्युत्पत्ति के अनुसार एवंभूत नय समझता है, गौ कहलाने के लिए गति का होना आवश्यक है। इस प्रकार चलती गौ ही गौ शब्द का वाच्य हो सकती है, बैठी अथवा सोई हुई नहीं। समभिरूढ नय के अनुसार जिस प्रकार

चलती हुई गौ, गौ कही जाती है इसी प्रकार सोई वा बैठी गौ भी गौ शब्द का वाच्य है। इस रीति से समभिरूढ नयका विषय एवंभूत की अपेक्षा अधिक है।

इसी प्रकार एवंभूत नय जब राजा छत्र चामर आदि की शोभा से युक्त होता है, तभी उसको राजा पद से कहने योग्य मानता है। छत्र आदि के द्वारा जब शोभा न हो रही हो तब वह राजा नहीं कहा जा सकता। परन्तु समभिरूढ नय छत्र आदि के साथ और छत्र आदि के बिना भी 'राज' पदका व्यवहार करता है। यहाँ भी समभिरूढ नयका अधिक विषय स्पष्ट है।

मूलम्:- नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात् परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विशेष इति द्रष्टव्यम्।

अर्थः— नय वाक्य भी अपने विषय में जब प्रवृत्त होता है तब विधि और निषेध के द्वारा सप्तभङ्गी को प्राप्त होता है। नय वाक्य विकलादेश है इसलिए प्रमाण वाक्य से इसका भेद है।

विवेचनाः— किसी भी नयके वाक्य को लेकर सप्तभङ्गी की प्रवृत्ति हो सकती है। इस विषय में दो प्रकार हैं। एक प्रकार के अनुसार एक भङ्ग एक नयके अनुसार प्रवृत्त होता है तो विरोधी नयके अनुसार अन्य भङ्ग प्रवृत्त होता है। इस अपेक्षा से विचार करने पर नैगम और संग्रह परस्पर विरोधी नय हैं। नैगम से यदि अस्तिका अर्थात् सत्त्व का प्रतिपादन होगा तो संग्रह से नास्ति अर्थात् असत्त्वका प्रतिपादन होगा। इसी प्रकार परस्पर विरोधी नैगम और व्यवहार अथवा नैगम और ऋजुसूत्र अथवा नैगम और शब्द अथवा

नैगम और समभिरूढ अथवा नैगम और एवंभूत नयके आश्रय से सप्तभङ्गी प्रकट हो सकती है।

इसी रीति से जो अनेक सप्तभङ्गियाँ प्रकट होती हैं उन सबमें एक अर्थ में विरोध के बिना विधि और निषेध की कल्पना प्रधानरूप से होती है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय भङ्गों के स्थिर होने पर अन्य भङ्ग भी खड़े हो जाते हैं, इनमें एक भङ्ग कथंचित् अवक्तव्य है। कुछ आचार्यों के अनुसार अवक्तव्य भङ्ग का सप्तभंगी में स्थान तृतीय है और कुछ आचार्यों के मत में चतुर्थ स्थान है। इस अवक्तव्य भङ्ग का प्रथम और द्वितीय भङ्गों के साथ क्रम से अथवा बिना क्रम के संयोग करने पर अन्य भङ्ग प्रकट होते हैं।

इसका एक उदाहरण संग्रह और उसके विरोधी अन्य नयों के आश्रय से प्रकट होनेवाली सप्तभङ्गी में मिलता है। यदि संग्रह के अनुसार घट को किसी अपेक्षा से सत् ही कहा जाय तो अन्य नयों के आश्रय से प्रथम भङ्ग के निषेध करने वाले द्वितीय भङ्ग का उदय होगा। संग्रह नय सत्त्व सामान्य को स्वीकार करता है। उसके अनुसार घट किसी अपेक्षा से सत् ही है। असत् अर्थ का ज्ञान नहीं होता। आकाश का पुष्प असत् है उसका अनुभव नहीं होता। यदि घट असत् हो तो आकाश पुष्प के समान उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए। व्यवहार नयका आश्रय लेकर इसका निषेध हो सकता है। व्यवहार नयके अनुसार कहा जायगा घट केवल सत् नहीं। द्रव्यत्व और घटत्व आदि रूप से भी ज्ञान होता है। इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयका आश्रय लेकर निषेध की कल्पना होती है। वर्तमान स्वरूप से भिन्न स्वरूप के साथ घट नहीं प्रतीत होता। यदि अन्य रूपों के साथ प्रतीत हो तो घट में अनादि और अनंत सत्ता का अनुभव होना चाहिए। परन्तु घट में अनादि और अनन्त काल के पर्यायों में रहने वाली सत्ता का अनुभव नहीं होता। अतः ऋजुसूत्र नयके अनुसार

घट कथंचित् सत् ही नहीं है। इसी प्रकार शब्द नयका आश्रय लेकर निषेध की कल्पना होती है। काल, कारक आदि के भेद से अर्थ भिन्न दिखाई देते हैं। वर्तमान में जो अर्थ है वही अतीत और अनागत में नहीं है। अतीत और अनागत की अपेक्षा से घट कथंचित् असत् भी है। यदि काल आदि के भेद से अर्थ में भेद न हो तो काल आदि का भेद ही नहीं सिद्ध हो सकेगा। समभिरुढ का आश्रय लेकर भी निषेध की कल्पना हो सकती है। घट सत् ही नहीं हो सकता। घट शब्द द्वारा जब कहा जाय तब घट है पर जब कलश अथवा कुंभ शब्द से कहा जाय तो घट नहीं है। घट और कुंभ में भेद है यदि पर्यायों के भेद से अर्थ में भेद न हो तो अर्थ का वाचक एक ही शब्द हो जाना चाहिए। इसलिए भिन्न पर्याय को लेकर घट कथंचित् असत् भी है। इसी प्रकार एवं भूत का आश्रय लेकर घट का निषेध हो सकता है जिस काल में घट से जल लाया जा रहा है तभी घट है पर जब जल नहीं लाया जा रहा तब वह घट नहीं कहा जा सकता। अतः एवंभूत नयके अनुसार घट कथंचित् असत् भी है इस रीति से संग्रह के द्वारा सत्त्व और व्यवहार आदि के द्वारा असत्त्व का प्रतिपादन होने के कारण घट रूप अर्थ में प्रथम और द्वितीय भङ्ग हो जाते हैं।

इसके अनन्तर संग्रह व्यवहार अथवा संग्रह ऋजुसूत्र आदि दो नयोंके आश्रय से क्रम के साथ सत्त्व और असत्त्व का प्रतिपादन करने पर तीसरा उभय भङ्ग होगा। यदि दो दो नयोंका आश्रय लेकर बिना क्रम के सत्त्व और असत्त्व के प्रतिपादन की इच्छा हो तो चौथे अवक्तव्य भङ्ग का उदय होगा। विधि के प्रयोजक संग्रह नयका और निषेध के प्रयोजक नयोंका आश्रय लेकर एक साथ सत्त्व और असत्त्व के निरूपण की इच्छा हो तो पाँचवा अस्ति अवक्तव्य भंग बन जायगा। प्रतिषेध के प्रयोजक नयका आश्रय लेकर और साथ ही

बिना क्रम के सत्त्व और असत्त्व के कहने की इच्छा हो तो छठा नास्ति अवक्तव्य भङ्ग प्रकट होगा। क्रम और अक्रम की उभय नयोंका आश्रय लेकर विवक्षा की जाय तो अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य सातवाँ भङ्ग बन जायगा। इस रीति से संग्रह से विधि और उत्तरवर्त्ती नयों से निषेध की कल्पना दो मूल भङ्गों को प्रकट करती है। अनन्तर दो मूल भङ्गों के द्वारा पाँच भंग प्रकट हो जाते हैं इस प्रकार सप्तभङ्गी के आश्रय नय हैं।

दूसरा प्रकार आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर पादका है। इसके अनुसार संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थ नय हैं इन तीन नयों में सप्तभंगी का उद्भव है। सामान्य के प्रकाशक संग्रह में प्रथम भङ्ग है जिसका आकार है स्यात् अस्ति। दूसरा भग है स्यात् नास्ति। यह विशेष के प्रकाशक व्यवहार का आश्रय लेता है। तृतीय स्यात् अवक्तव्य भङ्ग ऋजुसूत्र पर आश्रित है। स्यात् अस्ति और स्यात नास्ति यह चतुर्थ भङ्ग संग्रह और व्यवहार के द्वारा प्रवृत्त होता है। स्यात् अस्ति स्यात् अवक्तव्य, यह पाँचवाँ भङ्ग संग्रह और ऋजुसूत्र से प्रकट होता है। स्यात् नास्ति स्यात् अवक्तव्य यह छठा भङ्ग व्यवहार और ऋजुसूत्र का आश्रय लेता है। स्यात् अस्ति, स्यात नास्ति, स्यात् अवक्तव्य यह सातवाँ भङ्ग संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र का आश्रय लेता है।

व्यंजन पर्याय अर्थात् साम्प्रत समभिरूढ और एवंभूत नयके अनुसार सप्तभङ्गी का स्वरूप कुछ भिन्न हो जाता है। इनमें से साम्प्रत का अन्य नाम शब्द भी है। इस शब्द अथवा साम्प्रत नय के द्वारा घट सभी पर्याय शब्दों से वाच्य है। इसलिए घट के वाचक जितने शब्द हैं उनके द्वारा वाच्य रूप से घट कथंचित् सत् है यह प्रथम भङ्ग प्रकट होता है। समभिरूढ और एवंभूत नयके अनुसार घटके वाचक जितने पर्याय शब्द हैं उनके द्वारा घट वाच्य नहीं है। अतः इस रूप में घट कथंचित नहीं है इस प्रकार का द्वितीय

भङ्ग प्रकट होता है। तृतीय भङ्ग स्यात् अवक्तव्य है वह इन तीनों नयोंका आश्रय लेकर प्रकट होता है। लिंग के भेद से अर्थ भिन्न हो जाता है इसलिए घट किसी एक शब्द के द्वारा वाच्य नहीं है अतः स्यात् अवक्तव्य है। पर्याय के भेद से अर्थ भिन्न है इसलिए एक शब्द भिन्न अर्थ का वाचक नहीं अतः समभिरूढ नयके अनुसार घट स्यात् अवक्तव्य है। क्रिया के भेद से अर्थ भिन्न हो जाता है अतः एवभूत नयके अनुसार घट स्यात् अवक्तव्य है। स्यात् अस्ति एवं और स्यात् नास्ति एवं इन प्रथम और द्वितीय भङ्गों के संयोग से स्यात अस्ति स्यात् नास्ति यह चतुर्थ भङ्ग प्रकट होता है।

प्रथम द्वितीय और चतुर्थ भंङ्गों के साथ स्यात् अवक्तव्य इस तृतीय भङ्ग का संयोग होने पर पंचम षष्ठ और सप्तम भङ्ग प्रकट होते हैं। इनमें से प्रथम के साथ तृतीय अवक्तव्य भङ्ग का संयोग होने पर पाँचवां, द्वितीय भंङ्ग के साथ अवक्तव्य का संयोग होने पर छठा, चतुर्थ के साथ अवक्तव्य का संयोग होने पर सातवाँ भङ्ग प्रकट होता है।

अन्य अनेक रीतियों से भी नयके वाक्य सप्तभङ्गी को प्रकट करते हैं।

नयों पर आश्रित सप्तभङ्गी के प्रसिद्ध होने पर प्रमाण सप्तभङ्गी से इसके भेद की जिज्ञासा होती है। मति आदि ज्ञान ज्ञानात्मक होने पर स्वार्थ हैं। शब्दात्मक होने पर परार्थ हैं। मति आदि के प्रतिपादक शब्द के अनुसार भी सप्तभङ्गी इसी आकार की होती है। आकार के समान होने पर एक के प्रमाण सप्तभङ्गी और अन्य के नय सप्तभङ्गी होने का कारण क्या है? इस शंका के उत्तर में उपाध्याय जी कहते हैं नय वाक्य पर आश्रित सप्तभङ्गी विकलादेश है और प्रमाण सप्तभङ्गी सकलादेश है इस कारण दोनों में भेद है। जब काल आदि के द्वारा अनेक धर्मों का अभेद करके वस्तु का

प्रतिपादन होता है तो सकलादेश हो जाता है और जब काल आदि के द्वारा धर्मों में भेद का आश्रय लेकर वस्तु का निरूपण होता है तो विकलादेश होता है।

—: नयाभासोंका निरुपण :—

मूलम्:— अथ नयाभासाः। तत्र द्रव्यमात्रगाही पर्याय-प्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः। पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः।

अर्थः— अब नयाभासों का आरंभ होता है। उनमें जो केवल द्रव्य का ग्रहण करता है और पर्यायका निषेध करता है वह द्रव्यार्थिकाभास है। जो केवल पर्यायका ग्रहण करता है और द्रव्य का निषेध करता है वह पर्यायार्थिकाभास है।

विवेचनाः— द्रव्य पर्यायों को व्याप्त करते हैं और पर्याय द्रव्यों को। जो वचन केवल सत्ता का प्रतिपादन करता है और द्रव्य, गुण आदिका निषेध करता है वह वचन द्रव्यार्थिकाभास है। विशेषों के बिना सामान्य की सत्ता नहीं होती विशेषों में सामान्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार पर्याय, बिना सामान्य के नहीं रह सकते। अनेक प्रकार के जितने पुष्प होते हैं उनमें पुष्प सामान्य है। जहां पुष्प सामान्य प्रतीत होगा वहां विशेष पुष्प भी आवश्यक रूप से प्रतीत होगा। विशेषों के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष आकाश पुष्प के समान असत् है। पर्यायों में अनुगत सामान्य द्रव्य है और अनुगम से रहित पर्याय विशेष है।

द्रव्यार्थिकाभास के तीन भेद हैं नैगमाभास, संग्रहाभास और व्यवहाराभास,।

इनमें से नैगमाभास का निरूपण करते हैं —

मूलम्:- धर्मिधर्मादीनामे (मै) कान्तिकपार्थक्याभिसन्धि नैगमाभासः, यथा नैयायिक-वैशेषिकदर्शनम् ।

अर्थः— धर्मी और धर्म आदि के भेद का एकान्त रूप से प्रतिपादन करनेवाला अभिप्राय नैगमाभास है। जिस प्रकार नैयायिक और वैशेषिक का दर्शन ।

विवेचनाः— आत्मा में सत्त्व और चैतन्य दो धर्म हैं। आत्मा के साथ इन दोनों का अभेद है इसलिए इन दोनों धर्मों का भी परस्पर कथंचित् अभेद है। जो इन दोनों को सर्वथा भिन्न कहता है वह प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण नैगमाभास है।

न्याय और वैशेषिक के अनुसार धर्म और धर्मी आदिमें अत्यंत भेद है।

उनके अनुसार अवयव और अवयवी का, गुण और गुणी का, क्रिया और क्रियावत् का, जाति और व्यक्तिका अत्यंत भेद है। परन्तु यह मत प्रमाणों से विरुद्ध है। गौ और अश्व में जिस प्रकार भेद है इस प्रकार घट और कपाल आदि अवयव और अवयवी में, घट और उसके रूप आदि गुण और गुणी में, भेद का अनुभव नहीं होता। इन सबमें परस्पर भेद और अभेद है।

मूलम्:- सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः, यथाऽखिलान्यद्वैतवादिदर्शनानि सांख्यदर्शनं च ।

अर्थः— केवल सत्ता को स्वीकार करने वाला और समस्त विशेषोंका निषेध करनेवाला संग्रहाभास है जिस प्रकार समस्त अद्वैतवादी दर्शन और सांख्य दर्शन।

विवेचनाः— केवल सत्त्व है, विशेषोंकी सत्ता वास्तव में नहीं है इस प्रकार का मत जो मानते हैं वे अद्वैत वादी हैं।

अद्वैतवादी अनेक प्रकार के हैं। ये सब एकान्त रूप से सामान्य धर्मका प्रतिपादन करते हैं अतः मिथ्या हैं। वृक्ष सूर्य चन्द्र आदि में, रूप रस आदि में और अन्य अर्थों में सत्ता प्रतीत होती है परन्तु वह बिना विशेष के नहीं प्रतीत होती। दोनों की प्रतीति समान है अतः एकान्त रूपसे सत्त्वको स्वीकार करके विशेषों का निषेध क है। सत्य अर्थ भी एकान्त का आश्रय लेकर जब प्रमाणों से सिद्ध अन्य अर्थों का निषेध करता है तो वह मिथ्या हो जाता है। अद्वैत-वादी भी किसी एक वस्तु को लेकर उससे भिन्न अर्थों को मिथ्या कहने लगते हैं।

सत्ताके अद्वैत के समान कुछ लोग ज्ञान के अद्वैत को और कुछ लोग ब्रह्म के अद्वैत को और कुछ लोग शब्द के अद्वैत को मानते हैं। इनमें ज्ञानके अद्वैत को माननेवाले विज्ञानवादी बौद्ध हैं। इन लोगों के अनुसार जब भी अर्थों का ज्ञान होता है तब ज्ञान अवश्य विद्यमान होता है। ज्ञान के बिना किसी भी अर्थका प्रकाशन नहीं होता। ज्ञान दो प्रकार का है, एक सत्य ज्ञान जिसके द्वारा प्रकाशित अर्थ प्राप्त हो सकते हैं। पुस्तक को देखकर पुस्तक का ज्ञान होता है। उसको लेकर पढा जा सकता है। यह ज्ञान सत्य ज्ञान है पुस्तक और पुस्तक का ज्ञान दोनों सत्य हैं। प्रकाश के समान ज्ञान अर्थों का प्रकाशक है। प्रकाश और उसके द्वारा प्रकाशित अर्थ जिस प्रकार सत्य हैं इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा प्रकाशित अर्थ और ज्ञान सत्य हैं, कभी कभी अर्थ के न होने पर भी ज्ञान हो जाता है। शुक्ति होती है और ज्ञान रजत का होता है इस ज्ञानके अनन्तर रजत की प्राप्ति नहीं होती इसलिए यह मिथ्या ज्ञान है। इस प्रकार के मिथ्याज्ञानों को लेकर विज्ञानवादियों ने समस्त ज्ञानों को मिथ्या मान लिया। उन्होंने कहा, जिस प्रकार रजत न होने पर भी प्रतीत होता है इसी प्रकार पुस्तक, सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि समस्त अर्थ भी न होते हुए प्रतीत होते हैं इसलिए ज्ञान केवल सत्य है और अर्थ मिथ्या है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण ज्ञानाद्वैत अयुक्त है।

ब्रह्माद्वैत समस्त अर्थों को ब्रह्म रूप स्वीकार करता है। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा। समस्त अर्थों को आत्मा जानता है और जानकर व्यवहार करता है। व्यवहार का मूल आत्मा है। आत्मा बाह्य अर्थों को जानता है इसलिए बाह्य अर्थ विद्यमान सिद्ध होते हैं। जिसका कभी ज्ञान नहीं है उसकी सत्ता नहीं है आकाशपुष्प आदि का कभी ज्ञान नहीं होता इसलिए वे असत् हैं। आत्मा जानता है, इस लिए बाह्य अर्थ की सत्ता सिद्ध होती है, इसलिए ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म रूप आत्मा ही सत्य है बाह्य अर्थ सत्य नहीं। स्वप्न में आत्मा न होने पर भी बाह्य अर्थों को देखता है और व्यवहार करता है। स्वप्न का समस्त व्यवहार मिथ्या है, फिर भी जब तक स्वप्न रहता है तब तक वह व्यवहार सत्य प्रतीत होता है। स्वप्न को मिथ्या देखकर ब्रह्माद्वैतवादियों ने जागने की दशा के संसार को भी मिथ्या मान लिया, इस प्रकार ब्रह्माद्वैत एकान्त का आश्रय लेता है। प्रमाणों से स्वप्न का और जागने की दशा का भेद सिद्ध है। एकान्त रूप से समस्त अर्थों को स्वप्न के समान मिथ्या कहने के कारण ब्रह्माद्वैत भी संग्रहाभास है।

शब्दाद्वैत इन दोनों से भिन्न अद्वैतवाद है। जो भी ज्ञान होता है उसके साथ शब्द का संबंध होता ही है। बिना शब्द के शुद्ध ज्ञान का अनुभव कभी नहीं होता। कोई भी अर्थ हो उसका वाचक शब्द अवश्य होता है। शब्द के बोलने पर अर्थ की प्रतीति होती है। यदि अर्थ न हो तो भी शब्द को सुनकर अर्थ विद्यमान प्रतीत होने लगता है। शब्द के इस सामर्थ्य को लेकर शब्दाद्वैत-वादी शब्द को अनादि अनन्त ब्रह्म मान लेते हैं और कहते हैं केवल शब्द सत्य है। वही अनेक प्रकार के अर्थों के रूपमें प्रतीत हो रहा है।

अर्थ सत्य नहीं है। कुछ दशाओं में शब्द अर्थको न होने पर भी बतला देता है इस कारण समस्त अर्थों को एकान्त रूप से मिथ्या मान लेने के कारण शब्दाद्वैतवाद भी संग्रहाभास है। प्रमाणों के द्वारा ज्ञान अथवा ब्रह्म अथवा शब्द जिस प्रकार सिद्ध होते हैं इस प्रकार अन्य जड चेतन भी सिद्ध होते हैं केवल एक को लेकर उसी में सब का संग्रह करना युक्त नहीं है।

अद्वैतवाद जिस प्रकार संग्रहाभास है इस प्रकार सांख्यों का प्रकृतिवाद भी संग्रहाभास है। सांख्य लोग किसी एक तत्त्व को नहीं मानते उनके अनुसार मूल भूत तत्त्व दो हैं प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन। समस्त संसार प्रकृति रूप है, पृथिवी जल आदि जितने भी बाह्य अर्थ हैं वे सब प्रकृतिके परिणाम हैं। प्रकृति कारण है कार्य उससे अभिन्न है। कार्य कारणों में विद्यमान है और उसका कारण के साथ अभेद है। यहां पर एकान्तवाद का आश्रय लेकर सांख्य कारण में कार्य का सर्वथा सत्त्व और कारण के साथ कार्य का सर्वथा अभेद मान लेते हैं। सर्वथा अभेद मान लेने के कारण समस्त जड अर्थ को प्रकृति रूप कहते हैं इस प्रकार का सत्कार्यवाद प्रमाणों के विरुद्ध है। एकान्त रूप से कारण में यदि कार्य हो तो सर्वथा कारण के साथ अभेद होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। जो अर्थ सब प्रकार से विद्यमान है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। कारणभूत अर्थ विद्यमान है वह अपने कालमें उत्पन्न नहीं होती। यदि कारण के कालमें कार्य भी सर्वथा विद्यमान हो तो उसकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि विद्यमान होने पर भी उत्पत्ति हो तो सदा कार्य उत्पन्न होता रहना चाहिए। एक बार जब पट उत्पन्न हो, तो उसके अनन्तर सदा पट उत्पन्न होता रहना चाहिए।

सर्वथा कारण में कार्य के विद्यमान होने से कारण में कोई व्यापार भी नहीं होना चाहिए। कार्य को उत्पन्न करने के लिए

कारण का व्यापार होता है। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर कारण का व्यापार नहीं रहता। जब पट उत्पन्न हो जाता है तब पटको उत्पन्न करने के लिए तन्तुओं में व्यापार नहीं रहता। एकान्त रूपसे कारण में कार्य के विद्यमान होने पर और अभेद होने पर कार्य उत्पत्ति से पहले विद्यमान है इसलिए कारणों में कोइ व्यापार नहीं रहना चाहिए। इस आक्षेप को दूर करने के लिए सत्कार्यवादी कहने लगता है-कारण में कार्य सर्वथा विद्यमान है पर अव्यक्त रूपसे विद्यमान है। अभिव्यक्ति के लिए कारण का व्यापार होता है परन्तु यहां पर भी दो विकल्प उठते हैं। अभिव्यक्ति रूप अर्थ नित्य अथवा कार्य होना चाहिए यदि अभिव्यक्ति नित्य है तो सर्वथा विद्यमान है इसलिए कारण का व्यापार नहीं होना चाहिए। यदि अभिव्यक्ति अनित्य है तो उसकी उत्पत्ति माननी होगी। उत्पत्ति मानने पर अभिव्यक्ति रूप कार्य उत्पन्न होने से पहले विद्यमान हो तो अभिव्यक्त रूप में कार्य के विद्यमान होने से व्यापार नहीं होना चाहिए। स्वयं अभिव्यक्ति विद्यमान है इसलिए उसके लिए भी कारण का व्यापार नहीं होना चाहिये। इस दोष से बचने के लिए यदि अभिव्यक्ति रूप कार्य को उत्पत्ति से पहले असत् कहा जाय तो कार्य कारण में सर्वथा विद्यमान है इस मत का त्याग करना पडेगा। फिर कार्य की अभिव्यक्ति पहले अविद्यमान होकर यदि उत्पन्न हो सकती है तो कार्य को भी पहले अविद्यमान होकर उत्पन्न होने में कोई रुकावट नहीं हो सकती।

अब यदि इन दोषों को हटाने के लिए कहाजाय, उत्पन्न होने से पहले कारणों में जो कार्य विद्यमान होते हैं उन पर आवरण रहता है। आवरण को हटाने के लिए कारणों का व्यापार होता है तो यह भी युक्त नहीं है। सांख्य मत के अनुसार असत् की उत्पत्ति जिस प्रकार नहीं होती इस प्रकार सत् का विनाश भी नहीं होता। आवरण विद्यमान है इसलिए उसका नाश नहीं होना चाहिए। इसके

अतिरिक्त जहां आवरण के कारण कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता वहां पर आवरण अवश्य प्रतीत होता है। अन्धेरे में पट नहीं दिखाई देता। अन्धकार पट को ढांक देता है और स्वयं दिखाई देता है। कारण में विद्यमान कार्य को ढांकनेवाले किसी अर्थ का ज्ञान नहीं होता इसलिए आच्छादक की कल्पना अयुक्त है कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण दिखाई देता है यदि उसको ही कार्य का आच्छादक कहा जाय तो युक्त नहीं है। कारण–उत्पादक है वह कार्य का आच्छादक नहीं हो सकता। उत्पत्ति के अनन्तर विद्यमान पट को तन्तु रूप कारण जिस प्रकार नहीं ढकते इस प्रकार उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान पट को नहीं ढक सकते। एकान्त का आश्रय लेने पर अर्थ का सत्य स्वरूप प्रकट नहीं होता। प्रमाण कारण के साथ कार्य के सर्वथा अभेद को नहीं किन्तु अनेकान्त रूप से अभेद को सिद्ध करते हैं। एक अपेक्षा से कार्य का कारण के साथ अभेद है और अन्य अपेक्षा से भेद है। जो तन्तु पहले पट के बिना दिखाई देते हैं वही तन्तुवाय के व्यापार से पट रूपमें हो जाते हैं। पट के साथ भी तन्तुओं का रूप दिखाई देता रहता है। तन्तुओं के बिना पट का स्वरूप कभी प्रतीत नहीं होता। कारणभूत तन्तु, बिना पट के भी प्रतीत होते हैं। इस लिए कारण का कार्य के साथ अनेकान्त रूप से भेद और अभेद है। समस्त जड अर्थों का कारण पुद्गल है। पुद्गलों के साथ पर्यायों का भेदाभेद है। अतः जड कार्यों के साथ सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति का सर्वथा अभेद संग्रहाभास है।

मूलम्:–अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः यथा चार्वाकदर्शनम्, चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुतेऽविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति।

अर्थः—द्रव्य और पर्याय के असत्य विभाग को प्रकट करने वाला अभिप्राय व्यवहाराभास है जिस प्रकार चार्वाक दर्शन। चार्वाक प्रमाण के द्वारा सिद्ध जीव द्रव्य और पर्याय आदि के विभाग को काल्पनिक कहकर नहीं मानता है, और लोगों के स्थूल व्यवहार का अनुगामी होने के कारण चार भूतों के विभाग मात्र को स्वीकार करता है, यह विभाग विचार के बिना सुन्दर प्रतीत होता है।

विवेचना :—लोगों का व्यवहार प्रायः बाह्य इन्द्रियों के द्वारा चलता है। जिस अर्थ का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं होता उसकी सत्ता को सामान्य लोग नहीं मानते। सामान्य लोग ही नहीं परीक्षक लोग भी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान न होने पर स्थूल अर्थों का अभाव मानते हैं। इस प्रकार का व्यवहार यथार्थ है। एकान्त रूप से स्थूल अर्थों के प्रत्यक्ष का आश्रय लेकर चार्वाक जब इन्द्रियों से अगम्य अर्थ का निषेध करने लगता है तब व्यवहाराभास हो जाता है। अर्थ दो प्रकार के हैं, इन्द्रियगम्य और इन्द्रियों से अगम्य। जिन अर्थों का संवेदन इन्द्रियों द्वारा नहीं होता उनको यदि न स्वीकार किया जाय तो स्थूल प्रत्यक्ष अर्थों का आधार नहीं रह सकता। वृक्ष-लता, फूल, फल ईंट-पत्थर आदि जितने अर्थ हैं इन सबके अवयवों का जब विभाग होता है तब छोटे-मोटे खंड दिखाई देते हैं। इनमें से ईंट और पट आदि को बनाना हो तो मिट्टी के पिंडों के संयोग से ईंटों को और तन्तुओं के संयोग से पट को बनाया जाता है। अवयवों के संयोग से अवयवी द्रव्य उत्पन्न होते हैं और अवयवों के विभाग से नष्ट होते हैं। यह नियम स्थूल द्रव्यों के जन्म और नाश को देखकर सिद्ध होता है। इस नियम के अनुसार द्रव्यों के स्थूल अवयवों के खंड होते चले जायेंगे। खंड करते करते वह अवस्था आ जायगी जब अत्यन्त सूक्ष्म खंड दिखाई तो देगा पर उसके खंड न किये जा सकेंगे इस आदिम स्थूल के अवयव नहीं किये जा सकते हैं तो भी नियम के अनुसार उसके अवयव होने चाहिए। आदिम स्थूल

अवयव के सूक्ष्म उत्पादक अवयव मानने होंगे। यदि ये सूक्ष्म अवयव न हों तो आदिम स्थूल का जन्म बिना अवयवों के मानना पडेगा। परन्तु सूक्ष्म अवयवों के बिना स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्य किसी अर्थ को भी नहीं उत्पन्न करता। इस प्रकार स्थूल अर्थों के आधार को आंख आदि इन्द्रियां नहीं जानतीं तो भी मानना पडता है। सूक्ष्म द्रव्य ही नहीं इनके रूप स्पर्श आदि गुणों को भी इन्द्रियां नहीं जान सकतीं। यदि आदिम दशा के अवयव रूप रस आदि गुणों से रहित हों, तो स्थूल अवयवों में रूप रस आदिका जन्म न हो सकेगा। इन्द्रियों के द्वारा जिनका अनुभव प्रत्यक्ष रूप से न हो सके उनकी सत्ता स्थूल अर्थों के लिए भी अपरिहार्य है। इस तत्त्व की उपेक्षा करके चार्वाक पृथ्वी आदि चार स्थूल द्रव्यों को तो स्वीकार कर लेता है पर जिनका अनुभव इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता उनका अनुमान से सिद्ध होने पर भी निषेध करने लगता है।

स्थूल शरीर प्रत्यक्ष है उसीको स्वीकार करता है। शरीर से भिन्न चेतन द्रव्य को नहीं मानता। इसका यह मत अनुमान के विरुद्ध है। स्थूल द्रव्यों के गुणों का संवेदन उस नियम को प्रकट करता है जिसके द्वारा ज्ञान-सुख-आदि गुण शरीर के नहीं सिद्ध होते। स्थूल द्रव्यों में सूक्ष्म द्रव्य प्रवेश कर जाते हैं। उस दशा में स्थूल द्रव्यका स्वाभाविक गुण नहीं प्रतीत होता और अन्दर प्रविष्ट होनेवाले द्रव्य का गुण स्थूल द्रव्य में प्रतीत होने लगता है। पानी शीतल द्रव्य है और तेज उष्ण द्रव्य है। जब तेज के अवयव पानी के अन्दर चले जाते हैं तब पानी के शीत स्पर्शका अनुभव नहीं होता, उस दशा में पानी का स्पर्श उष्ण प्रतीत होने लगता है। वास्तवमें उष्ण स्पर्श तेज का है पर जल के गुणरूप में प्रतीत होता है। शरीर भी भौतिक है, रूप-गन्ध-आदि उसके गुण हैं जिनका अनुभव इन्द्रियों द्वारा होता रहता है। शरीर के समान जो अर्थ पृथ्वी जल आदि से उत्पन्न होते हैं उनमें ज्ञान, इच्छा, सुख आदि के होने का

प्रमाण नहीं मिलता, इस दशा में अनुमान होता है, शरीर में ज्ञान सुख आदि जिन गुणों का संवदेन होता है, वे गुण वास्तव में शरीर के नहीं हैं। शरीर के अन्दर प्रवेश करने वाला कोई सूक्ष्म द्रव्य है जिसके गुण ज्ञान सुख आदि है पर शरीर के गुण होकर प्रतीत होते हैं। यदि ज्ञान सुख आदि शरीर के गुण स्वाभाविक होते तो जब तक शरीर है तब तक अवश्य रहते। प्राणों के निकल जाने पर रूप गन्ध आदि गुण शरीर में दिखाई देते हैं और ज्ञान सुख आदि का अनुभव नहीं होता। तेज के निकल जाने पर पानी शीतल हो जाता है, शरीर भी किसी अन्य द्रव्य के निकल जाने पर चेतना और सुख आदि से शून्य हो जाता है। शरीर के अन्दर प्रवेश करने वाला और बाहर जाने वाला द्रव्य आत्मा है, ज्ञान सुख-आदि उसके गुण हैं।

परीक्षकों के प्रमाणों पर आश्रित होने पर भी आत्मा आदि के व्यवहार को चार्वाक अयुक्त मानता है, इसलिए उसका मत व्यवहाराभास है।

मूलम्:-वर्तमानपर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभास :, यथा ताथागतं मतम्।

अर्थः—वर्तमान काल के पर्याय को स्वीकार करने वाला और द्रव्य का सर्वथा निषेध करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्राभास है जिस प्रकार बौद्ध मत।

विवेचनाः—अर्थों का सम्बन्ध तीन कालों के साथ अनुभव से सिद्ध है। जिस अर्थ का ज्ञान अभी होता है वह वर्तमान काल के पीछे भी प्रतीत होता है। ज्ञाता समझता है पहले देखा था इस लिए यह अर्थ भूत काल में था। अब देख रहा हूँ इसलिए वर्तमान काल में भी है। इसके अनन्तर भी दिखाई देता है इसलिए भावी काल के साथ भी इसका सम्बन्ध है। अतः कालों के भिन्न होने पर भी अर्थ एक है।

जब अर्थ नष्ट हो जाता है तब नहीं दिखाई देता।

जो अर्थ नहीं दिखाई देता उसका भी कोई अंश रहता है। कोई भी भावात्मक अर्थ किसी भी दशा में सर्वथा शून्य नहीं हो जाता। पहले मिट्टी का पिंड होता है पीछे ईंटें उत्पन्न होती हैं। ईंटों से भवन उत्पन्न होता है। ईंट का जब प्रत्यक्ष होता है तब ईंट मिट्टी के साथ प्रतीत होती है। जब भवन दिखाई देता है तब भवन के साथ भी मिट्टी दिखाई देती है। जब केवल मिट्टी होती है तब न ईंट होती है और न भवन। भवन का यदि नाश हो जाय तो भी मिट्टी का प्रत्यक्ष भस्म के रूप में होता है। ईंट—भवन—और भस्म का प्रत्यक्ष सदा नहीं होता, किन्तु मिट्टी का प्रत्यक्ष इन सब अवस्थाओं में होता है। जिसका प्रत्यक्ष सब अवस्थाओं में है वह अनुगत है और अनुगत रूप से न रहने वाले पर्यायों से भिन्न भी है। पर्याय इस अनुगत अर्थ के बिना नहीं प्रतीत होते इसलिए पर्याय अनुगत अर्थ से अभिन्न भी हैं। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान होता है। पर्यायों के उत्पन्न और नष्ट होने पर भी अनुगतद्रव्य रूप अर्थ की स्थिति रहती है। अनुगत रूप से रहने के कारण द्रव्य अक्षणिक है और पर्यायों के साथ अभेद के होने के कारण क्षणिक है। इस प्रकार द्रव्य क्षणिक भी है और अक्षणिक भी।

इसी प्रकार पानी में जब वर्षा की बूंदों के कारण बुद-बुद उत्पन्न होते हैं तब पहला बुद-बुद नष्ट होता है और दूसरा बुद-बुद उत्पन्न होता है। जब तक वर्षा वेग से होती रहती है तब तक बुद-बुद उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। जब वर्षा बन्द हो जाती है तब बुद-बुदों की उत्पत्ति नहीं होती, केवल पानी रह जाता है। पहले पानी रहता है, जब बुद-बुद होते हैं तब भी पानी रहता है और जब बुद-बुद नष्ट हो जाते हैं तब भी पानी रहता है। बुद-बुद पर्याय हैं और पानी द्रव्य है इस प्रकार के पर्याय द्रव्य के आकार से कभी अल्प अंश में और कभी अधिक अंश में भिन्न होते हैं। आकार में भेद होने

पर भी द्रव्य के साथ उनका अभेद रहता है। पर्याय कभी द्रव्यसे सर्वथा शून्य नहीं हो सकते। द्रव्य का सूक्ष्म पर्याय स्थूल पर्यायों के समान न दिखाई देने पर भी द्रव्य में होता रहता है। इस प्रकार के पर्याय इन्द्रियों से अगम्य भी होते हैं। इन सूक्ष्म पर्यायों के बिना द्रव्य कभी नहीं रहता इसलिए वस्तु का स्वभाव द्रव्यात्मक और पर्यायात्मक है।

बौद्ध, द्रव्य और पर्याय के प्रमाण सिद्ध होने पर भी पर्यायों को मान लेता है और अनुगामी द्रव्य का निषेध करता है। उसका कहना है कोई अर्थ अनुगामी नहीं है। यदि तीन कालों में द्रव्य की स्थिति हो तो जब किसी अर्थ का प्रत्यक्ष होता है तब नाश के काल तक रहनेवाला वस्तु का जो स्वरूप है वह देखते ही स्पष्ट रूप से एक क्षण में प्रतीत हो जाना चाहिए। परन्तु जिस क्षण में देखते हैं उस क्षण में अर्थ का वही स्वरूप प्रत्यक्ष होता है जो उस क्षण में विद्यमान होता है। अतीत क्षणों में जो अर्थ के जो स्वरुप थे और अनागत क्षणों में जो स्वरूप होंगे उन सबका प्रत्यक्ष नहीं होता। एक क्षण में जन्मसे लेकर नाश तक के पर्यायों का और उन पर्यायों में रहनेवाले अनुगामी द्रव्य का प्रत्यक्ष जिस प्रकार असंभव है इस प्रकार अनेक क्षणों में भी क्रमसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ज्ञान पर्यायों का प्रकाशक है। ज्ञान स्वयं क्षणिक है वह अपनी उत्पत्तिसे पूर्व काल के और अपने विनाश के अनन्तर होने वाले पर्यायों को प्रकाशित नहीं कर सकता। पर्यायों का अनुभव न होने पर उनके साथ अभेद से रहने वाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

परन्तु यह कथन युक्त नहीं है। ज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं है। ज्ञान का पर्याय नष्ट होता है वह सर्वथा नष्ट नहीं होता उसका कुछ भाग रह जाता है। ज्ञान के उत्पाद और विनाशवाले पर्यायों में ज्ञानात्मक द्रव्य स्थिर रहता है, यही स्थिर ज्ञान आत्मा है और वह अर्थों के उत्पाद और नाश के समान अनुगत रूप को भी स्थिर रूप

में प्रत्यक्ष कर सकता है। तीन काल के पर्यायों का अभेद होने पर भी जब द्रव्य का प्रत्यक्ष होताहै तब सभी का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका कारण इन्द्रियों का सामर्थ्य है। जो वर्तमान काल में है उसीका ज्ञान इन्द्रियों से हो सकता है। इन्द्रियों का स्वभाव इसी प्रकार का है जिन पर्यायों को इन्द्रिय नहीं जान सकते, उनके साथ द्रव्य का अभेद यदि प्रत्यक्ष न हो, तो वह अविद्यमान नहीं सिद्ध हो सकता। नेत्रसे रूपका दर्शन होता है। जब फूल का रूप दिखाई देता है। तब स्पर्श और गन्ध को होने पर भी नेत्र नहीं जान सकते। इतनेसे फूल में जब रूप है तब स्पर्श और गन्ध का अभाव नहीं सिद्ध होता। यदि अनुगामी द्रव्य न हो तो प्रथम पर्याय के नष्ट होने पर अन्य पर्याय नहीं उत्पन्न होना चाहिए। उपादान बीज के न होने पर अंकुर पर्याय नहीं उत्पन्न होता। पर्याय का अभेद द्रव्य के प्रत्यक्ष का साधन नहीं है। प्रत्यक्ष के साधन इन्द्रिय हैं और ये अपने स्वभाव के अनुसार अर्थ का प्रत्यक्ष करते हैं। स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहायतासे आत्मा भूत और भावी पर्यायों को और उनसे अभिन्न द्रव्यों को जान लेता है।

ध्यान रहे, द्रव्य का अनुगामी अक्षणिक स्वरूप काल की अपेक्षासे प्रतीत होता है। काल इस स्वरूप को उत्पन्न नहीं करता। अर्थ, बौद्ध मत के अनुसार क्षणिक है पर वर्तमान काल अर्थ में क्षणिकता को उत्पन्न नहीं करता। यदि काल वर्तमान अर्थ में क्षणिकता को उत्पन्न करता हो, तो वर्तमान काल की क्षणिकता को उत्पन्न करने के लिए किसी अन्य काल को कारण मानना पडेगा। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। इससे बचने के लिए अर्थ के यथार्थ स्वभाव का आश्रय लेना होगा। जिस प्रकार अर्थ स्वभावसे जिस क्षण में उत्पन्न होता है वह क्षण पूर्व और उत्तर भावसे रहित होता है। क्षण के साथ संबंध होनेसे अर्थ क्षणिक कहा जाता है इसी प्रकार अनेक क्षणों के साथ अर्थ का संबंध है इसके कारण अर्थ अक्षणिक कहा जाता है।

तीनों काल अक्षणिकता को उत्पन्न नहीं करते।

अर्थों में अनुगमसे युक्त द्रव्य और अनुगमसे रहित पर्याय का अनुभव होने पर भी एकान्तवाद का आश्रय लेकर बौद्ध क्षणिक पर्यायों के ज्ञान को सत्य मानता है और जो एक अनुगत द्रव्य प्रतीत होता है उसके ज्ञान को भ्रम कहता है दीप की ज्वाला जलती हुई चिरकाल तक एक प्रतीत होती है, परन्तु एक ज्वाला चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकती। जब तक तेल और बत्ती रहती है तब तक ज्वाला जलती है। तेल का नाश क्षण-क्षण में प्रत्यक्ष होता है इससे ज्वाला का जन्म प्रतिक्षण सिद्ध होता है। जो ज्वाला प्रथम क्षण में उत्पन्न हुई उसके समान अन्य ज्वाला दूसरे क्षण में उत्पन्न हुई निरंतर समान ज्वालाओं के उत्पन्न होने के कारण वही एक ज्वाला जल रही है जो पहले जलती थी, इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है ज्वालासे भिन्न कोई अनुगामी द्रव्य नहीं है। इसलिए क्षणिक पर्याय केवल है।

परन्तु यह युक्त नहीं है। जितनी ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं उन सब में प्रकाशात्मक उष्ण तेज अनुगत रूप से प्रतीत होता है। ज्वाला की एकता भ्रान्त है पर तेज का अनुगत एक स्वरूप भ्रमसे नहीं प्रतीत हो रहा है। यदि प्रथम क्षण में ज्वाला के पर्याय के साथ तेज द्रव्य भी नष्ट होजाय तो दूसरे ही क्षण में ज्वाला का नाश हो जाना चाहिए। अतः अनुगत तेज द्रव्य का प्रत्यक्ष एक ज्वाला के प्रत्यक्ष काल में भी सत्य है जहाँ पर पट, पत्थर, लोहा आदि का स्थिर रूप में अनुभव होता है वहाँ भी ज्वाला के दृष्टांत को लेकर केवल क्षणिक पर्यायों को मानना और स्थिर द्रव्य का निषेध करना अयुक्त है। एकान्त रूपसे क्षणिक पर्यायों को स्वीकार करनेसे बौद्ध मत ऋजुसूत्राभास है।

मूलम्— कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दा-

भासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक् सिद्धान्यशब्दवदिति।

अर्थः—काल आदि के भेद से अर्थ के भेद को ही माननेवाला और अभेद का निषेध करनेवाला शब्दाभास है। जैसे सुमेरु था, है, होगा इत्यादि शब्द भिन्न अर्थ को ही कहते हैं भिन्न काल के वाचक शब्द होनेसे इस प्रकार के सिद्ध अन्य शब्दों के समान।

विवेचनाः—एक अर्थ का तीन कालों के साथ संबंध रहता है, इसलिए काल का भेद होने पर भी अर्थ का सर्वथा भेद नहीं होता। जिस पर्याय का एक क्षण के साथ सम्बन्ध है उसी पर्याय का अन्य क्षणों के साथ सम्बन्ध नहीं रह सकता। द्रव्य अनेक क्षणों के साथ भी सम्बन्ध रख सकता है। वह काल के भिन्न होने पर भी अभिन्न रहता है इसी प्रकार वस्तु का स्वरूप काल के भेद में भी भिन्न और अभिन्न रहता है। इस तत्त्व की अपेक्षा करके शब्द नय कहने लगता है, पूर्व काल में जो सुमेरु था वह ही अब नहीं है। अब जो सुमेरु है वह भूतकाल के सुमेरु से सर्वथा भिन्न है। जब कोई कहता है 'देवदत्त गया, यज्ञदत्त पढता है, विष्णु मित्र भोजन करेगा' तब देवदत्त आदि अर्थ भिन्न होते हैं। भूतकाल की गमन क्रिया के साथ देवदत्त का सम्बन्ध है, वर्तमान काल की पठन क्रिया के साथ यज्ञदत्त का सम्बन्ध है, भावी काल की भोजन क्रिया के साथ विष्णुमित्र का सम्बन्ध है। यहां पर भिन्न कालों के साथ सम्बन्ध होने पर देवदत्त आदि अर्थों में भेद है। सुमेरु का भी जब भिन्न काल के साथ सम्बन्ध हो तो भेद मानना चाहिए। इस प्रकार एकान्तवाद का आश्रय लेकर शब्दनय काल भेदसे जहां अर्थ एक है वहां भी भेद मानने लगता है। देवदत्त आदि अर्थ भिन्न थे और उनका भिन्न काल की क्रियाओं के

साथ सम्बन्ध था इस वस्तु की ओर उपेक्षा कर देता है।

काल ही नहीं कारक और लिङ्ग आदि का भेद होने पर भी शब्द नय जब एकान्त रूप से अर्थ के भेद को केवल मानने लगता है तब शब्दाभास हो जाता है।

मूलम्:—पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरूढाभासः, यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरंगशब्दवदिति।

अर्थ—पर्याय शब्दों में अर्थ के भेद को ही स्वीकार करने वाला समभिरूढाभास होता है। जैसे इन्द्र, शक्र पुरन्दर इत्यादि शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न ही हैं, भिन्न शब्द होनेसे करी कुरङ्ग शब्द के समान।

विवेचनाः—करी शब्द का अर्थ हाथी और कुरंग शब्द का अर्थ हरिण है। इसी प्रकार अनेक शब्द हैं जिनके अर्थ भिन्न हैं। शब्द के भेद से अर्थ के भेद को देखकर जब नियम बना लिया जाता है 'जहां शब्दों का भेद है वहां अर्थों का भेद है।' तब वस्तु का स्वरूप अयुक्त हो जाता है। इस प्रकार के अनेक शब्द हैं जो एक अर्थ के वाचक होते हैं। एक अर्थ में अनेक धर्म रहते हैं उनमें से किसी एक धर्म का प्रकाशन एक शब्द करता है तो दूसरा शब्द उसी एक अर्थ के अन्य धर्म का प्रतिपादन करता है। एक धर्मी का प्रतिपादन करने वाले अनेक शब्द हो सकते हैं। वस्तु के इस स्वरूप का जब एकान्त-वाद के द्वारा निषेध किया जाता है तब समभिरूढ नयाभास होता है। पर्याय शब्द अर्थ के भिन्न धर्मों को कहते हैं, भिन्न धर्मियों को नहीं।

मूलम्:—क्रियानाविष्टवस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षि-पन्नेवंभूताभासः, यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न

घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् टप-वदिति ।

अर्थः - क्रियासे रहित वस्तु शब्द के द्वारा वाच्य नहीं है, इस प्रकार कहनेवाला एवंभूताभास होता है। जैसे विशिष्ट चेष्टा से शून्य घट नामक वस्तु घट शब्द का वाच्य नहीं है, घट शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तक्रियासे शून्य होने के कारण, पट अर्थ के समान।

विवेचनाः—क्रिया का आश्रय लेकर शब्द अर्थों के वाचक होते हैं। जो पाक करता है उसको पाचक कहते हैं। लोहार पाक नहीं करता इसलिये पाचक शब्द का वाच्य अर्थ लुहार नहीं है। इस वस्तु का अत्यंत आश्रय लेकर जब कहा जाता हो, किसी को पाचक तभी कहना चाहिये जब वह पका रहा हो। जब कहीं जा रहा हो अथवा बैठा हो वा सो रहा हो तब उसके लिये पाचक शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार का अभिप्राय एवंभूताभास है। शब्दों की प्रवृत्ति में निमित्त सदा क्रिया नहीं होती। जाति आदि शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त होते हैं। जल लाना आदि क्रिया के कारण घटको घट शब्द से कहा जाता है। परन्तु घट शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त घटत्व जाति है। जब घट एक स्थान पर स्थिर हो उसके द्वारा पानी न लाया जा रहा हो तब भी उसमें घटत्व जाति रहती है इसलिये उसको घट शब्दसे कहा जा सकता है। जहाँ पर क्रिया के कारण शब्द की प्रवृत्ति होती है वहां पर भी क्रिया का सदा होना आवश्यक नहीं होता। यदि उचित समय पर पाक करता है तो चलते वा सोते को भी पाचक कहा जा सकता है। पाचक होने के लिये क्रिया को एकान्तरूपसे कारण माननेवाला अभिप्राय एवंभूत नयाभास हो जाता है।

मूलम्:—अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः।

शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः। अर्पितमभिदधानो ऽनर्पितं प्रतिक्षिपन्नर्पितनयाभासः। अनर्पितमभिदधदर्पितं प्रतिक्षिपन्ननर्पिताभासः। लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपी व्यवहाराभासः। तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपीनिश्चयाभासः ज्ञानमभ्युपगम्य-क्रियाप्रतिक्षेपी ज्ञाननयाभासः। क्रियामभ्युपगम्य ज्ञानप्रतिक्षेपी क्रियानयाभास इति।

अर्थः—अर्थ का अभिधान करनेवाला और शब्द का निषेध करने वाला अभिप्राय अर्थनयाभास है। शब्द का अभिधान करने वाला और अर्थ का निषेध करनेवाला शब्दनयाभास है। अर्पित अर्थात् विशेष को स्वीकार करनेवाला और अनर्पित अर्थात् सामान्य का निषेध करनेवाला अर्पित नयाभास है। अनर्पित का स्वीकार करनेवाला और अर्पित का निषेध करनेवाला अनर्पित नयाभास है। लोक व्यवहार को स्वीकार करके तत्त्व का निषेध करनेवाला व्यवहाराभास है। तत्त्व को स्वीकार करके व्यवहार का निषेध करनेवाला निश्चयाभास है। ज्ञान को स्वीकार करके क्रिया का निषेध करनेवाला ज्ञान नयाभास है क्रिया को स्वीकार करके ज्ञान का निषेध करनेवाला क्रिया नयाभास है।

इति महा महोपाध्याय श्री कल्याण विजय गणि शिष्यमुख्य पण्डित श्री लाभ विजयगणि शिष्यावतंस पण्डित श्री जीतविजय-गणि सतीर्थ्य पण्डित श्री नय विजयगणि शिष्येण पण्डित पद्म-विजय गणि सहोदरेण पण्डित यशोविजयगणिना विरचितायां जैन तर्कभाषायां नय परिच्छेदः।

इति महामहोपाध्याय इत्यादि का अर्थ प्रथम परिच्छेद के अन्त में कहा जा चुका है। यहां पर नय परिच्छेद समाप्त हुआ है।

卐 卐 卐 卐 卐

॥ निक्षेपपरिच्छेदः ॥

३–अब नाम आदि निक्षेपों का निरूपण किया जाता है।

मूलम् :–नया निरूपिताः। अथ निःक्षेपा निरूप्यन्ते। प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्या (त्त्या) दिव्यवच्छेदकयथास्थान–विनियोगाय–शब्दार्थ–रचना–विशेषा निःक्षेपाः।

अर्थः— नयों का निरूपण किया जा चुका है। अब निक्षेपोंका निरूपण किया जाता है। प्रकरण आदि के द्वारा अप्रतिपत्ति आदि का, निराकरण करके उचित स्थान में विनियोग करने के लिप शब्द के वाच्य अर्थ के विषय में रचना विशेष निक्षेप कहे जाते हैं।

विवेचना—नयों के समान निक्षेपों का श्रुत प्रमाण के साथ संबंध विशेष रूपसे है। श्रुत और नयके द्वारा किसी अपेक्षा से अर्थ के प्रतिपादन की जब इच्छा होती है तब अर्थ वाच्य हो जाते हैं वाच्य अर्थों के वाचकों का भेद से प्रतिपादन निक्षेपोंका स्वरूप है। शब्द को सुनकर अर्थका ज्ञान श्रोताओं को एक रूपसे नहीं होता। जो श्रोता व्युत्पन्न नहीं होता वह अवसर पर पद के उस अर्थको नहीं जानता जिसमें वक्ता का अभिप्राय होता है। किसी श्रोताको पदों के अर्थका सामान्य रूपसे ज्ञान होता हैं पर विशेष रूपसे अर्थ को जानने की शक्ति नहीं होती। शब्द के अनेक अर्थ हैं उनमें से किस अर्थ को लेना चाहिए

इस विषय में उसको संदेह हो जाता है। कभी कभी इस प्रकार के श्रोता को भ्रम हो जाता है। जिस अर्थ में अभिप्राय उसको न लेकर अन्य अर्थ को वहाँ पर वह समझ लेता है। उत्पन्न होने वाले संदेह भ्रम और अज्ञान का निराकरण हो जाय इसके लिए निक्षेपों की रचना की जाती है। निक्षेपों को जानकर प्रकरण आदि के द्वारा श्रोता अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर लेता है और अन्य अर्थ का त्याग कर देता है। प्रकरण आदि के समझने में निक्षेप सहायता करते हैं पारमार्थिक अर्थ को निक्षेप की सहायता से श्रेता जानकर उसका उचित स्थान में विनियोग कर सकता है।

जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उसका विशेष अर्थ प्रकरण की सहायता से प्रतीत होता है, इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'सैन्धव' शब्द है। सैन्धव शब्द के दो अर्थ हैं और वे दोनों मुख्य हैं। एक अर्थ है अश्व, दूसरा अर्थ है लवण। यदि वक्ता कहे सैन्धवं आनय अर्थात् सैन्धव को लाओ तो श्रोता सुनकर सन्देह करने लगता है, मुझे घोडा लाने के लिए कहा गया है। वा लवण लाने के लिए। इसके अनन्तर यदि श्रोता समझता है इस समय भोजन का अवसर है बाहर जानेका नहीं, तो वह भोजन प्रकरण के अनुसार लवण अर्थ का स्वीकार कर के लवण ले आता है। यदि निक्षेपों के द्वारा सैन्धव शब्द के चार प्रकार के वाच्य अर्थों को प्रकट कर दिया जाय तो प्रकरण के समझनेमें सरलता

होती है। इस अवसर पर जिस को सैन्धव पद के नाम, स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपों का ज्ञान हो गया है, वह भोजन का अवसर है वा बाहर जाने का, इस वस्तु को शीघ्र जान लेता है। निक्षेप के अनुसार जिसने जान लिया है सैन्धव शब्द का यहाँ पर भाव निक्षेप अश्व है अथवा लवण है। उसको अश्व वाच्य है अथवा लवण इस प्रकारका संदेह नहीं होता।

जो नाम ही नहीं स्थापना सैन्धव को और द्रव्य सैन्धय को जानता है उसको उसी भाव सैन्धव का ज्ञान होता है जो स्थापना और द्रव्य के प्रतिकूल नहीं होता। अश्व के आकार को स्थापना सैंधव और अश्व के शरीर को जो द्रव्य सैंधव समझता है वह चेतन अश्व को भाव सैन्धव समझेगा। लवण उसके लिए भाव सैन्धव नहीं हो सकता एक ही अर्थ छे विषय में नाम आदि चार निक्षेप किये जाते हैं। स्थापना और द्रव्य निक्षेप अश्व के विषय में हो और भाव निक्षेप लवण के विषय में हो, यह नहीं हो सकता। स्थापना और द्रव्य निक्षेप के द्वारा जिसने सैन्धव को अश्व प्राणी के रूपमें जाना है वह अश्व को ही भाव निक्षेप के रूप में मानेगा। वह जब सुनेगा 'सैन्धव लाओ' तो स्थापना—द्रव्य और भाव निक्षेप के अनुसार अश्व को समझ लेगा। प्रकरण के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करनी पडेगी। यदि करनी भी पडेगी तो प्रकरण का ज्ञान निक्षेपों के अनुसार शीघ्र हो जायेगा। जिस में अभिप्राय है उस अर्थ को समझ लेने से योग्य विनियोग हो सकेगा। वक्ता अश्व को लेकर अपने कार्य

की सिद्धि कर सकेगा। इस रीतिसे निक्षेप वाच्य अर्थ के निश्चय में कारण बनते हैं।

मूलम् :—मङ्गलादि पदार्थ निःक्षेपान्नाममङ्गलादिविनियोगोपपत्तेश्च निःक्षेपाणां फलवत्त्वम्, तदुक्तम्—"अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निःक्षेपः फलवान्" [ ] इति।

अर्थः— मङ्गल आदि पदार्थों के निक्षेप से नाम मङ्गल आदि का विनियोग होने के कारण निक्षेप फलवान् है। कहा है—"जिसका प्रकरण नहीं है उस अर्थ को हटाने से और जिस अर्थ का प्रकरण है उसका निरूपण करने से निक्षेप फल वाला है।

विवेचनः—मंगल के विषय में निक्षेपों के द्वारा नाम मङ्गल आदि का उचित विनियोग निक्षेपों के फल को प्रकाशित करने के लिए उदाहरण है। नाम आदि निक्षेपों के भेद से मङ्गल चार प्रकार का है—नाम मङ्गल, स्थापना मङ्गल, द्रव्य मङ्गल और भाव मङ्गल। जो वस्तु मङ्गल स्वरूप नहीं है पर उसका मङ्गल नाम रख दिया है वह वस्तु नाम मङ्गल कही जाती है जिन वर्णों का उच्चारण करके मङ्गल पद बोला जाता है, अथवा जिन वर्णों को लिखकर मङ्गल पद लिखा जाता है उन वर्णोंका समूह भी नाम मङ्गल है। स्वस्तिक आदि का चित्र लोक में मंगल रूप माना जाता है। वह स्थापना मङ्गल है। जिसको किसी काल में मंगल शब्द के वाच्य अर्थ का ज्ञान था और उस ज्ञान से

उत्पन्न संस्कार उसके आत्मामें पीछे भी हैं वह उत्तरवर्त्ती काल में मंगल ज्ञान के संस्कार से युक्त होता है और मंगल ज्ञानसे यदि रहित होता है तो द्रव्य मंगल कहा जाता है। इस प्रकार के ज्ञाता का जीवसे रहित शरीर भी द्रव्य मंगल कहा जाता है। सुवर्ण, रत्न दही, अक्षत आदि भी द्रव्य मंगल हैं। जिसको मङ्गल शब्द के वाच्य अर्थ का वर्तमान काल में ज्ञान है वह आत्मा भाव मङ्गल है। जिनेन्द्र आदि का नमस्कार भी भाव मङ्गल है। जो मंगल के इन चार निक्षेपों को जानता है उसको मङ्गल शब्द के वाच्य अर्थ के विषय में संदेह अथवा भ्रम नहीं उत्पन्न होता। वह प्रकरण के अनुसार जिस में अभिप्राय है उस अर्थ को जान लेता है और अर्थ का उचित विनियोग करता है।

मूलम् :– ते च सामान्यतश्चतुर्धा–नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्।

अर्थ— और वे सामान्न रूप से चार प्रकार के हैं नाम–स्थापना द्रव्य और भाव भेद से।

मूलम् – तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षो नामार्थान्यतरपरिणतिर्नामनिःक्षेपः। यथा सङ्केतितमात्रेणान्यार्थस्थितेनेन्द्रादिशब्देन वाच्यस्य गोपालदारकस्य शक्रादि पर्याय शब्दानभिधेया परिणतिरियमेव वा यथान्यत्रावर्तमाननेन यदृच्छाप्रवृत्तेन डित्थडवित्थादि शब्देन वाच्या।

अर्थः— इनमें प्रकृत अर्थ की अपेक्षा से रहित नाम अथवा अर्थ की परिणति नाम निक्षेप है। जैसे अन्य अर्थ में स्थित इन्द्र आदि शब्द के द्वारा केवल सङ्केत से वाच्य गोपाल पुत्र की परिणति, जो शक्र आदि पर्याय शब्दों से नहीं कही जा सकती। अथवा यही अर्थ की परिणति केवल इच्छा के कारण प्रयुक्त किसी भी अन्य अर्थ के अवाचक 'डित्थ-डवित्थ' आदि शब्द से वाच्य हो तो नाम निक्षेप है।

विवेचनाः—इन्द्र शब्द का मुख्य अर्थ स्वर्ग का अधिपति इन्द्र है, उसकी अपेक्षा के बिना गोपाल के पुत्र में जब इन्द्र पद का सङ्केत कर दिया जाता हैं। तो इन्द्र नाम गोपाल पुत्र का बोध कराता है। इस दशा में गोपाल के पुत्र का परिणाम इन्द्र शब्द का वाच्य है। इन्द्र के जो अन्य पर्याय हैं उनसे गोपाल पुत्र को नहीं कहा जा सकता। इस दशामें नाम निःक्षेप स्वर्गाधिपति का वाचक नहीं होकर गोपाल के पुत्र का वाचक बन जाता है।

नाम निःक्षेप के लिए मुख्यरूप से अन्य अर्थ का वाचक होना आवश्यक नहीं है। जब कोई डित्थ अथवा डवित्थ शब्द से किसी को पुकारने लगता है तो उसका वही नाम ही हो जाता है। डित्थ और डवित्थ किसी अन्य वस्तु के नाम नहीं हैं। वस्तु के जो गुण हैं, उनकी अपेक्षा के बिना अर्थ में संकेत करना नाम निःक्षेप के लिए आवश्यक है। इन्द्र शब्द का जब गोपाल के पुत्र में संकेत करते हैं। तब इन्द्र शब्दसे स्वर्गा-

पिपति के जिस प्रसिद्ध ऐश्वर्य गुण की प्रतीति होती है उसकी अपेक्षा नहीं की जाती है। जब किसी अर्थ में डित्थ आदि शब्दों का संकेत किया जाता है तब भी वाच्य अर्थ के गुणों की अपेक्षा नहीं की जाती। इन्द्र शब्द द्वारा ऐश्वर्य रूप गुण वाच्य है और डित्थ आदि पद का वाच्य कोई भी गुण नहीं है। इतना भेद होने पर भी गुणों की अपेक्षा के विना केवल संकेत की अपेक्षा दोनों प्रकार के नाम निःक्षेपों में है। इस प्रकार की अपेक्षा नाम निःक्षेप का असाधारण स्वरूप है।

मूलम् :– तत्त्वतोऽर्थनिष्ठा उपचारतः शब्दनिष्ठा च। मेर्वा-दिनामापेक्षया यावद्द्रव्यभाविनी, देवदत्तादिना-मापेक्षया चायावद्द्रव्य भाविनी,

अर्थः— वास्तव में यह परिणति अर्थनिष्ठ है और उप-चार से शब्दनिष्ठ है। मेरु आदि नामों की अपेक्षा से यह परिणति यावद् द्रव्य भाविनी है देवदत्त आदि नामों की अपेक्षा से यह अयावद्द्रव्य-भाविनी है।

विवेचनः—नाम वा अर्थके परिणाम को नाम निःक्षेप कहा गया है, परन्तु परिणाम अर्थ में स्पष्ट है नाम में नहीं, तो भी उपचार से शब्द में कहा गया है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है इस कारण शब्द में अर्थ का अभेद मान लिया गया है और अर्थ के परिणाम को शब्द में कहा गया है। नाम निः क्षेप दो प्रकार का है। एक वह है जो जब तक वाच्य द्रव्य

स्थिर रहता है तब तक स्वयं भी रहता है। मेरु, द्वीप, और समुद्र आदि नाम इसी प्रकार के हैं। जब तक मेरु आदि अर्थ रहते हैं तब तक ये नाम भी रहते हैं। अन्य नाम भिन्न प्रकार के हैं, देवदत्त आदि नाम इस प्रकार के हैं जो देवदत्त आदि अर्थों के रहने पर भी बदल जाते हैं। वस्तु के रहने पर भी नामों का परिवर्तन देखा जाता है।

मूलम् :– यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधान-भूतेन्द्रादिवर्णावली।

अर्थः— अथवा पुस्तक पत्र और चित्र आदि में लिखित वस्तु की अभिधान स्वरूप इन्द्र आदि वर्णों की पंक्ति भी नाम है।

विवेचनः—जब इन्द्र पद से स्वर्ग के अधिपतिका और ऐश्वर्य से रहित भृत्य आदि का बोध होता है तब वाचक और वाच्य का भेद स्पष्ट रहता है। कभी कभी इन्द्र पद का प्रयोग उन वर्णों के समुदाय में भी किया जाता है। जिनके समुदाय को इन्द्र कहा जाता है। इन् द्र् अ इनका क्रम से समुदाय इन्द्र पद रूप है इसको भी इन्द्र कहा जाता है। इन्द्रका उच्चारण करो, इस प्रकार जब कहते हैं तब इन्द्र शब्द का वाच्य इन्द्र इतना वर्णों का समुदाय होता है। यह भी नाम निःक्षेप है। इस प्रकार के नाम निःक्षेप में वाच्य और वाचक का स्पष्ट भेद नहीं प्रतीत होता। यहाँ भी मुख्य अर्थ को उपेक्षा करके संकेत के कारण इन्द्र पद वर्णों के समुदाय का वाचक है।

मूलम् :–यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्, अक्षादौ च निराकारम्, चित्राद्यपेक्षयेत्वरं नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकं स स्थापना निःक्षेपः, यथा जिन प्रतिमा स्थापना जिनः, यथा चेन्द्रप्रतिमा स्थापनेन्द्रः।

अर्थः— जो वस्तु उस अर्थ से रहित हो और उसके अभिप्राय से स्थापित हो वह स्थापना निःक्षेप है। चित्र आदि में वह उस वस्तु के समान आकारवाला होता है और अक्ष आदि में आकार रहित होता है। चित्र आदि की अपेक्षा से वह अल्प काल तक स्थिर रहनेवाला होता है और नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यों की प्रतिमा की अपेक्षा से यावत्कथिक होता है। जैसे जिन प्रतिमा स्थापना जिन है और इन्द्र की प्रतिमा स्थापना इन्द्र है।

विवेचनः—दो अर्थों में भेद होने पर एक में जो अन्य के अभेद का आरोप किया जाता है वह स्थापना है। मनके द्वारा भेद में अभेद का आरोप होता है। यह अभेद का आरोप स्थापना का मूलभूत तत्त्व है। अभेद का आरोप कहीं पर समान आकार को लेकर किया जाता है और कहीं पर आकार के समान न होने पर भी किया जाता है। गौ अथवा अश्व के आकार को काष्ठ में पत्थर में वा पत्र में देखकर कहा जाता है 'यह गौ है, यह अश्व है।' देखने वाला काष्ठ आदि के और गौ आदि के

भेदको जानता है पर आकार के समान होने से चेतन गौ आदि का अचेतन काष्ठ आदि में आरोप करता है। एक अचेतन में भिन्न अचेतन का भी आरोप किया जाता है। वृक्ष पर्वत आदि के चित्र को वृक्ष और पर्वत समझकर व्यवहार चलता है इस प्रकार के व्यवहार का मूल स्थापना है। इस प्रकार की स्थापना सद्भाव स्थापना कही जाती है। आकार में समानता न होने पर जब भिन्न आकार के अर्थ में अभेद मान लिया जाता है तब असद्भाव स्थापना होती है। अक्ष आदि में जब जिनेन्द्रदेव आदि की स्थापना होती है तब असद्भाव स्थापना होती है। जिनेन्द्र देव और अक्षों में आकार का साम्य किसी अंश में नहीं है। आकार समान नहीं है इसलिए अक्ष में देव की स्थापना को निराकार कहा है, अक्ष सर्वथा आकार शून्य नहीं है। यहाँ पर निराकार शब्द का आकार पद, समान आकार के लिए प्रयुक्त हुआ है।

ध्यान रखना चाहिए, स्थापना के लिए समान अथवा असमान आकार का होना आवश्यक नहीं है। किसी प्रकार का आकार न होने पर भी वस्तु में आकार का आरोप कर लिया जाता है। अकार इकार आदि वर्णों का कोई छोटा–बडा आकार न चक्षु-से दिखाई देता है और न त्वचासे छुआ जा सकता है। फिर भी अकार आदिके आकारों की कल्पना अनेक प्रकार के स्वरूपों में की जाती है और उसके द्वारा व्यवहार चलता है। वर्णों की भिन्न

भिन्न लिपियाँ अभेद के आरोप से उत्पन्न हुई हैं। पत्र पर स्याही से एक आकार को लिखते हैं और उसको अकार अथवा इकार कहते हैं। लिखा हुआ आकार चक्षुसे देखा जाता है पर उच्चारण से उत्पन्न होनेवाला शब्द चक्षुके द्वारा प्रतीत होने वाले आकार से शून्य है। निराकार वर्ण का कल्पित आकार में अभेद मान लिया जाता है। यह अभेद का आरोप नेत्र के द्वारा देखने योग्य आकार से शून्य वर्ण की रेखाओं में आरोप किया गया है, इस लिए निराकार कहा जा सकता है।

चित्र और अक्ष आदि में जो स्थापना की जाती है। वह जब तक चित्र आदि रहते हैं तभी तक रहती है। चित्र आदि के लुप्त होने पर यह स्थापना नहीं रहती। नन्दीश्वर के चैत्यों की प्रतिमा में जो स्थापना है वह शाश्वत प्रतिमाओं के कारण चिर काल तक रहती है। जब तक प्रतिमाओं की कथा चलती है तब तक स्थापना स्थिर है इसलिए यावत्कथिक कही जाती है।

मूलम् :–भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः यथाऽनुभूतेन्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्र पर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्व पर्यायेनुभविष्यमाणघृतपर्याये च घृतघटव्यपदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः।

अर्थ–भूत भावका अथवा भाची भाव का जो कारण निक्षिप्त किया जाता है वह द्रव्य निक्षेप है, जैसे जो भूतकाल में इन्द्र पर्याय का अनुभव कर चुका है अथवा जो भावी

कालमें इन्द्र पर्याय का अनुभव करेगा वह इन्द्र है। जिस घट में घृत भूत काल में रक्खा गया था अथवा भावी काल में जिसमें घृत रक्खा जायगा उसमें जिस प्रकार घृतघट का व्यवहार होता है इस प्रकार उस पूर्वोक्त मनुष्य में इन्द्र शब्द का व्यवहार हो सकता है।

विवेचना—जिस में कभी घी को रक्खा गया था अथवा जिस में घी रक्खा जायगा उस घट को वर्तमान काल में घृत के साथ संबंध न होने पर भी लोग घृतका घट कह देते हैं। घृत का आधार होना पर्याय है, यह पर्याय घट के बिना नहीं हो सकता, इस लिए घट इस पर्याय का कारण है। कारण होने से यहाँ पर घट द्रव्य कहा गया है। कारण होने पर भी उसका व्यवहार पर्याय के द्वारा होता है। संयोग संबंध से घट में घी रहता है। आधार होने के कारण घृतघट कहा जाता है। घृत घट कहलाने में घृतका आधार होना निमित्त है। जो मनुष्य अभी मनुष्य है वह यदि कभी अर्थात् पूर्व भव में इन्द्र बन चुका हो अथवा आगामी काल में अर्थात् आगामी भव में इन्द्र बन जाने-वाला हो तो उसको इस रीतिसे इन्द्र कहा जा सकता है।

ध्यान रहे, पर्याय अनेक प्रकार के होते हैं। मिट्टी के पिंड का घट के आकार में परिणाम पर्याय है। इस परिणाम का कारण होनेसे मिट्टी द्रव्य घट है। मिट्टी घट का कारण होने से द्रव्य घट है और घट घृतका आधार होनेसे घृतघट है। इन दोनों द्रव्य निक्षेपों में कारण का कारणभाव समान नहीं है।

घृत को धारण करने में घट निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। घट घृत के संयोगरूप में परिणत नहीं होता, निमित्त का कार्य रूप में परिणाम नहीं हो सकता। मिट्टी द्रव्य घट है, परन्तु वह घट का परिणामी कारण है निमित्त कारण नहीं। मिट्टी घटरूप को धारण कर लेती है। द्रव्य निक्षेप के लिए अर्थ को कारण होना चाहिए, परिणामी कारण हो अथवा निमित्त कारण हो, वह द्रव्य निक्षेप के रूप में हो सकता है।

मूलम् :—क्वचिद्प्राधान्येऽपि द्रव्यनिक्षेपः प्रवर्तते यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः।

अर्थ-कहीं अप्रधानतामें भी द्रव्य निक्षेप प्रवृत्त होता है जिस प्रकार अङ्गारों को मर्दन करनेवाला द्रव्याचार्य कहा गया है। आचार्य के गुणोंसे रहित होनेके कारण अप्रधान आचार्य है यह द्रव्य पदका यहाँ पर अभिप्राय है।

विवेचना—अंगार मर्दक की कथा इस प्रकार है—

गर्जनक नामके नगर में एक बार विजयसेन नामक आचार्य आये। उन्होंने एक दिन अपने शिष्यों से कहा आज एक आचार्य आयेगा पर वह भव्य नहीं हैं। उनके कहते कहते रुद्रदेव नाम के आचार्य अपने साधुओं के परिवार के साथ वहाँ पहुँचे। उसकी परीक्षा के लिए साधुओं ने प्रश्रवण भूमि में अंगारे डाल दिये। जब अतिथि साधु बाहर निकले और पैरों से आघात होने के कारण "क्विस–क्विस" शब्द हुआ तो वे मिथ्या दुष्कृत कहकर लौट गये।

उन्होंने वहाँ पर दिनमें देखने की इच्छा से चिन्हकर दिए पर आचार्य रुद्रदेव कोयलों को मसलकर ध्वनि उत्पन्न करता हुआ चला गया और कहता गया प्रमाणोंसे यहाँ जीव नहीं सिद्ध होते तो भी जिनेन्द्रोंने जन्तुओं का निर्देश किया है। यह सब सुनकर आचार्य श्री विजयसेन ने रुद्रदेव के शिष्योंसे कहा—यह अभव्य है, आप इसको छोड दो ।

आचार्य रुद्रदेव ही अंगारमर्दक नाम से प्रसिद्ध हुआ। भाव चारित्रसे रहित होने के कारण वह मोक्ष को न प्राप्त कर सका और संसार में ही रहा।

मूलम् :—क्वचिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्यंशंसालक्षणेनाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनपूजादि क्रिया द्रव्यक्रियैव, अनुपयुक्तक्रियायाः साक्षान्मोक्षाङ्गत्वाभावात्। भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षाङ्गत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्याः ।

अर्थ—कहींपर उपयोगके अभावमें भी द्रव्य शब्द का प्रयोग होता है। जैसे उचित ध्यान के बिना और इहलोक परलोक आदि की इच्छारूप विरुद्ध विधिसे भक्ति के साथ भी की जाती हुई जिनपूजा आदि क्रिया द्रव्य क्रिया है। उपयोग रहित क्रिया साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं हैं। भक्ति के साथ विधि के विरुद्ध की जाती हुई वह जिनपूजा आदि क्रिया परम्परा

से मोक्ष का साधन होनेके कारण द्रव्य होजाती है। आचार्य कहते हैं-भक्तिरूप गुण विरुद्ध विधि के दोष को अनुबन्धसे रहित कर देता है।

विवेचना—कर्मसे फलको प्राप्त करने के लिये कर्म करने की विधि का ज्ञान और एकाग्र चित्त आवश्यक कारण है। जो विधि को नहीं जानता वह प्रतिकूल रीति से भी कार्य करने लगता है। उस दशा में जो फल प्राप्त करना चाहते हैं उस फल की प्राप्ति नही होती। इतना ही नहीं अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है। आयुर्वेद के शास्त्रों में—तीव्र रोगों के नाश के लिए पारे की भस्म का प्रयोग बहुत उत्तम कहा गया है। चिकित्सा के ग्रन्थ कहते हैं, पारा स्वयं मर जाता है परन्तु रोगी को जीवित कर देता है। जो मनुष्य पारे की भस्म को उचित रीतिसे नहीं बनाता उस के पारे का परिपाक उचित परिणाम में नहीं होता। पूर्णरूप में अपक्व पारे की भस्म यदि रोगी खा ले तो रोग का नाश तो दूर रहा प्राणों का संकट हो जायगा। अज्ञान के कारण प्रतिकूल क्रिया तो है पर अनिष्ट, दुःख फल देती है इस-लिए प्रधान रूपसे क्रिया कहने योग्य नहीं है। अयोग्य क्रिया अप्रधान क्रिया है। अप्रधान का परिभाषिक नाम द्रव्य है। इस प्रकार की क्रिया द्रव्य क्रिया कही जाती है।

विधि के ज्ञान के समान फल प्राप्त करने के लिए काम के करने में चित्त की एकाग्रता भी आवश्यक है। क्रिया के करने में ध्यान न देकर अन्य विषय में ध्यान देनेसे भी अनिष्ट फल प्राप्त

हो जाता है, अथवा जिस उत्कृष्ट फल के प्राप्त करने की इच्छा होती है वह न मिलकर न्यून कोटिका फल मिलता है। एक मनुष्य चलकर किसी नियत स्थान पर नियत समय पर पहुँचना चाहता है। यदि चलते-चलते किसी अन्य विषय में ध्यान चला जाय तो पथिक जहाँ नहीं जाना चाहता वहाँ पहुँच जायगा। यदि अनुकूल दिशा में भी रहेगा तो नियत समय पर वांछित स्थान को न प्राप्तकर सकेगा। एक ग्राम वा नगरसे अन्य ग्राम वा नगर में जाने के लिए आजकल मोटर और रेल का उपयोग होता है। यदि यात्री चित्त के एकाग्र न होनेसे मोटर अथवा रेल के प्राप्ति स्थान पर जब पहुँचना चाहिए तब न पहुँच कर विलम्ब से पहुँचे तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए पहली मोटर या रेल नहीं मिलेगी। कुछ समय के अनन्तर अन्य मोटर या रेल का आश्रय लेना पडेगा। इस कारण फल तो मिलेगा पर विलम्ब हो जायगा। यदि पथिक ने किसी एक दिशा में दूर तक दो चार स्थानों में जाना हो और वह नियत समय पर वाहनों के प्राप्ति स्थान पर न पहुँचे तो उसको इस प्रकार का भी वाहन मिल सकता है जो उसके वांछित दूसरे अथवा तीसरे स्थान तक तो जाता हो पर वांछित चौथे स्थान तक न जाता हो। इस प्रकार की दशा में यात्री को दूसरे अथवा तीसरे स्थान तक रहना पडेगा। यह सब चित्त के एकाग्र न होने का फल है। एकाग्र चित्तके बिना की हुई इस प्रकार की क्रिया भी अप्रधान क्रिया है और वह द्रव्य क्रिया कही जाती है।

लौकिक क्रिया के समान शास्त्र में विहित क्रिया भी विधि के ज्ञान और एकाग्र चित्त के होने पर फल देती है। शास्त्र में सम्यक् चारित्र को मोक्ष का कारण कहा गया है। यदि कोई, लोगों को वंचित करने के लिए चारित्र का पालन करता हो तो उसको मोक्ष नहीं मिलेगा किन्तु अनेक जन्मों में दुःख मिलेगा। वंचना के साथ किया हुआ चारित्र मुख्य रूपसे चारित्र नहीं है, अप्रधान चारित्र है और इस कारण द्रव्य चारित्र है।

अधिकार न होने के कारण भी क्रिया अप्रधान हो जाती है और उचित फल नहीं उत्पन्न करती। वह पथिक जो मार्ग को जानता है और पहुँचने के स्थान के लिए एकाग्र चित्त भी है, वह यदि रोगी हो और दूर तक चलने में असमर्थ हो तो कुछ दूर तक चलकर रह जायगा और वांछित स्थान पर न पहुँच सकेगा। रोगी पथिक दूर तक की यात्रा का अधिकारी नहीं है। उसकी यात्रा अप्रधान क्रिया रूप है इसलिए वांछित स्थान तक पहुँचाने में असमर्थ है। रोगी यात्री के समान अभव्य और दूरभव्य जीव यदि एकाग्र चित्तसे पूजा करे तो भी अधिकारी न होनेसे इष्ट फल को नहीं प्राप्त कर सकता। तीर्थंकर आदि की पूजा के देखनेसे सामायिक का ज्ञान प्राप्त होने के कारण उसकी पूजा में प्रवृत्ति हो सकती है पर इष्ट फल नहीं मिल सकता।

जिसका चित्त एकाग्र नहीं है जो संसार के अन्य विषयों का

चिन्तन कर रहा है उसकी पूजा भी द्रव्य क्रिया है। वह मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है। जिनेन्द्र के राग-द्वेष आदिसे रहित स्वरूप का एकाग्र चित्त के द्वारा चिंतन न हो तो साधक के राग-द्वेष आदि दोष क्षीण नहीं होते, इस कारण उसको मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।

जो एकाग्र चित्तसे भक्तिके साथ पूजा करता है पर विधि के साथ नहीं करता अथवा पुत्र ऐश्वर्य आदि की कामनासे करता है उसकी पूजा भी द्रव्य पूजा है। विधि के बिना पूजा यदि भक्ति के साथ भी की जाय तो वह राग आदि के नाश में प्रधान रूपसे साधन नहीं रहती। परंपरा के द्वारा मोक्ष का साधन होनेके कारण वह अप्रधान द्रव्य रूप हो जाता है। लौकिक फल का अभिलाषी भक्त पुत्र आदि फल प्राप्त कर के संसार में रह जायगा। उसको मोक्ष न मिलेगा। यदि वह राग आदि के क्षय के लिए भक्ति करे तो विधि के अनुसार न होने पर भी पूजा परंपरासे मोक्ष का कारण हो सकती है। विधि के विरोधका जो दोष है वह भक्ति के कारण निरंतर अनिष्ट फल की उत्पत्ति में असमर्थ हो जाता है। आचार्यों के इस अभिप्राय के अनुसार विधि रहित और भक्ति सहित पूजा भी द्रव्य पूजा है।

मूलम् :–विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिःक्षेपः, यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति।

अर्थ—वक्ता जिस क्रियाकी विवक्षा करता है उसकी अनुभूतिसे युक्त जो स्वतत्त्व निक्षिप्त किया जाता हैं वह भाव निक्षेप है जैसे इंन्दन आदि क्रिया में परिणत होनेवाला भावेन्द्र है ।

जो भवन को प्राप्त होता है वह भाव है । किसी पर्याय के रूप में परिणत होना भवन है । जो पर्याय अनुभव में आ रहा है उससे युक्त वस्तुका स्वरूप जब प्रतिपादित किया जाता है तब भाव निक्षेप होता है । जो इन्दन करता है वह इन्द्र है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो जीव स्वर्ग लोक में शासन करता है वह भावेन्द्र हैं । वस्तु का जो असाधारण स्वरूप है वह उसका स्वतत्त्व है । असाधारण स्वरूपसे परिणाम प्राप्त अर्थ भाव है। मृत् पिंड का घट के आकार में परिणाम हो तो उसको घट कहा जाता है । मध्य में गोल हो, ग्रीवा का भाग संकुचित और गोल हो और ऊपर की ओर हो तो घट के रूप में परिणाम होने के कारण घट व्यवहार होता है । इस प्रकार के आकार में परिणत मृत् पिंडरूप अर्थ भावघट है। अर्थ का वर्तमान काल में जो पर्याय है वह भाव है । यह इस प्रकार फलित होता है ।

मूलम् :—ननु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिष्वपि वृत्त्यविशेषात् १, तथाहि—नाम तावन्नामवति पदार्थे स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्,

त्रिष्वपि भावस्याभावात् । द्रव्यमपि नामस्थापना-द्रव्येषु वर्तते एव, द्रव्यस्यैव नाम स्थापनाकरणात् द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्चेति विरुद्ध-धर्माध्यासा-भावान्नैषां भेदो युक्त इति चेत्,

अर्थ—शंका करते हैं—भाव को छोडकर नाम आदि का परस्पर क्या भेद है ? तीनों में वृत्ति का अर्थात् स्थितिका कोई भेद नहीं है । इस में हेतु यह है । नाम नामवान् पदार्थ में, स्थापना में और द्रव्य में समान रूपसे रहता है । स्थापना का स्वरूप भाव अर्थसे रहित होना है, वह भी तीनों में समान है-कारण तीनों में भाव का अभाव है । द्रव्य भी नाम, स्थापना और द्रव्य में विद्यमान है । द्रव्य का ही नाम रखा जाता है और द्रव्य की ही स्थापना की जाती है, द्रव्य की द्रव्य में वृत्ति बिना क्लेश के होती ही है, विरोधी धर्मों का सम्बन्ध न होने से इनका भेद युक्त नहीं है।

विवेचना-अर्थ का वर्तमान काल में जो पर्याय है वह भाव का असाधारण स्वरूप है । यह नाम स्थापना अथवा द्रव्य में नहीं है परन्तु नाम आदि परस्पर में पाये जाते हैं । इन तीनों का जो असाधारण धर्म है वह परस्पर विरोधी नहीं है । जिन के धर्म परस्पर विरोधी होते हैं, वे अर्थ भिन्न होते हैं । शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श परस्पर विरोधी हैं । शीत स्पर्श जल का और उष्ण स्पर्श तेज का धर्म है इस कारण जल और तेज भिन्न हैं । यदि नाम आदि परस्पर विरोधी होते तो इनमें आधार-आधेय-

भाव नहीं होना चाहिए, परन्तु यह इनमें है। जिस अर्थ का कोई भी नाम है उसमें नाम की सत्ता है। जो स्वर्ग का अधिपति नहीं है, केवल नाम से इन्द्र है वह इन्द्र नाम से कहा जाता है। जिसमें इन्द्र की स्थापना की गई हो उसको भी लोग इन्द्र कहते हैं। जो किसी काल में अर्थात् आगामी भव में इन्द्र होने वाला हो उसको भी इन्द्र कहा जाता है। जो अभी युवराज है, कुछ काल के पीछे राजा बननेवाला है उसको पहले से ही राजा कहने लगते हैं। यदि नाम का स्वरूप, स्थापना और द्रव्यका विरोधी होता तो स्थापना और द्रव्य के साथ नाम का संबन्ध न होता। भावेन्द्र में भी यद्यपि नाम का संबंध विद्यमान है, परन्तु भावेन्द्र का जो वर्तमान पर्याय है वह नाम स्थापना और द्रव्य में नहीं है। स्वर्ग पर शासन भावेन्द्र का असाधारण स्वरूप है। वह नाम, स्थापना और द्रव्य इन्द्रों में नहीं पाया जाता, इस लिए भावेन्द्र का नामेंद्र आदि से भेद है। जिस पर्याय के कारण द्रव्य भाव होता है वह पर्याय नाम स्थापना और द्रव्य में नहीं है। इस लिए भाव और नाम आदि का भेद है। नाम का स्वरूप जिस प्रकार नाम में है इस प्रकार स्थापना और द्रव्य में भी है इसलिए इसमें भेद नहीं हो सकता।

भाव स्वरूप अर्थ से रहित होना यह स्थापना का असाधारण स्वरूप है, यह भी नाम आदि तीनों में है। अन्य कोई इस

प्रकार का धर्म नहीं है, जो स्थापना में हो पर नाम और द्रव्य में न हो।

द्रव्य भी जहाँ नाम स्थापना और द्रव्य है वहाँ विद्यमान रहता है। द्रव्य हो तो उसका नाम धरा जा सकता है। स्थापना भी द्रव्य की होती है। जो द्रव्य है वह द्रव्य है ही, वहाँ द्रव्य के होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। मृत् पिंड को घट द्रव्य कहा जाता है। वह द्रव्य रूप से विद्यमान है। जो द्रव्य है उसमें द्रव्य को अविद्यमान नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का कोई स्वरूप इन तीनों में नहीं है, जो इनमें से एक में हो और अन्य में न हो।

मूलम् :–न, अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासात्तद् भेदोपपत्ते :। तथाहि– नामद्रव्याभ्यां स्थापना तावदाकाराभिप्रायबुद्धिक्रिया, फलदर्शनाद् भिद्यते, यथाहि स्थापनेन्द्रे लोचन सहस्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च सद्भुतेन्द्राभिप्रायो द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्रबुद्धिः, भक्तिपरिणत-बुद्धीनां नमस्करणादि क्रिया, तत्फलं च पुत्रोत्पत्यादिकं संवीक्ष्यते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेद :।

अर्थः– आपका कथन युक्त नहीं, इस रूपसे विरुद्ध धर्मों का संबंध न होने पर भी अन्य रूपके द्वारा विरोधी

धर्मोंके साथ संबंध होने के कारण उनमें भेद हो सकता है। वह इस प्रकार - स्थापना तो आकार, अभिप्राय, बुद्धि, क्रिया और फल के दिखाई देने के कारण नाम और द्रव्यसे भिन्न है। स्थापना इन्द्र में जिस प्रकार हजार नेत्र आदि आकार और स्थापना करनेवाले का सत्य इन्द्र का अभिप्राय, और द्रष्टा को उस आकार के देखनेसे इन्द्र की बुद्धि उत्पन्न होती है और भक्ति में परिणत बुद्धि वाले लोग नमस्कार आदि क्रिया करते हैं, और उसका फल पुत्र जन्म आदि देखा जाता है इस प्रकार नामेन्द्र और द्रव्येन्द्र में नहीं इसलिए उन दोनोंसे उसका भेद है।

विवेचना—जिन अर्थों में परस्पर विरोधी धर्म रहते हैं उनमें यदि कोई समान धर्म भी रहते हैं तो उनके कारण विरोधी पदार्थों का भेद दूर नहीं होता। लोह भारी है और तेज भार से रहित है, लोह उष्ण नहीं है परन्तु तेज उष्ण है इस प्रकार दोनों भिन्न हैं। जब अग्नि लोह में प्रविष्ट हो जाता है तो अग्नि के समान लोह भी दाह उत्पन्न करता है। दाह को उत्पन्न करना दोनों का समान धर्म है फिर भी लोह और अग्नि एक नहीं हो जाते। दोनों में भेद रहता है। इसी प्रकार अग्नि के संयोग से जल भी जलाने लगता है परन्तु जल और तेज भिन्न रहते हैं। लोह और जल के साथ जिस प्रकार तेज का संबंध है इस प्रकार नाम का नामवान् पदार्थ, स्थापना, और द्रव्य के साथ संबन्ध होता है, परन्तु इस संबंध के कारण नाम आदि एक नहीं हो जाते। इनके स्वरूप

और इनके कार्य भिन्न हैं। जहाँ इन्द्र की स्थापना होती है उस काष्ठ में वा पत्थर में सहस्र नेत्र और हाथ आदि का आकार देखा जाता है। जो स्थापना करता है उसका अभिप्राय सत्य इन्द्र में होता है। स्थापना को देखकर इन्द्र का ज्ञान होता है, इन्द्र समझकर लोग प्रतिमा को प्रणाम करते हैं, भक्ति करनेवालों को उसके द्वारा धन पुत्र आदि का लाभ भी होता है। यह सब जो केवल नाम से इन्द्र है उसके द्वारा नहीं होता। इसी प्रकार जो कभी इन्द्र रह चुका है अथवा किसी आगामी काल में इन्द्र बनेगा उसके द्वारा भी ये फल नहीं प्राप्त होते। इन्द्र का आकार भी द्रव्य इन्द्र में नहीं होता। इस लिए उसको देखकर इन्द्र की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, इस लिए नाम और द्रव्य से स्थापना का भेद है।

केवल संबंध के कारण अथवा समान कार्य के कारण विलक्षण अर्थ भेदसे रहित नहीं हो सकते। जब अश्व पर पुरुष बैठता है तब दोनों का संयोग होता है। पर इतने से दोनों का भेद दूर नहीं हो जाता। रथ में घोडा जुतकर मनुष्य को एक स्कन्धसे दूसरे स्थान पर ले जाता है। कभी कभी मनुष्य भी रथ में जुतकर किसी किसी मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। परन्तु इस कारण घोडे और मनुष्य का भेद दूर नहीं हो जाता। नाम–स्थापना और द्रव्य की जातियाँ भिन्न हैं, उनका भेद केवल संबंध होने से दूर नहीं हो सकता। जो नाम से इन्द्र है और जो द्रव्य इन्द्र है, वे दोनों इन्द्र के विषय में ज्ञान उत्पन्न करते हैं, पर इस समानता में भी भेद है। द्रव्य इन्द्र को

देखकर बुद्धि होती है यह कभी इन्द्र बनेगा परन्तु नाम इन्द्र को देखकर इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती ।

मूलम्– द्रव्यमपि भावपरिणामिकारणत्वान्नामस्थापनाभ्यां-भिद्यते, यथा ह्यनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्त-त्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति । नामापि स्थापना-द्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यते इति ।

अर्थ—भाव का परिणामी कारण होने से द्रव्य, नाम और स्थापना से भिन्न है । जैसे उपयोग रहित वक्ता द्रव्य है, जब वह उपयोगवाला होता है तब उप-योग स्वरूप भाव का कारण होता है । अथवा जिस प्रकार भावेन्द्र रूप परिणाम का कारण होनेसे साधु का जीव द्रव्येन्द्र होता है । नाम-इन्द्र और स्थापना इन्द्र इस प्रकार भाव इन्द्र के परिणामी कारण नहीं बनते । जो विलक्षण धर्म पहले कहा है उसके कारण ही स्थापना और द्रव्य से नाम भी भिन्न है ।

विवेचना—वर्तमान काल में जो पर्याय है उनके साथ संबद्ध परिणामी कारण भाव कहा जाता है । भाव रूप में परिणत होने से परिणामी कारण को कार्यभाव का द्रव्य कहा जाता है । मिट्टी का पिंड भाव घट के रूप में परिणत होता है इस लिए

उसको द्रव्य घट कहते हैं। नाम घट का अथवा स्थापना घट का परिणाम भाव घट के रूप में नहीं हो सकता, इस कारण द्रव्य नाम और स्थापना से भिन्न है। इसी प्रकार साधुजीव का किसी काल में अर्थात् आगामी भव में भावेन्द्र के रूप में परिणाम हो सकता है, पर नाम–इन्द्र का और स्थापना–इन्द्र का भाव इन्द्र के रूप में परिणाम नहीं होता। इसी अभिप्राय के अनुसार वक्ता पुरुष को द्रव्य कहा जाता है। वक्ता का उपयोग किसी विषय में कभी होता है और कभी नहीं होता है। उपयोग आत्मा का धर्म है जब किसी एक विषय में उपयोग नहीं रहता तब अपेक्षा से आत्मा को उपयोग रहित कहा जाता है। कुछ काल के अनन्तर आत्मा विशेष विषय के उपयोग रूप में परिणत हो जाता है। इस उपयोग का कारण होने से उपयोग रहित आत्मा द्रव्य कहा जाता है।

स्थापना और द्रव्य के जो विलक्षण धर्म दिखाये हैं–वे नाम में नहीं हैं इस कारण नाम का स्थापना और द्रव्य से भेद है।

मूलम्–दुग्धतक्रादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवन्नामादीनां केनचिद्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम्।

अर्थ—दूध और तक्र आदि में श्वेत वर्ण आदि के द्वारा अभेद होने पर भी माधुर्य आदि के कारण जिस प्रकार

भेद होता है, इस प्रकार नाम आदिमें भी किसी रूपसे अभेद है और अन्य रूपसे भेद है—यह सिद्ध हुआ।

विवेचनाः—जो धर्म वस्तुओं को भिन्न करते हैं उनकी उपेक्षा कर के समान धर्म के बल पर यदि वस्तुओं में अभेद माना जाय तो प्रमाणों से सिद्ध वस्तुओं का भेद भी नहीं रह सकेगा। गौ, घोडा, ईंट, पत्थर नदी आदि अर्थ आंख से दिखाई देते हैं। दृश्यत्व इन सबका साधारण धर्म है, इसके द्वारा यदि इन सब को अभिन्न माना जाय तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ विरोध होगा। चेतन और अचेतन का भेद अनुभव सिद्ध है वह भी नहीं रह सकेगा। एक परिणामी द्रव्य के अनेक परिणाम होते हैं। उनमें द्रव्य की दृष्टि से अभेद होने पर भी पर्याय की अपेक्षा से भेद रहता है। तक्र दूध का परिणाम है अतः द्रव्य की अपेक्षा से तक्र और दूध में भेद नहीं है, पर पर्याय की अपेक्षा से इन दोनों में भेद है। तक्र दूध नहीं है और दूध तक्र नहीं है। दूध का रस मधुर है और तक्र का रस अम्ल है। नाम आदि का भी, संबंध आदि की अपेक्षा से अभेद समझा जा सकता है, पर उनके जो स्वरूप भिन्न हैं उनके कारण उनमें भेद है।

मूलम्—ननु भाव एव वस्तु, किं तदर्थशून्यैर्नामादिभिरिति चेत्।

अर्थ-शंका-भाव केवल वस्तु है, भाव के अर्थसे शून्य नाम आदि के द्वारा क्या लाभ है ?

विवेचनाः—कारणभूत द्रव्य जब किसी पर्याय से युक्त होता है तब उसके द्वारा कार्य किया जा सकता है। भावरूप अर्थ से जो कार्य सिद्ध होता है वह नाम, स्थापना अथवा द्रव्य से नहीं सिद्ध होता। मिट्टी का जब घट रूप में परिणाम होता है तभी पानी लाया जा सकता है। घट का नाम अथवा घट का चित्र अथवा घट का कारण मृत्पिंड पानी लाने का साधन नहीं बन सकता। इस लिए घट शब्द का वास्तव में वाच्य अर्थ मिट्टी का परिणाम स्वरूप भाव घट ही है, नाम आदि को घट शब्द का वाच्य मानने से कोई लाभ नहीं है। पानी का लाना आदि विशेष कार्य घट का है, वही यदि किसी अर्थ से नहीं सिद्ध होता तो उसको घट नाम से कहना उचित नहीं है। नाम केवल नाम है, वह नाम के द्वारा वाच्य वस्तु के समान स्वयं वस्तु नहीं हो सकता।

मूलम्—न, नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वेन सामान्यतो भाव-त्वानतिक्रमात्, अविशिष्टे इन्द्र वस्तुन्युच्चरिते नामादि भेदचतुष्टय परामर्शनात् प्रकरणादिनैव विशेषपर्यवसानात्।

अर्थ-उत्तर- नाम आदि भी वस्तु के पर्याय हैं, इस लिए सामान्य रूप से उनमें भी भावपन है। सामान्य रूप से इन्द्र शब्द का उच्चारण करने पर नाम आदि चार भेदों का ज्ञान होता है, प्रकरण आदि के द्वारा विशेष का ज्ञान अंत में हो जाता है।

विवेचना—केवल पर्याय ही कार्य को सिद्ध नहीं करता। नाम आदिसे भी कार्य सिद्ध होते हैं। घट पर्याय पानी लाने का साधन है और घट का नाम अन्य को घट के विषय में ज्ञान कराने का साधन है। बिना नाम के घट के विषय में लाने का ले जाने का अथवा रखने आदि का व्यवहार नही हो सकता। व्यवहार शब्द के अधीन है, शब्दरूप न होने के कारण भाव घट वाक्य के द्वारा व्यवहार का साधन नहीं हो सकता। स्थापना भी आकार का अनुभव कराती है। आकार का अनुभव कराना भी एक कार्य है। इस कारण स्थापना भी भाव है कारण, द्रव्य को देखकर उससे उत्पन्न होने वाले कार्यों का ज्ञान होता है। भावी कार्य के विषय में ज्ञान उत्पन्न करना यह भी एक कार्य है। सभी भाव एक प्रकार के कार्य को नहीं उत्पन्न करते। भाव घट के समान नाम घट आदि भी अपने अपने कार्यों के उत्पन्न करने वाले है, इसलिए वे भी वस्तु रूप है। सामान्य रूपसे किसी भी शब्द को सुनकर नाम आदि चारों का ज्ञान होता है। किस अवसर पर किसको लेना है यह निर्णय प्रकरण आदि के द्वारा होता है। भाव जिस प्रकार वस्तुका पर्याय है, नाम आदि भी इस प्रकार वस्तु के पर्याय हैं।

मूलम्—भावाङ्गत्वेनैव वा नामादीनामुपयोगः जिननामजिन-स्थापनापरिनिर्वृतमुनिदेहदर्शनाद्भावोल्लासानुभवात्। केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेऽनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति ऐकान्तिकात्यन्तिकस्य भावस्याभ्यर्हि-

तत्वमनुमन्यन्ते प्रवचनवृद्धाः । एतच्च भिन्नवस्तुगत-नामाद्यपेक्षयोक्तम् ।

अर्थ-अथवा भाव का साधन होने के कारण नाम आदि का उपयोग है, "जिन" के नामसे "जिन" की स्थापना से और जो मुनि निर्वाण को प्राप्त हो गया है उसके देह के देखनेसे भाव में उल्लास का अनुभव होता है इस लिए नाम आदि भाव के साधन हैं। नाम आदि तीनों भावके उल्लास में एकान्त रूपसे और आत्यन्तिक रूपसे कारण नहीं है केवल इस कारण प्रवचन के वृद्ध आचार्य भावको उत्कृष्ट मानते हैं। यह समाधान भिन्न वस्तुओंमें रहनेवाले नाम आदि की अपेक्षासे कहा है ।

विवेचना—सामान्य पुरुष में भी "जिन" नाम का संकेत होता है इस नाम को सुनकर भी श्रोता के मन में भाव जिनका स्मरण हो जाता है और अत्यन्त भक्ति प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार जिसके आकार से राग-द्वेष आदि का अभाव प्रकट होता है इस प्रकार की जिन प्रतिमा को देखकर भी भाव का उल्लास अनुभव से सिद्ध है। जिन प्रतिमा को देखकर 'कब मेरे राग द्वेष आदि शान्त होंगें और मैं इसके समान हो जाऊँगा' इस प्रकार की इच्छा हो जाती हैं। सम्यक् चारित्र के द्वारा जो मोक्ष को प्राप्त हुआ है, उस मुनि के प्राणहीन शरीर को देखकर भी भक्तिभाव उत्पन्न होता है। इस रीति से भाव की अभिव्यक्ति के साधन होनेसे नाम आदि

तीनों वस्तुरूप हैं। नाम आदि सभी भाव के साधन हैं पर भाव जिनेन्द्र को देखकर भक्ति का जितना उत्कर्ष प्रकट होता है उतना जिनेन्द्र का नाम सुनने पर अथवा जिनप्रतिमा के देखने पर नहीं होता। इसके अतिरिक्त नाम आदि भाव के उल्लास में कभी कारण बनते हैं और कभी नहीं बनते। भाव जिनेन्द्र भक्ति के अत्यंत उल्लास में नियत कारण है इसलिए प्राचीन आचार्य नाम आदि की अपेक्षा भाव का उत्कर्ष अधिक मानते हैं।

मूलम्—अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्, सर्वस्य वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात् कारणतायाश्च द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापन्नस्य च स्वस्य भावरूपत्वात्।

अर्थ—अभिन्न वस्तु में रहनेवाले नाम आदि तो भाव के साथ अविनाभाव होनेसे ही वस्तु रूप हैं। समस्त वस्तुओं का अपना अभिधान नाम रूप है, अपना आकार स्थापना स्वरूप है, वस्तु में रहनेवाला कारण भाव, द्रव्य स्वरूप है। कार्य रूप में परिणत अपना स्वरूप 'भाव' है।

विवेचना—भाव को वस्तुरूप मान लेने पर परिणामी कारण रूप द्रव्य के विषय में वस्तु होने की शंका नहीं रह सकती। भावके साथ द्रव्य एक वस्तु में है। मृत्पिंड घट के रूप में परिणत होता है

इसलिए यदि भाव घट वस्तु है तो मृत्पिंड रूप द्रव्यघट भी अवश्य वस्तु है। जो परिणामी कारण नहीं हैं उनमें भी नाम और स्थापना हो सकती है इसलिए नाम और स्थापनाके वस्तुरूप होनेमें शंकाका अवसर है। दरिद्र बालक नामेन्द्र है, काष्ठ अथवा पत्थर की प्रतिमा स्थापना इन्द्र है, इन दोनों का स्वर्ग के अधिपति भाव इन्द्र से बहुत भेद है इसलिए उनके वस्तु रूप होने में शंका हो सकती है। पर जब एक वस्तुमें नाम और स्थापना हों तब भावके समान अथवा द्रव्य के समान वस्तु स्वरूप होने में शंका नहीं हो सकती एक वस्तु का वाचक पद नाम है उसकी आकृति स्थापना है उत्तर काल में प्रकट होने वाले पर्यायों का उत्पन्न करनेवाला स्वरूप द्रव्य है। कार्य रूपसे अभिव्यक्त स्वरूप भाव है।

उदाहरण के लिए घट को लीजिए। घट अर्थका वाचक घट पद नाम है। घट का आकार स्थापना है, उत्तरवर्ती पर्यायों के उत्पन्न करने की शक्ति द्रव्य घट है, घट रूपसे अभिव्यक्ति भाव घट है, यहाँ पर भाव स्वरूप घट जिस प्रकार वस्तुरूप है, इस प्रकार भावी क्षणों में होने वाले पर्यायों की उत्पादक शक्ति घटसे भिन्न अभिन्न होने के कारण वस्तु रूप है। यह शक्ति वर्तमान घट में प्रतीत हो रही है—इसलिए वस्तु है, आकार भी घट में प्रतीत हो रहा है उसका भी घट के साथ अभेद है—अतः वह भी वस्तु रूप है, वर्णात्मक घट पद भी घट अर्थ के साथ प्रतीत होता है—अतः वह भी वस्तु है। घट अर्थ जिस प्रकार घट कहा जाता है

इस प्रकार घट पद भी घट कहा जाता है। घट लाया जा सकता है और ले जाया जा सकता है, घट पद बोला जा सकता है, लाने और ले जाने के समान बोला जाना भी व्यवहार है। भाव घट के समान घट पद भी व्यवहार का विषय है—इसलिए वस्तु है।

मूलम्—यदि च घटनाम घटधर्मो न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात् तस्य स्वापृथग्भूत सम्बन्धनिमित्तकत्वादिति सर्वं नामात्मकमेष्टव्यम्।

अर्थ—और यदि घटनाम घट का धर्म न हो तो घट नाम से घट की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, घट पद से घटरूप अर्थ के ज्ञान का निमित्त सम्बन्ध है और वह सबन्ध स्वसे अर्थात् घट रूप वाच्य अर्थ और घटपद रूप वाचक से पृथक् नहीं है इस लिए समस्त वस्तु नामात्मक माननी चाहिये।

विवेचना—वस्तु का नाम वस्तु के ज्ञान में निमित्त कारण है। घट के रूप आदि गुण घट के ज्ञान में कारण हैं। घट के रूप आदि पट के धर्म नहीं है इसलिए उनके द्वारा पट का ज्ञान नहीं होता। घट के ज्ञान में कारण होनेसे घटनाम भी रूप आदि के समान घट का धर्म है। धर्म और धर्मी का अभेद भी होता है इस लिए घट और घटनाम का अभेद भी मानना चाहिए। समस्त वस्तुओं का ज्ञान उनके वाचक पदों से होता है इस लिए समस्त वस्तुओं को नामात्मक समझना चाहिए। घट वस्तु है इस लिए उससे अलग न रहनेवाला घटनाम भी वस्तु है।

जब नाम–स्थापना और द्रव्य भिन्न भिन्न वस्तुओं में होते हैं, तब उनका स्वरूप भाव का साधन होता है इस अपेक्षा से नाम आदि का वस्तु रूप में प्रतिपादन इस रीति से किया है।

मूलम्–साकारं च सर्वं मति–शब्द–घटादीनामाकारवत्त्वात्, नीलाकारसंस्थानविशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात्।

अर्थः– समस्त पदार्थ आकार से युक्त हैं, बुद्धि-शब्द और घट आदि अर्थ आकार वाले हैं, नील आदि और आकृति विशेष आदि आकार अनुभव से सिद्ध हैं।

विवेचना– बुद्धि जब विषय को प्रकाशित करती है तब विषय का जो आकार होता है उस आकार में स्वयं भी हो जाती है। सूर्य आदि का प्रकाश जब वृक्ष आदि को प्रकाशित करता है तब वृक्ष के आकार में हो जाता है। बुद्धि भी सूर्य आदि के प्रकाश के समान वृक्ष आदि की प्रकाशक है। वह भी वृक्ष आदि के आकार को धारण करती है। ज्ञाता को जिस प्रकार बाह्य वृक्ष आदि में आकार प्रतीत होता है। इसी प्रकार ज्ञान में भी वृक्ष आदि का आकार प्रतीत होता है। यह ज्ञान वृक्ष का है और मेघ आदि का नहीं है, यह व्यवस्था भी बिना आकार के नहीं हो सकती। यदि वृक्ष के ज्ञान में वृक्ष का आकार प्रतीत न हो, तो यह ज्ञान वृक्ष का है, मेघ आदि का नहीं– इस प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती। आकार विषय की व्यवस्था का नियामक है। बाह्य घट आदि वस्तु का आकार प्रत्यक्ष से सिद्ध है। शब्द

पुद्गल का परिणाम है। इसलिए वह भी आकार से युक्त है। आकार से युक्त वर्ण जब क्रम से रहते हैं तब उनका आकार विशेष नाम से कहा जाता है। पहले घ्. पीछे अ. फिर— ट्. उसके अनन्तर अ का उच्चारण जब क्रम के साथ होता है। तो 'घट' पद का एक आकार प्रकट होता है। पट आदि शब्दों में वर्णों का क्रम अन्य रीति से है इसलिए पट आदि शब्दों का आकार घट पद के आकार से भिन्न है। वाच्य अर्थों के समान वाचक शब्दों का भी आकार है। अर्थों का आकार बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय है और पदों का आकार श्रोत्र का विषय है इतना भेद है वस्तु और आकार में अत्यन्त भेद नहीं है—इसलिए वृक्ष आदि के समान आकार भी वस्तुरूप है।

मूलम्—द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फणविफणकुंडलिताकारसमन्वितसर्पवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्वदानुभवात्।

अर्थः— सब पदार्थ द्रव्यात्मक है, ऊँची फणावाले और फणा से रहित और कुंडली आकार से युक्त सर्प के समान विकार से रहित अविर्भाव और तिरोभावरूप केवल परिणाम से युक्त द्रव्य का ही समस्त देश और काल में अनुभव होता है।

विवेचना— अर्थों में विकार प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं कुछ विकारों का आकार बहुत भिन्न होता है। जहाँ आकार बहुत अधिक भिन्न होता है वहाँ विकार स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। मिट्टी का पिंड जब घट बन जाता है तब पिंड का जो

आकार है उससे घट के आकार का भेद देखते ही प्रतीत हो जाता है। दूध जब दही के रूप में परिणत होता है तब दूध और दही का आकार में कुछ भेद होता है, पर उतना नहीं जितना मिट्टी के पिंड और घट का होता है। दूध की गोलाई जितनी होती है उतनी दही की भी होती है। दूध के समान दही भी वर्ण में श्वेत होता है। पर दूध द्रव रहता है और दही जमकर घन हो जाता है इतना भेद प्रकट होता है। इस प्रकार के विकारों में एकबार विकार उत्पन्न होने पर फिर विकार से रहित दशा का आकार स्पष्ट नहीं दिखाई देता। दही बन जाने पर फिर दूध का आकार नहीं बनता।

बीज और अंकुर में कारण और कार्य के आकारों में जो भेद है वह दूध दही आदि की अपेक्षा भी अत्यन्त अधिक है। वट वृक्ष के बीज का आकार अत्यंत छोटा है। उसको एक चींटी (कीडी) भी उठाकर इधर से उधर दूर तक ले जा सकती है। जब वह वृक्ष बडा होकर शाखा प्रशाखाओं के साथ फैल जाता है तब उसको हाथी भी नहीं उखाड सकते। शाखाओं के लम्बे और ऊँचे आकार के साथ बीज के अत्यन्त लघु आकार का भेद बहुत स्पष्ट है। इस प्रकार के समस्त विकारों में आकार का भेद रहता हैं परन्तु एक अनुगत आकार सदा रहता है यह अनुगत रूप द्रव्य का है। जब द्रव्य कभी विकार में भिन्न आकार को धारण कर के फिर मूल आकार में दिखाई देता है तो द्रव्य का अनुगत स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सर्प जब फण ऊँचा कर के खडा होता है उससे

फण रहित दशा का आकार भिन्न होता है। जब वही सर्प कुंडल के समान गोल हो जाता है तब जो आकार है वह फण के नीचे और ऊँचे होने की दशा से भिन्न होता है। इन समस्त दशाओं में सर्प का अनुगत आकर स्पष्ट प्रतीत होता है। एक ही सर्प कभी फण ऊँचा करता है और कभी नीचा। वही सर्प कभी गोल हो जाता है और कभी लम्बा। एक हीं सर्प के भिन्न भिन्न आकार मूल रूप के साथ बार बार दिखाई देते हैं, इसलिए अनुगत और जो अनुगत नहीं है इस प्रकार के दोनों रूप प्रत्यक्ष होते हैं। अनुगत रूप द्रव्य है।

अनुगामी अर्थ में भिन्न आकार के पर्यायों को प्रकट करने की जो शक्ति है वह भी द्रव्य कही जाती है। कारणभूत द्रव्य प्रत्यक्ष है और उसकी पर्यायों के उत्पन्न करने की शक्ति प्रत्यक्ष नहीं है, उसका पर्यायों से अनुमान होता है। जब पर्याय समान आकार के होते हैं तब उनका अनेक दशाओं में प्रत्यक्ष कठिन हो जाता है जब अर्थ अन्य अर्थ के रूप में परिणत नहीं होता किन्तु परिणाम को प्राप्त करता है तब पर्यायों के आकार का भेद कुछ दशाओं में प्रत्यक्ष नहीं होता। आजकल यन्त्रों के द्वारा पैसा आदि जो उत्पन्न होते हैं उनका आकार अत्यन्त समान होता है। यदि उनको भिन्न स्थान में रक्खा हुआ न देखा जाय तो यह पैसा भिन्न है और दूसरा भिन्न है यह नहीं प्रतीत होता। एक ही स्थान पर एक पैसे को हटाकर उसके स्थान पर दूसरा पैसा रख दिया जाय तो केवल देखने से पहले और दूसरे पैसे का भेद स्पष्ट नहीं

दिखाई देता। जब एक स्थान पर एक द्रव्य में समान आकार के पर्याय निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं, भिन्न आकार के अर्थ के रूप में परिणाम नहीं होता, तब भ्रम हो जाता है । एक द्रव्य स्थिर रूप प्रतीत होने लगता है। पर्यायों के उत्पत्ति और नाश नहीं दिखाई देते।

जब दीप प्रकाश करता है तब उसकी ज्वाला प्रति क्षण उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है। तेज अनुगत रूप में स्थिर रहता है। देखने वाले को 'तेज' द्रव्य घण्टों तक एक स्थिर प्रतीत होता है। प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाली ज्वालाओं का भेद स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देता। यह ज्वाला पहले क्षण की है यह दूसरे क्षण की हैं इस रूप से ज्वालाओं का भेद नहीं दिखाई देता यहाँ पर अनुमान के द्वारा ज्वालाओं का भेद प्रतीत होता है। जब तक तेल रहता है तब तक दीप जलता रहता है निरंतर तेल के न्यून होते रहने से अनुमान होता हैं। प्रथम क्षण के तेल से प्रथम ज्वाला उत्पन्न हुई थी दूसरे क्षणों के तेल से अन्य ज्वालायें उत्पन्न होती हैं।

इस दीप के दृष्टांत से सिद्ध है जब एक द्रव्यरूप अधिकरण में समान आकार के पर्याय उत्पन्न होते हैं तब पर्यायों का भेद नहीं प्रतीत होता किन्तु केवल अनुगामी द्रव्य प्रतीत होता है। दीप के समान समस्त अर्थ पुद्गल के परिणाम हैं। जब उनमें अन्य हेतुओं से भिन्न आकार को धारण करने वाले परिणाम नहीं उत्पन्न होते तब भी समान आकार के परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। इन स-

मान आकार के प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले पर्यायों के उत्पन्न करने की शक्ति अनुगामी द्रव्य में रहती है। यह शक्ति प्रत्येक द्रव्य में है। शक्ति और शक्तिमान का अभेद है इस लिए शक्ति भी द्रव्य कही जाती है। यह शक्ति रूप द्रव्य प्रत्येक वस्तु में है। एक स्थान पर पड़ा हुआ घट अथवा लोह भी प्रतिक्षण नये नये पर्यायों को उत्पन्न करता हैं। एक ही घट जिस प्रकार नामरूप और स्थापन रूप है इस प्रकार शक्तिरूप होने से द्रव्यरूप भी है। अतः द्रव्य के वस्तु होने में शंका नहीं हो सकती।

मूलम्— भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्मकस्यैव तस्यानुभवादिति चतुष्टयात्मकं जगदिति नामादिनयसमुदयवादः।

अर्थ-समस्त वस्तुभावात्मक है अर्थात् पर्यायरूप है. प्रत्येक क्षण में होनेवाले पर अपर कार्योंकी परम्परा के रूप में अर्थ का अनुभव होता है इस कारण समस्त जगत नाम-स्थापना-द्रव्य-और भाव इन चारों के स्वरूप में है। यह नाम आदि नयों का समुदयवाद है।

विवेचना—जब भी अर्थ का अनुभव होता है तब किसी एक पर्याय के रूप में होता है। प्रत्येक अर्थ में नाम, आकार, द्रव्य और पर्याय है। प्रत्येक अथ में केवल नाम, केवल आकार, केवल द्रव्य अथवा केवल पर्याय, कहीं भी नहीं है। घट को जब देखते हैं तब आकार, अनुगामी द्रव्य, और भाव एक काल में दिखाई देते हैं, द्रव्य पर्यायों के बिना और पर्याय द्रव्य के बिना जस प्रकार नहीं प्रतीत होते। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय आकार

के बिना भी नहीं प्रतीत होते। नाम की प्रतीति तब स्पष्ट रूपसे होती है जब नाम का उच्चारण किया जाता है। उच्चारण न होने पर भी वस्तु को देखकर नाम का स्मरण अवश्य होता है। चक्षु से स्थापना—द्रव्य और भाव का प्रत्यक्ष जिस प्रकार होता है इस प्रकार नाम का प्रत्यक्ष यद्यपि नहीं होता तो भी नाम का स्मरण अवश्य होता है। किसी भी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष हो, नामका संबंध अवश्य रहता है। अर्थ से सर्वथा दूर रहकर नाम का अनुभव नहीं होता। अर्थ और ज्ञान जिस शब्द के द्वारा कहे जाते हैं, उसी शब्दसे नाम भी कहा जाता है। अर्थ को घट कहते हैं, उसके ज्ञान को घट का ज्ञान कहते हैं। नाम को भी घट कहते हैं। इस प्रकार सब का आकार समान है। समस्त अर्थ नाम आदि के रूपमें हैं—इसलिए नाम, स्थापना, द्रव्य भी भाव के समान वस्तु हैं, यह नाम आदि का समुदायवाद है। नाम आदि-चार निक्षेप हैं इनके माननेवाले नयों का निक्षेप के वाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादन कर के नामनय आदि का प्रयोग किया गया है, नामको मानने वाला नय नामनय, स्थापना को माननेवाला स्थापनानय कहा गया है। द्रव्यनय और भावनय शब्द का प्रयोग भी इसी रीतिसे है।

जो भी वस्तु है। वह सब नाम आदि चारों के रूपमें है। आकाश के पुष्प आदि जो सर्वथा असत् हैं उनमें नाम आदि चारों का स्वरूप नहीं प्रतीत होता, अतः समस्त वस्तु नाम आदि चार पर्यायोंसे युक्त है।

[निक्षेपों का नयों के साथ योग]

मूलम्–अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते। तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाभिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव। आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारौ, नैगमस्य यथाक्रमं सामान्यग्राहिणो विशेषग्राहिणश्च अनयोरेवान्तर्भावात्। ऋजुसूत्रादयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्य सिद्धसेन मतानुसारेणाभिहितं। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण पूज्यपादैः–

"नामाइतियं दव्वट्ठियस्य भावो अ पज्जवणयस्स।
संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स॥"

इत्यादिना विशेषावश्यके।

अर्थ–अब नाम आदि निक्षेपों की नयों के साथ योजना की जाती है। द्रव्यास्तिक नय, चार निक्षेपोंमेंसे नाम स्थापना और द्रव्य निक्षेप इन तीनों को स्वीकार करता है। पर्यायास्तिक नय केवल भाव को स्वीकार करता है। प्रथम द्रव्यास्तिक के दो भेद हैं–संग्रह और व्यवहार। सामान्यग्राही नैगम का क्रमसे संग्रहनय में और विशेषग्राही नैगम का व्यवहार नय में अन्तर्भाव होता है। ऋजुसूत्र आदि चार द्वितीय पर्यायास्तिक के भेद हैं यह वस्तु आचार्य सिद्धसेन के मत के अनुसार। पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजीने विशेषावश्यक में कही है–विशेषावश्यक की गाथा इस प्रकार है–

द्रव्यार्थिक नय को नाम आदि तीन अभिमत हैं और पर्यायास्तिक को केवल भाव अभिमत है। संग्रह और

व्यवहार द्रव्यार्थिक के भेद हैं और शेष पर्यायार्थिक के भेद हैं।

विवेचना—स्वयं स्थिर रहकर अतीत अनागत और वर्तमान पर्यायों में जो जाता है—वह द्रव्य है। 'द्रवति इति द्रव्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पर्यायों में अनुगत और स्थिर द्रव्य की प्रतीति होती है। इस द्रव्य को जो प्रधान रूपसे स्वीकार करता वह नय द्रव्यास्तिक। संग्रह और व्यवहार नय द्रव्यास्तिक के मत का आश्रय करते हैं। संग्रह सामान्य धर्म के द्वारा सब का संग्रह करता है। संग्रय नय के अनुसार सभो पदार्थ सत् स्वरूप हैं। सत् रूपसे समस्त चेतन और अचेतन अर्थों की प्रतीति होती है। इन पदार्थों में परस्पर जो भेद है, वह अन्य को अपेक्षासे प्रतीत होता है अतः वह मुख्य नहीं हैं। सत् स्वरूप की प्रतीतिमें अन्य की अपेक्षा नहीं हैं, अतः वह मुख्य है। सत् स्वरूप की अपेक्षासे सब एक हैं। अनुगामी स्वरूप द्रव्य का असाधारण तत्त्व है, अनुगामो सत्ता के कारण सब को संग्रह कर के सत् रूप से चेतन और अचेतन को एक कहनेवाला संग्रह सत्ता के रूप में द्रव्य का प्रतिपादक है, इसलिए वह द्रव्यास्तिक का भेद कहा जाता है।

व्यवहार नय भेद का प्रतिपादन करता है। वह जिन भेदों का प्रतिपादन करता है उनमें भी द्रव्य का स्वरूप स्थिर रहता है। पर्याय का आश्रय व्यवहार करता है। पर्याय द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। व्यवहार नय के अनुसार सत् रूप वस्तु के भेद हैं द्रव्य आदि। द्रव्य के भेद हैं जोव आदि। जीव अपने गुण और पर्यायों में अनुगत है। पुद्गल अपने गुण और पर्यायों में अनु-

गामी रूपसे विद्यमान है। चेतन अचेतन द्रव्यों को स्वीकार करने के कारण व्यवहार नय भी द्रव्यार्थिक का भेद है। संग्रह और व्यवहार दोनों द्रव्य का आश्रय लेते हैं। संग्रह सत् रूप द्रव्य का आश्रय लेकर भिन्न अर्थों में प्रधान रूपसे अभेद का प्रतिपादन करता है। व्यवहार द्रव्यों के भेद का निरूपण करता है—यह दोनों का भेद है।

नैगम भी एक नय है पर वह आचार्य सिद्धसेन के मत के अनुसार संग्रह और व्यवहार से भिन्न नहीं है। नैगम दो प्रकार का है—एक सामान्य का बोधक है और दूसरा विशेष का। जो सामान्य का प्रतिपादक नैगम है उसका संग्रह में और जो विशेष का प्रतिपादक है उसका व्यवहार में अन्तर्भाव हो जाता है। नैगम नय गौण—मुख्य भावसे गुण और गुणी के भेद और अभेद का निरूपण करता है। गुणों का आश्रय द्रव्य है उसका प्रधान और अप्रधान भावसे निरूपण गुणोंके बिना नहीं हो सकता, अतः वह भी द्रव्यार्थिकका भेद है।

ऋजुसूत्र वर्तमान काल में रहनेवाली वस्तु का निरूपण करता है, अतीत और अनागत पर्यायोंसे अलग कर के निरूपण करने के कारण उसमें अनुगामी स्वरूप की प्रधानता नहीं है अतः उसको आचार्य सिद्धसेन पर्याय नय का भेद स्वीकार करते हैं। इस मत को मानकर पूज्य जिनभद्रगणि महाराजने विशेषावश्यक में ऋजुसूत्र को पर्यायास्तिकके भेद—रूप में कहा है। द्रव्य जिस प्रकार वर्तमान पर्याय के साथ रहता है इस प्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के साथ

भी रहता है। केवल वर्तमान पर्याय के साथ मुख्य रूप से संबंध होने के कारण ऋजुसूत्र का अनुगामी द्रव्य के साथ नहीं, किन्तु अननुगामी पर्याय के साथ संबंध है—यह वादी सिद्धसेन दिवाकर के अनुगामियों का अभिप्राय है। इस मतके अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य, इन तीन निक्षेपों का संबंध द्रव्यास्तिक के साथ है, पर्यायास्तिक के साथ नहीं। पर्यायास्तिक नय का संबंध केवल भाव निक्षेप के साथ है।

मूलम्—स्वमते तु नमस्कारनिक्षेप विचारस्थले "भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणि क्खेवे" [२८४७] इति वचसा त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रादयस्तु चत्वारश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम्।

अर्थः—अपने मतमें तो जहाँ पर नमस्कार के निक्षेप का विचार किया है वहाँ शब्द नय भाव निक्षेप को ही मानते हैं और शेष नय सब निक्षेपों को मानते हैं इस वचन के द्वारा शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत ये तीनों नय केवल भाव को और ऋजुसूत्र आदि चार नय अशुद्ध होने से चारों निक्षेपों को स्वीकार करते हैं— यह कहा है।

विवेचना—किसी पद के द्वारा व्युत्पत्ति के बलसे जो अर्थ प्रतीत होता है उसके वाचक शब्द के विषय में सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये तीनों शब्दनय प्रधानरूपसे विचार करते हैं। घटन

क्रिया में समर्थ घट ही घट है इस वस्तु के साथ शब्द नयों का संबंध है। जल का लाना घटन क्रिया है, जल का लाना एक पर्याय है वह अनुगामी द्रव्य नहीं है इस पर्याय विशेष के साथ मुख्य रूपसे संबंध रखने के कारण शब्द—नय भाव—बोधक कहे जाते हैं। जल लाने में समर्थ घट भाव-घट है, वह जिस प्रकार नामघट अथवा स्थापनाघट नहीं है, इसी प्रकार द्रव्य घट भी नहीं है। भाव घट का कारण है मृत्पिंड। उसके साथ शब्दनयों का संबंध नहीं है। मिट्टी के पिंडसे पानी नहीं लाया जा सकता। अपने आकार में जब घट बन जाता है तभी पानी लाया जा सकता है। शब्दनयों के अनुसार द्रव्य घट को घट नहीं कहा जा सकता।

शब्द और अर्थ के वाच्य—वाचक भाव के साथ ऋजुसूत्र का संबंध नहीं है, वह वर्तमान काल के साथ संबंध रखनेवाले अर्थको स्वीकार करता है। वर्तमान काल का पर्याय अतीत और अनागत में नहीं है—इसलिए द्रव्य के अनुगामी स्वरूप के साथ यद्यपि ऋजुसूत्र का सीधा संबंध नहीं है परंतु गौण रूपसे संबन्ध अवश्य है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय के आधारभूत द्रव्य की एकता का निषेध नहीं करता। भाव—घट बिना द्रव्य के प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। भाव घट में भी उत्तरवर्ती क्षणों में घट के उत्पन्न करने की शक्ति है। इस अपेक्षासे वह भी द्रव्य घट है। इस स्वरूप के द्रव्य घट का निषेध ऋजुसूत्र नहीं कर सकता। अतः विशेषावश्यक के कर्ता अपने मत में ऋजुसूत्र को भी नैगम आदि के समान द्रव्यार्थिक का भेद मानते हैं और ऋजुसूत्र के अनुसार द्रव्य निक्षेप कोभी स्वीकार करते हैं।

मूलम्–ऋजुसूत्रो नामभावनिक्षेपावेवेच्छतीत्यन्ये, तत्र(तन्न); ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य सूत्राभिहितत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात्। तथा च सूत्रम्–"उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ त्ति"। [अनुयो. सू.१४]

अर्थः–ऋजुसूत्र-नाम और भाव इन दो निक्षेपों को ही मानता है इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं। यह मत युक्त नहीं, ऋजुसूत्र द्रव्य को मानता है यह सूत्र में प्रतिपादित है। यह नय पृथक्त्व अर्थात् अनेकता को स्वीकार करता है इसी वस्तु का निषेध है। सूत्र इस प्रकार है — ऋजुसूत्र नयके मतसे एक उपयोग रहित पुरुष आगमतः एक द्रव्यावश्यक है यह नय अनेकता को नहीं मानता।

विवेचना–आगम में द्रव्य निक्षेप के दो प्रकार के भेद प्रतिपादित हैं। एक आगमसे द्रव्य है और दूसरा नोआगमसे द्रव्य है। पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं, पदार्थज्ञान का अभाव, नो–आगम कहा जाता है। जो घट शब्द का उच्चारण करता है परन्तु घट के विषय में उपयोग से अर्थात् घट विषयक अवधान से शून्य है, वह पुरुष आगम से द्रव्य घट है। नो आगम से द्रव्यघट तीन प्रकार का है–ज्ञाताका शरीर, भावी शरीर, और इन दोनों से भिन्न मिट्टी रूप घट। घट का कारण होनेसे जिस प्रकार मिट्टी का पिंड द्रव्य घट है इसी प्रकार घटके विषय में ज्ञान रहित पुरुष भी पीछे घट विषय का ज्ञाता हो जाता है इस लिए उपयोग रहित पुरुष आगमसे द्रव्य घट है। घट के ज्ञाता का शरीर शिला पर पडा

हुआ पूर्व काल में ज्ञानयुक्त आत्मा के साथ संबद्ध था,, इसलिए इस काल में ज्ञाता का शरीर द्रव्य घट कहा जाता है। जिस शरीर के द्वारा अभी घट को नहीं जानता है किन्तु अन्य काल में इसी शरीरसे जानेगा वह भावीशरीररूप द्रव्य घट है। द्रव्य निक्षेप के इन भेदों में अतीत और भावी शरीर को अथवा भावी कार्य के कारण को द्रव्य कहा गया है। अनुयोग द्वार में ऋजुसूत्र के अनुसार आवश्यक के विषय में उपयोग रहित पुरुष को द्रव्य आवश्यक कहा है। अनुयोगद्वार सूत्रके अनुसार ऋजुसूत्रनयके मतमें द्रव्य आवश्यक एक है, वह अनेक द्रव्य आवश्यकों को नहीं मानता। जो लोग ऋजुसूत्र के अनुसार द्रव्य निक्षेप को नहीं स्वीकार करते उनका अनुयोग द्वार के इस सूत्रके साथ विरोध है।

कार्यरूप भाव को ऋजुसूत्र स्वीकार करता हैं इस विषय में स$_{ङ}$ का मत एक है। कार्य घट में भी जो वर्तमान पर्याय है वह उत्तर क्षण के पर्यायों के उत्पन्न करने में कारण है। कारण होनेसे भाव घट भी द्रव्य घट है। ऋजुसूत्र वर्तमान कालके साथ संबद्ध भाव का प्रतिपादन मुख्यरूप से करता है जो। भाव घट वर्तमान है उसमें उत्तर क्षण के घट को उत्पन्न करने की योग्यता है। यह योग्यता कारणता रूप है और इस लिए द्रव्य रूप है। भाव का कार्य स्वरूप ही वर्तमान काल में नहीं है, किन्तु योग्यतारूप कारणता भी वर्तमान काल में है। इसलिए ऋजुसूत्र नय के अनुसार द्रव्य का निक्षेप उचित है। ऋजुसूत्र और द्रव्यनिक्षेप के परस्पर संबंध का प्रतिपादन करनेवालों का यह अभिप्राय है।

मूलम्–कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णादिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादि – पर्यायलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युपगच्छन् विशिष्टेन्द्राद्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्थापनां नेच्छेत् ?, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति।

अर्थः–यह ऋजुसूत्र नय पिण्ड अवस्था में आकारसे रहित सुवर्ण आदि द्रव्य को भावी कुण्डल आदि पर्यायरूप भाव का कारण होनेसे स्वीकार करता है तो इन्द्र पद के उच्चारण में कारण और आकार से युक्त इन्द्र आदि की स्थापना क्यों नहीं मानेगा ? जो अनुभव से युक्त है वह अयुक्त नहीं होता।

विवेचना–ऋजुसूत्र के मत में द्रव्य निक्षेप के सिद्ध हो जाने पर स्थापनाका स्वीकार भी आवश्यक हो जाता है। पिण्ड अवस्था में सुवर्ण–कुण्डल आदि पर्यायों के आकार से रहित होता है। कुण्डल पर्यायरूप भाव का कारण होने से सुवर्ण के पिण्ड को यदि ऋजुसूत्र द्रव्य कुण्डल आदिके रूपमें मान सकता है तो स्थापना के मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सुवर्ण का पिण्ड देखकर उसके लिए कुण्डल आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता। परन्तु इन्द्र की प्रतिमा को देखकर इन्द्र शब्द का प्रयोग होता है। सुवर्ण के पिंड में कुण्डल आदि का आकार नहीं है परन्तु प्रतिमा में इन्द्र का आकार है। भाव इन्द्र का जिस प्रकार वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध है इस प्रकार स्थापना इन्द्र का भी अर्थात् इन्द्र की प्रतिमा का भी वर्तमान काल के साथ संबंध है। यह वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है अतः ऋजुसूत्र के मत में स्थापना का मानना युक्त है।

मूलम्–किञ्च, इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं तदर्थरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारणत्वाविशेषात् कुतो नाम द्रव्यस्थापनेनेच्छेत् ?। प्रत्युत सुतरां तदभ्युपगमो न्याय्यः। इन्द्रमूर्तिलक्षणद्रव्य–विशिष्ट तदाकाररूपस्थापनयोरिन्द्रपर्यायरूपे भावे तादात्म्यसंबन्धेनावस्थितत्वात्तत्र वाच्य–वाचकभाव सम्बन्धेन संबद्धान्नाम्नोऽपेक्षया सन्निहिततरकारणत्वात्।

अर्थः-और भी, यह ऋजुसूत्र केवल इन्द्र आदि संज्ञा रूप नाम को अथवा इन्द्र आदि के अर्थ से रहित इन्द्र आदि शब्द के द्वारा वाच्य वस्तु रूप नाम को मानता है तो भाव का कारण होनेमें कोइ भेद न होनेसे द्रव्य और स्थापना को क्यों नहीं मानेगा ? उलटा उसका मानना अधिक उचित है। इन्द्र मूर्तिरूप द्रव्य और इन्द्रका विशिष्ट आकार रूप स्थापना ये दोनों इन्द्र पर्याय रूप भावमें तादात्म्य संबंधसे रहते हैं, पर नाम वाच्य-वाचक संबंध से रहता है, इस लिए नामकी अपेक्षा द्रव्य और स्थापना भावके अधिक निकट कारण हैं।

विवेचना–ऋजुसूत्र नामको स्वीकार करता है यह आप भी मानते हैं। नाम दो प्रकारका हो सकता हैं केवल इन्द्र आदि संज्ञा रूप अथवा इन्द्र के मुख्य अर्थसे रहित पर इन्द्र शब्द से वाच्य गोपाल का बालक आदि वस्तुरूप है। ये दोनों प्रकार के नाम भावके कारण हैं इस लिए इनको ऋजुसूत्र स्वीकार करता है।

नाम निक्षेप के मानने का कारण द्रव्य और स्थापना में भी विद्यमान है इतना ही नहीं, नाम की अपेक्षा द्रव्य और स्थापना इन्द्र पर्याय रूप भावमें अधिक निकटवर्ती हेतु हैं। इन्द्र की मूर्ति द्रव्य है और उसका विशिष्ट आकार स्थापना है। ये दोनों इन्द्र पर्याय रूप भावमें अभेद से विद्यमान हैं। इन्द्र की मूर्ति और उसका विशिष्ट आकार दोनों भाव इन्द्र से अलग होकर नहीं दिखाई देते, परन्तु नाम भावइन्द्र से अलग होकर प्रतीत होता है। नामका भावके साथ सम्बन्ध वाच्य–वाचकभावरूप है। द्रव्य और आकार के समान नाम सर्वथा भावके स्वरूपमें नहीं प्रतीत होता, इस लिए नामकी अपेक्षा अधिक निकट होने से ऋजुसूत्र द्रव्य और स्थापना को स्वीकार करता है।

मूलम्–संग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जां स्त्रीन्निक्षेपानिच्छत इति केचित्;

अर्थः–संग्रह और व्यवहार स्थापना को छोड़कर अन्य तीन निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं– यह कुछ लोगों का मत है;

विवेचना–संग्रह के अनुसार स्थापना को न माननेवाले नाम निक्षेप के द्वारा स्थापना का संग्रह कर लेते हैं। उनका अभिप्राय इस प्रकार है—

भिन्न अर्थोंको साधारण धर्मके द्वारा संग्रह एक कर देता है। नाम निक्षेपका स्वरूप इस प्रकारका है–जिसके द्वारा स्थापना भी नाम नक्षेपके अन्दर चली जाती है। एक नाम वर्ण रूप है, और दूसरा

नाम इन्द्र पदके संकेत का विषय रूप है। जिस प्रकार स्वर्ग के अधिपति भावइन्द्र से भिन्न होने पर भी संकेत के कारण इन्द्रपद गोपाल के बालक का भी बोधक हो जाता है, इस प्रकार संकेतके कारण स्थापना इन्द्र का भी बोधक हो जाता है। इन्द्र नाम से प्रतीत होने के कारण स्थापना भी नामके अन्तर्गत है। यद्यपि इन्द्र द्वारा भाव इन्द्रका भी ज्ञान होता है, परन्तु इस कारण भाव और नाम का ऐक्य नहीं हो सकता। भाव इन्द्र का बोध इन्द्र पद मुख्य वृत्तिसे कराता है। स्वर्गका अधिपति ऐश्वर्य से युक्त है इस लिए उसमें इन्द्र पदका संकेत अर्थके अनुसार है, परन्तु गोपाल के बालकमें इन्द्र पदका संकेत अर्थके अनुसार नहीं है। गोपाल का बालक स्वर्ग पर शासन नहीं करता, इस लिए वह वस्तुतः इन्द्र नहीं है। माता—पिता के द्वारा संकेत कर देने के कारण वह इन्द्र कहा जाता है अतः नाम के द्वारा भावका संग्रह नहीं हो सकता। अर्थके विना केवल संकेत से इन्द्र पद जिस प्रकार गोपालके बालक का बोध कराता है इस प्रकार स्वर्ग पर शासनरूप अर्थके विना इन्द्र प्रतिमा का बोध भी इन्द्र पद कराता है, इस लिए नाममें स्थापना का अन्तर्भाव हो सकता है।

व्यवहार नयके मतमें स्थापना निक्षेप नहीं है, इस मतके मानने वाले भी लोकमें प्रचलित व्यवहार का आश्रय प्रधानरूप से लेते हैं। लोग मुख्य रूपसे संकेत के द्वारा गोपाल के बालक आदिको स्वर्ग के अधिपति भाव इन्द्र को, और जो जीव अन्य भव में इन्द्र पदको प्राप्त करेगा उसको इन्द्र कहते हैं। इसलिए व्यवहार

नयके अनुसार नाम द्रव्य और भाव ये तीन निक्षेप हैं, स्थापना नहीं है।

मूलम्–तन्नानवद्यं यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिकोऽनर्पितभेदः परिपूर्णो वा नैगमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यवश्यमभ्युपेयम्, सङ्ग्रह–व्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनात्।

अर्थः–यह कथन निर्दोष नहीं है, कारण संग्रहिक असंग्रहिक अथवा भेदकी विवक्षा न करने वाला परिपूर्ण नैगम स्थापना को मानता है– यह अवश्य मानना होगा। संग्रह और व्यवहार से भिन्न द्रव्यार्थिक में स्थापना का त्याग नहीं है इससे यह तत्त्व सिद्ध होता है।

विवेचना–संग्रह और व्यवहार में स्थापना के त्याग का प्रतिपादन करनेवाला वादी जिन हेतुओंको कहता है वे हेतु संग्रह और व्यवहार का विरोध नहीं प्रकट करते। वे हेतु नाममें स्थापना का अन्तर्भाव करते हैं और इस कारण वादी स्थापनाके त्यागको स्वीकार करता है। विचार कर देखा जाय तो अन्तर्भाव मानने पर स्थापना का स्वीकार आवश्यक हो जाता है। संग्रह और व्यवहार जब नामको स्वीकार करते हैं तो नामके अन्तर्गत स्थापना को स्वीकार करते हैं–यह मानना होगा। नामसे स्थापना का स्वरूप भिन्न हो और उसका संग्रह और व्यवहार के साथ संबंध न हो सकता हो, तब स्थापना का त्याग कहा जा सकता है।

जिन हेतुओंसे नाममें स्थापनाका अन्तर्भाव कहा है वे भी युक्त नहीं हैं। इन्द्रपद केवल संकेत के बलसे ऐश्वर्यहीन गोपालके बालक रूप नामइन्द्र का वाचक है परन्तु इन्द्रकी प्रतिमामें इन्द्र पदका प्रयोग संकेत के कारण नहीं होता। इन्द्र पदका प्रयोग गोपाल बालक के लिए जिस प्रकार होता है इस प्रकार इन्द्र प्रतिमाके लिए भी होता है, इतने से यदि नाम और स्थापना का अभेद माना जाय तो नाम के द्वारा द्रव्यका भी अन्तर्भाव मानना चाहिए। द्रव्य इन्द्र में भी इन्द्र पद का प्रयोग होता है। यदि आप भावके साथ संबंध का भेद होनेसे नाम और द्रव्यका भेद स्वीकार करें तो नाम और स्थापना में भी भेद मानना होगा। द्रव्य परिणामी कारण है द्रव्यभावरूप में परिणत होता है। नाम का परिणाम भाव रूप में नहीं होता इन्द्र नाम स्वर्गाधिपति इन्द्र के रूपमें नहीं हो जाता। इन्द्र नाम केवल संकेत के बलसे गोपाल के बालकका प्रतिपादन करता है। इस कारण नाम और द्रव्यका भेद हो तो नाम और स्थापना का भी भेद अपरिहार्य हो जाता है। स्थापना के साथ नामका संबंध केवल संकेत के कारण नहीं है। ऐश्वर्यरूप अर्थके साथ संबंध होनेसे इन्द्र पदका संकेत भाव इन्द्रमें जिस प्रकार होता है इस प्रकार इन्द्र प्रतिमा रूप स्थापना में नहीं होता। प्रतिमा स्वर्गपर शासन नहीं करती स्थापना में इन्द्र पद का प्रयोग मुख्य रूप से नहीं है। सादृश्य के कारण स्थापना में इन्द्र पद का प्रयोग होता है। सादृश्य रूप संबंध भी सद्भाव स्थापना में होता है। असद्भाव स्थापना में

तो सादृश्य भी प्रयोजक नहीं होता। वहाँ केवल अभिप्राय प्रयोजक होता है। नाम निक्षेप में अभिप्राय प्रयोजक नहीं होता—इस लिए नाम के द्वारा स्थापना का अन्तर्भाव युक्त नहीं है। नाम आदि चारों का भिन्न स्वरूप के साथ संबंध संग्रह और व्यवहार में स्वीकार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह वादी संग्रह और व्यवहार से भिन्न द्रव्यार्थिकमें स्थापना का स्वीकार मानता है। संग्रह और व्यवहार से भिन्न नैगम नय द्रव्यार्थिक है इस विषय में मतों का भेद नहीं है। अब इस वादी को नैगम में स्थापना का स्वीकार मानना होगा। नैगम के तीन भेद किये जाते हैं। एक संग्रहिक है, दूसरा असंग्रहिक है, तीसरा परिपूर्ण नैगम है। इन तीनों नैगमों में स्थापना को मान लेने पर संग्रह और व्यवहार में भी स्थापना का निक्षेप आवश्यक हो जाता है।

मूलम्—तत्राद्यपक्षे संग्रहे स्थापनाभ्युपगमप्रसङ्गः संग्रहनयमतस्य संग्रहिक नैगममतविशेषात्। द्वितीये व्यवहारे तदभ्युपगमप्रसङ्गः, तन्मतस्य व्यवहारमतादविशेषात्।

अर्थः—इनमें से पहला पक्ष हो तो संग्रहमें स्थापना को स्वीकारकरना पडेगा, कारण, संग्रह नयके के मतमें और संग्रहिक नैगम के मतमें कोई भेद नहीं है। दूसरा पक्ष हो तो व्यवहारमें स्थापना को स्वीकार करना पडेगा, कारण, असंग्रहिक नैगम और व्यवहारके मतमें भेद नहीं है।

विवेचनाः–संग्रहिक नैगम संग्रह के मतको मानता है। संग्रह जिस प्रकार सामान्य को स्वीकार करता है इस प्रकार संग्रहिक नैगम भी सामान्य को स्वीकार करता है। यदि संग्रह के मत को मानने वाला नैगम स्थापना को मानता है तो संग्रह को भी समान मत होने से स्थापना को मानना पडेगा। यदि आप असंग्रहिक नैगम के मतमें स्थापना को स्वीकार करते हैं तो व्यवहार नयमें स्थापना को मानना पडेगा। असंग्रहिक नैगम व्यवहार नय के मतको मानता है। व्यवहार नय जिस प्रकार विशेष को स्वीकार करता है। इस प्रकार असंग्रहिक नैगम भी विशेष को स्वीकार करता है। यदि असंग्रहिक नैगम स्थापना को माने तो समान मत होने से व्यवहार में भी स्थापना आवश्यक हो जाती है।

मूलम्–तृतीये च निरपेक्षयोः संग्रहव्यवहारयोः स्थापनाभ्युपगमोपपत्तावपि समुदितयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमस्य दुर्निवारत्वम् अविभागस्थान्नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकभागग्रहणात्।

अर्थः–तीसरे पक्षको माना जाय तो निरपेक्ष संग्रह और व्यवहारमें स्थापना का अस्वीकार हो सकता है पर परस्पर मिले हुए संग्रह और व्यवहार संपूर्णनैगम के स्वरूप में हो जाते हैं इस लिए उनको स्थापना स्वीकार करना पडेगा। विभाग रहित नैगम नयके एक एक भागको संग्रह और व्यवहार स्वीकार करते हैं।

विवेचनाः–परिपूर्ण नैगम संग्रह और व्यवहारसे विलक्षण है इसलिए यदि वह स्थापना को स्वीकार करे तो संग्रह और व्य-

वहार के अनुसार स्थापना अनिवार्य नहीं होती पर परस्पर मिलकर संग्रह और व्यवहार संपूर्ण नैगम के समान हो जाते हैं। इस दशा में संपूर्ण नैगम के एक एक भाग को लेनेवाले संग्रह और व्यवहार के लिए भी स्थापना आवश्यक हो जाती है।

मूलम्–किञ्च, संग्रहव्यवहारयोर्नैगमान्तर्भावात्स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तत्रान्तर्भूतमेव, उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य प्रत्येकमप्रवेशेऽपि स्थापनालक्षणस्यैकधर्मस्य प्रवेशस्य सुपपादत्वात्, स्थापना सामान्यतद्विशेषाभ्युपगममात्रेणैव संग्रहव्यवहारयोर्भेदोपपत्तेरिति यथागमं भावनीयम्।

अर्थः–और भी, संग्रह और व्यवहारमें नैगमका अन्तर्भाव है इसलिए स्थापना का स्वीकार रूप जो नैगमका मत है वह भी उन दोनों के अन्तर्गत है। उभय धर्मरूप अर्थात् सामान्यविशेष रूप विषय किसी एकमें नहीं प्रविष्ट होता पर स्थापना रूप एक धर्म के प्रवेशका उपपादन सरलता से हो सकता है। स्थापना सामान्य और स्थापना विशेष मान लेने से संग्रह और व्यवहारका भेद संगत हो सकता है, इस रीतिसे आगमके अनुसार विचार करना चाहिए।

विवेचनाः–नैगम दो प्रकार का है। एक केवल सामान्य का प्रतिपादन करता है और दूसरा केवल विशेषका। सामान्य वादी नैगमका संग्रहमें और विशेषवादी नैगमका व्यवहार में अन्तर्भाव है, इस कारण स्थापना का स्वीकार रूप जो नैगम का मत

है, वह भी संग्रह और व्यवहार का सिद्ध हो जाता है। परिपूर्ण नैगम का विषय सामान्य भी है और विशेष भी, इन दोनों का प्रवेश अकेले संग्रह और अकेले व्यवहार में नहीं हो सकता, परंतु स्थापनारूप धर्म का प्रवेश दोनों में हो सकता है। सामान्य और विशेष रूप दोनों स्थापनाओंका स्वीकार परिपूर्ण नैगममें है। संग्रह केवल सामान्यको और विशेषको केवल व्यवहार स्वीकार करता है। इसलिए दोनों को अकेला संग्रह और अकेला व्यवहार यद्यपि स्वीकार नहीं कर सकता पर स्थापना के स्वीकार रूप धर्मको दोनों स्वीकार कर सकते हैं। सामान्य स्थापना जिस प्रकार स्थापना है इस प्रकार विशेष स्थापना भी स्थापना है इसलिए स्थापना का स्वीकार नैगमके समान संग्रह और व्यवहार में भी समान रूपसे है।

यदि आप कहें यदि दोनों स्थापना को स्वीकार करते हैं तो इस विषयमें संग्रह और व्यवहार का भेद नहीं रहेगा। तो यह शंका युक्त नहीं है, सामान्य स्थापना को स्वीकार करना संग्रह का और विशेष स्थापना को स्वीकार करना व्यवहार का असाधारण धर्म है अतः दोनों का भेद भी है।

मूलम्-एतश्च नामादिनिक्षेपैर्जीवादयः पदार्था निक्षेप्याः।

अर्थः-इन नाम आदि निक्षेपोंके द्वारा जीव आदि पदार्थोंका निक्षेप करना चाहिए।

-:जीवके विषयमें निक्षेपः-

मूलम्-तत्र यद्यपि यस्य जीवास्याजीवस्य वा जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापना-जीवः, औपशमिकादिभावशाली भावजीव इति जीव-विषयं निक्षेप त्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिक्षेपः।

अर्थः-जिस जीव अथवा अजीवका जोव यह नाम कर दिया जाता है वह नाम जीव है। देवता आदिकी प्रतिमा स्थापना जीव है, औपशमिक आदि भावों से जो युक्त है वह भाव जीव है, इस प्रकार जीवके विषयमें तीन निक्षेप हो सकते हैं, पर द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता।

विवेचनाः-चेतन अथवा अचेतन अर्थको जीव नाम दिया जाय तो वह नाम जोव है। मनुष्य आदि जीवों के भेद हैं, वे सब सामान्य रूपसे जीव हैं। वे सब जीव जीवनसे युक्त हैं। इनका जब जीव नाम है तब वह वाच्य अर्थसे युक्त होता है। जब अचेतन काष्ठ आदिका जीव नाम धर दिया जाता है तब वह जीवन रूप वाच्य अर्थसे रहित होता है इस दशामें यह नाम ही जीव है। जब किसी अचेतन वस्तुका जीव नाम रख दिया जाता है तब वह अचेतन, नाम जीव कही जाती है। जिस प्रकार स्वर्ग के अधिपति इन्द्र से भिन्न गोपाल का बालक नामसे इन्द्र कहा जाता है इस प्रकार जीवसे भिन्न अचेतन अर्थ नामसे जीव कहा जाता है।

देवता, मनुष्य आदिकी प्रतिमाका स्थापन जीव बुद्धिसे किया जाय तो वह प्रतिमा स्थापना जीव कहा जाता है। देवता

और मनुष्य शरीरधारी हैं इस दशामें शरीरका जो आकार है वह आकार आकाररहित जीव का भी मान लिया जाता है। इन्द्र की प्रतिमा इन्द्र की बुद्धि से बनाई जाती है और वह स्थापना इन्द्र कहलाती है। इस प्रकार जीव की कोई प्रतिमा बनाई जाय और उसमें जीव बुद्धि का स्थापन किया जाय तो वह प्रतिमा, देवता की हो वा मनुष्य आदिकी, स्थापना जीव है।

औपशमिक आदि भावोंसे युक्त जीव भाव जीव है। जीव ज्ञान स्वरूप है, कर्म पुद्गलोंके उपशम आदि के कारण ज्ञानके परिणाम भिन्न प्रकारके हो जाते हैं। ये समस्त परिणाम सदा जीवमें नहीं होते परंतु कोई न कोई परिणाम अवश्य रहता है। चैतन्य आत्माका असाधारण स्वरूप है उससे रहित आत्मा कभी नहीं होता। अग्नि जिस प्रकार उष्णता से रहित नहीं होता इस प्रकार जीव कभी चैतन्यसे रहित नहीं होता। कर्म के कारण ज्ञान के परिणाम अनेक प्रकारके होते रहते हैं, इन परिणामोंसे युक्त जीव भावजीव है।

इस प्रकार जीवके विषयमें नाम स्थापना और भाव ये तीन निक्षेप हो सकते हैं–परन्तु द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता।

मूलम–अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः सन्नायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सन्नायत्यां देवो भविष्यत् (न्) द्रव्यदेव इति। न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिधनः पारिणामिको भाव इष्यत इति।

अर्थः-यह तब हो सकता था, यदि अजीव होता हुआ कोई अर्थ भावी कालमें जीव हो जाता। जिस प्रकार जो देव नहीं है वह देव होने वाला हो तो द्रव्यदेव कहा जाता है परन्तु यह सिद्धान्त में इष्ट नहीं है, कारण, जीवत्व आदि और अन्तसे रहित परिणामिक भाव माना जाता है।

विवेचनाः-वर्तमान कालमें जो पर्याय है उसका कारण स्वरूप अर्थ, द्रव्य कहा जाता है। घट वर्तमान कालका परिणाम है। मृत्पिंड इसका कारण है, वह घट के रूपमें नहीं है-इसलिए द्रव्य घट कहा जाता है। यदि कोई जीवभिन्न अर्थ अन्य काल में जीव रूपसे परिणाम को प्राप्त हो सके तो कारण होनेसे उसको द्रव्य जीव कहा जा सकता है। परन्तु जीव न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। जो अर्थ जीवसे भिन्न चेतनाशून्य है वह कभी जीव स्वरूप को नहीं प्राप्त करता। जो अभी मनुष्य है परन्तु पीछे कभी देवरूपमें होगा वह मनुष्य होता हुआ भी द्रव्य देव है। परन्तु अजीव और जीवका परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं है, इसलिए कोई भी अर्थ द्रव्य जीव नहीं हो सकता।

मूलम्-तथापि गुणपर्यायवियुक्तत्वेन बुद्धया कल्पितोऽनादिं पारिणामिकभाववयुक्तो द्रव्यजीवः,, शून्योऽयं भङ्ग इति यावत्, सतां गुणपर्यायाणां बुद्धयापनयस्य कर्तुमशक्यत्वात् न खलु ज्ञानायत्तार्थपरिणतिः किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति।

-यहाँ पर "सतां गुणपर्यायाणां" से पहले "शून्योऽयं भंग इति यावत्" इतना पाठ नहीं होना चाहिए

किन्तु "द्रव्यजीवः" इसके अनन्तर "इति केचित् तन्न" इतना पाठ होना चाहिए। "तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति" इसके अनन्तर "शून्योऽयं भंग इति यावत्" इतना पाठ होना चाहिए। इस प्रकार पाठ को मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा—

अर्थः-तो भी गुण और पर्यायसे रहित रूपमें बुद्धिके द्वारा कल्पित किआ हुआ अनादि पारिणामिक भावसे युक्त द्रव्य जीव है। यह मत युक्त नहीं, जो गुण और पर्याय विद्यमान हैं उनको कल्पनासे नहीं हटाया जा सकता। पदार्थका परिणाम ज्ञान के अधीन नहीं है किन्तु अर्थ जिस जिस रूपसे परिणाम को प्राप्त करता है उस उस रूपसे ज्ञान प्रकट होता है।

विवेचनाः—द्रव्यका गुण और पर्यायोंके साथ जो सम्बन्ध है वह किसी कालमें दूर नहीं होता परन्तु उसकी कल्पना की जा सकती है। वस्तुका जो स्वरूप है उसके विरुद्ध अर्थ सत्य रूपमें नहीं हो सकता परन्तु कल्पनाके द्वारा न्यून और अधिक परिणाम में वह विरुद्ध किया जा सकता है। एक मनुष्य जब तक मनुष्य है तब तक उसके शरीर पर सिंहका सिर नहीं है परन्तु सिंहके सिरवाले मनुष्यकी कल्पना हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्यके शरीरमें पंख नहीं होते परन्तु कल्पनाके द्वारा उसमें पंख लगाये जा सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्य यद्यपि किसी कालमें गुण और पर्यायोंसे रहित नहीं होता तो भी द्रव्यके इस प्रकार के स्वरूपकी कल्पना की जा सकती है जिसमें गुण और पर्याय न हों। इस

प्रकारका गुण और पर्यायसे रहित जीव पीछेके कालमें गुण और पर्यायसे युक्त हो सकता है। इस प्रकारके कल्पित जीवको गुण और पर्यायसे विशिष्ट जीवका कारण होनेसे द्रव्य जीव कहा जा सकता है। कुछ लोग इस प्रकार जीवके विषयमें भी द्रव्य निक्षेपका प्रतिपादन करते हैं।

परन्तु यह युक्त नहीं है। जो वस्तु विद्यमान है उसके विरुद्ध कल्पना हो सकती है, परन्तु कल्पना के अनुसार अर्थका परिणाम नहीं होता। मनुष्यके शरीरमें कल्पनासे सिंहका सिर लगा देने पर भी वास्तवमें सिरका सम्बन्ध नहीं होता और न ही मनुष्यके शरीर पर पँख हो जाते हैं। इसी प्रकार अनादि पारिणामिक चैतन्यसे युक्त जीव किसी भी समयमें गुण और पर्यायोंसे रहित नहीं हो सकता। अतः इस प्रकारका कल्पित जीव भाव जीवकी अपेक्षासे द्रव्य जीव नहीं हो सकता। इस लिये जीवके विषय में द्रव्य निक्षेप नहीं है।

यहाँ पर तर्क भाषाके मुद्रित पाठमें इतना फेरफार किया जाय तो उपाध्यायजी ने तत्त्वार्थ सूत्रके न्यास प्रतिपादक भाष्य की जिस प्रकार व्याख्या की है उसके साथ पूर्ण संगति हो जाती है।

मूलम्—न चैवं नामादिचतुष्टयस्य व्यापिता भङ्गः यतः प्रायः सर्वपदार्थेष्वन्येषु तत् सम्भवति। यद्यत्रैकस्मिन्न सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति वृद्धाः।

अर्थः—इस प्रकार होनेसे नाम आदि चार निक्षेपोंकी व्यापकताका भङ्ग हो जाता है यह नहीं मान लेना चाहिए। कारण, प्रायः अन्य समस्त पदार्थों में वे हो सकते हैं यदि यहाँ एकमें नहीं होते तो इतने से उनकी व्यापकता दूर नहीं होती यह वृद्ध लोगों का कहना है।

विवेचनाः—अनुयोग द्वारमें कहा है—जो भी अर्थ हो उसमें चारों निक्षेपोंका सम्बन्ध करना चाहिए—

"जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवे णिरवसेसं ।
जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कयं णिक्खिवं तत्थ ॥"
[अनुयोग द्वारे सू. १] इति।

इस वचनसे निक्षेप वस्तुमात्रके व्यापक प्रतीत होते हैं। यदि जीवमें द्रव्यका निक्षेप न हो सके तो व्यापकताका भङ्ग हो जाता है। इसके उत्तरमें कहते हैं, अधिक पदार्थों के साथ सम्बन्ध होनेसे यहाँ पर व्यापकता कही गई है। कुछ एक अर्थोंमें यदि किसी निक्षेप का संबंध न हो तो इतनेसे व्यापकता का भङ्ग नहीं हो जाता। तत्त्वार्थ सूत्रके भाष्य की टीकामें इस वस्तुका प्रतिपादन है। (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञभाष्यटीकालङ्कृत, प्रथम अध्याय, सूत्र ५ पृष्ठ ४८.)

मूलम्—जीवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्यजीव इत्यप्याहुः।

अर्थः—जो जीव शब्दके अर्थको जानता है किन्तु जीवके विषयमें किसी कालमें उपयोग से शून्य है वह पुरुष उस कालमें द्रव्य जीव है यह भी कुछ लोग कहते हैं।

विवेचनाः—जो लोग निक्षेपोंकी व्यापकताको सिद्ध करना चाहते हैं उनमें से कुछ लोग शास्त्रकी परिभाषाका आश्रय लेकर जीवके विषयमें द्रव्य निक्षेपका निरूपण करते हैं। "अनुपयोगो द्रव्यम्" इस प्राचीन परिभाषाके अनुसार उपयोगके अभाव को द्रव्य कहते हैं। इसलिए जीव शब्दके अर्थका ज्ञान होने पर भी जब जीवके विषयमें उपयोग नहीं है तब पुरुष द्रव्यजीव कहा जा सकता है।

इस विषयमें उपाध्यायजी इस उत्तरको बहुत युक्त नहीं समझते। निक्षेपके प्रकरणमें मुख्य रूपसे द्रव्य वह होता है जो भावका कारण हो पर स्वयं भाव रूप न हो। द्रव्यका यह मुख्य स्वरूप जीवमें नहीं हो सकता।

मूलम्—अपरे तु वदन्ति—अहमेव मनुष्यजीवो [द्रव्यजीवो] ऽभिधातव्यः उत्तरं देवजीवमप्रादुर्भूतमाश्रित्य अहं हि तस्योत्पित्सोर्देव जीवस्य कारणं भवामि यतश्चाहमेव तेन देवजीवभावेन भविष्यामि, अतोहमधुना द्रव्यजीव इति। एतत्कथितं तैर्भवतिपूर्वः पूर्वो जीवः परस्य परस्योत्पित्सोः कारणमिति। अस्मिंश्च पक्षे सिद्ध एव भावजीवो भवति नान्य इति एतदपि नानवद्यमिति तत्त्वार्थटीकाकृतः

अर्थः—अन्य लोग कहते हैं—जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ इस प्रकारके उत्तर कालमें होनेवाले देव जीवकी अपेक्षासे मैं मनुष्य जीव ही द्रव्य जीव हूँ इस प्रकार

कहना चाहिए । कारण, इस उत्पन्न होनेवाले देव जीवका मैं कारण हूँ । मैं ही उस देव जीवके स्वरूपमें होऊँगा इसलिये मैं अब द्रव्य जीव हूँ । उनके कहनेका अभिप्राय इस प्रकार है- पूर्व पूर्व कालका जीव उत्पन्न होनेवाले पर पर कालके जीवका कारण है । इस पक्ष में सिद्ध ही भाव जीव हो सकता है, अन्य नहीं इस कारण यह मत भी दोष रहित नहीं है, यह तत्त्वार्थकी टीकाके कर्ता कहते हैं ।

विवेचनाः—जो लोग कारण को द्रव्य मानकर जीवके विषयमें द्रव्य निक्षेपका प्रतिपादन करते हैं उनके मतका निरूपण और उसमें दोषका प्रतिपादन उपाध्यायजीने तत्त्वार्थके टीकाकारके अनुसार किया है ।

जो अभी मनुष्य है पर कालान्तरमें देव रूपसे स्वर्गमें उत्पन्न होगा वह देव जीवका कारण है । मृत्पिंड जिस प्रकार घट रूपमें परिणत होता है इस प्रकार मनुष्यका जीव देव जीवका कारण है । इस रीतिसे कुछ लोग उत्पत्ति और विनाशसे रहित जीवके भी उत्पादक जीवका प्रतिपादन करते हैं । कार्यकी अपेक्षा कारण पूर्व कालमें होता है । देव जीव उत्तर कालका है, मनुष्य जीव पूर्व कालका है, इसलिए इन दोनों जीवोंमें कार्य—कारणभाव हो सकता है यह कुछ लोगोंका द्रव्य जीवके विषयमें मत है । तत्त्वार्थ के टीकाकार कहते हैं, यदि इस मतको मानकर द्रव्य जीवका उपपादन किया जाय तो मनुष्य आदि सभी जीव द्रव्यजीव हो जायेंगे । एक

भवका जीव उत्तर कालके भवके जीव का कारण होता है इस अपेक्षाके अनुसार समस्त जीव. द्रव्य जीव हो जायेंगे, कोई भाव-जीव नहीं रहेगा। कार्य दशामें अर्थ भाव है और कारण दशा में द्रव्य है। एक ही कालमें एक ही अर्थ कार्यरूप और कारणरूप नहीं हो सकता इस मतको मान लेने पर केवल एक सिद्ध ही भाव जीव हो सकेगा। सिद्ध हो जानेके अनंतर जीव अन्य भवमें उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह भावरूपमें ही रहेगा। जितने भी संसारी जीव हैं वे सब इस मतके अनुसार द्रव्य हो जायेंगे कोई भी भाव जीव न हो सकेगा। वास्तवमें संसारके सभी जीव भावजीव हैं अतः इस रीतिसे द्रव्य जीवका स्वरूप उचित नहीं है।

मूलम्– इदं पुनरिहावधेयं–इत्थं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाविरोधः, एकवस्तुगतानां नामादीनां भावाविनाभूतत्वप्रतिपादनात्। तदाह भाष्यकारः–"अहवा वत्थूभिहाणं नामं ठवणा य जो तयागारो कारणया से दव्वं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥१॥" [६०] इति।

अर्थः–यहाँ यह ध्यान देने योग्य है– इस प्रकार संसारी जीवके द्रव्य होने पर भी भावत्वका विरोध नहीं होगा। एक वस्तुमें रहनेवाले नाम आदिका भावके साथ अविनाभाव है, इस वस्तुका प्रतिपादन शास्त्र में है। भाष्यकार कहते हैं– अथवा वस्तुका अभिधान नाम है, उसका आकार स्थापना है, भावा

पर्यायके प्रति कारणता द्रव्य है और कार्य दशामें वह वस्तु भाव है ।

विवेचनाः—तत्त्वार्थके टीकाकार कहते हैं यदि मनुष्य जीवको देव जीवका कारण होनेसे द्रव्य जीव कहा जाय तो वह द्रव्य जीव ही रहेगा वह भाव जीव न हो सकेगा, इस प्रकार संसारी जीवमें भावका निक्षेप व्यापक नहीं रहेगा । जो सिद्ध जीव भाव जीव होगा वह द्रव्य जीव न हो सकेगा । इस प्रकार निक्षेप अव्यापक रहेगा । उपाध्यायजी कहते हैं— टीकाकारजीने द्रव्य जीवका प्रतिपादन करनेवाले इस मतमें जिस रीतिसे निक्षेपकी अव्यापकता का निरूपण किया है वह उचित नहीं है । जो संसारी जीव अन्य भवके जीवका कारण होनेसे द्रव्य है वह भाव भी हो सकता है । एक अर्थ, कारण होनेसे द्रव्य और कार्य दशामें होनेसे भाव कहा जाय तो इसमें कोई बाधक नहीं है । जो जीव संसारी है वह अनादि पारिणामिक जीव भावसे युक्त है इसलिए भाव जीव है, देव जीवका कारण है इसलिए द्रव्य भी है । विशेषावश्यकके भाष्यकार एक अर्थमें द्रव्य और भावका प्रतिपादन करते हैं ।

मूलम्— केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वव्यवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेर्देवत्वादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतुत्वादिति ।

अर्थः—इस प्रकार मानने पर केवल सामान्य जीवकी अपेक्षासे द्रव्य जीवका व्यवहार न हो सकेगा । मनुष्य

आदि देवभावसे विशिष्ट जीवके प्रति ही कारण है। उपाध्यायजी स्वयं उक्तमतमें दोषका प्रतिपादन इस रीतिसे कहते हैं- जो मनुष्य देव जीवका कारण हैं उसको द्रव्य देव कहा जा सकता है, पर द्रव्य जीव नहीं कहा जा सकता। घट का कारण होने से मृत्पिडको द्रव्य घट कहते हैं. द्रव्य पृथिवी नहीं कहते। जो मनुष्य जीव है वह स्वयं अजीव होकर जीवका कारण नहीं हैं इसलिए सामान्य जीवकी अपेक्षा द्रव्य जीव नहीं कहा जा सकता। मनुष्य और देवमें कार्य कारणभाव होनेसे सामान्य जीवकी अपेक्षा किसी अर्थमें कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध होता। अतः सामान्य जीवकी अपेक्षासे जीवके विषयमें द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता।

इस कारण जो निक्षेपमें अव्यापकता है उसको मानना चाहिए। जीव क्या, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय भी इस प्रकार के अर्थ जिनमें द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता। यदि कोई इस प्रकार का अर्थ हो जो स्वयं धर्मास्तिकायके रूपमें न हो और धर्मास्तिकायका कारण हो तो वह द्रव्य धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है। परन्तु इस प्रकारका अर्थ नहीं है, अतः धर्मास्तिकायमें द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता। अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायमें भी इसी प्रकार द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता।

कुछ अर्थोंमें किसी निक्षेपके न होने पर भी प्रायः सब अर्थोंमें चारों निक्षेप हो सकते हैं इसलिए इसको व्यापक कहा गया है।

मूलम्– अधिकं नयरहस्यादौ विवेचितमस्माभिः ।

अर्थः–अधिक विचार हमने नयरहस्य आदिमें किया है ।

इति महामहोपाध्याय श्री कल्याण विजयगणि शिष्य मुख्य
पंडित श्री लाभविजयगणि शिष्यावतंस पंडित श्री
जीतविजयगणिसतीर्थ्य पण्डित श्री नय
विजय गणि शिष्येण पण्डित श्री पद्म-
विजयगणि सोदरेण पण्डित यशो
विजयगणिना विरचितायां
जैन तर्क भाषायां निक्षेप
परिच्छेदः संपूर्णः, तत्सं-
पूर्तौ च संपूर्णेयं जैन
तर्क भाषा ॥

अर्थः–पंडित यशोविजयगणिके द्वारा रचित जैन तर्क भाषा में निक्षेप परिच्छेद पूर्ण हो गया और उसके पूर्ण होने पर यह जैन तर्क भाषा समाप्त हुई ।

अन्तिम वाक्यके अन्य पदोंकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

॥ इति निक्षेप परिछेदः ॥

मूलश्लोकः—

सूरिश्री विजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ,
सूरिश्री विजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासनं भेजुषि ।
तत्सेवाऽप्रतिमप्रसादजनितश्रद्धानशुद्धया कृतः,
ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं
तथा ॥ १ ॥

अर्थः—श्री विजयदेवसूरि गुरुजीके पाट रूप आकाशमें श्री विजयसिंहसूरि गुरुजी जब इन्द्रके आसनपर प्रतिष्ठित हो गये तब उनकी सेवाके अनुपम प्रसादसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ उसकी निर्मलता के कारण इस ग्रन्थकी रचना हुई है । यह ग्रन्थ पण्डितोंके कुलमें आनन्द और विनोदका प्रसार करता रहे ॥१॥

श्लोकः—

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः, भ्राजन्ते सनया नयादि विजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः । प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः, तेन न्यायविशारदेन रचिता स्तात्तर्कभाषा मुदे ॥ २ ॥

अर्थः—उत्कृष्ट आशयवाले पंडित जीतविजय जिसके गुरु थे और नय युक्त पण्डित नयविजय जिसके विद्यादाता बिराजमान हो रहें हैं, जिसके प्रेमका निवासरूप पंडित पद्मविजय सगाभाई है उस न्यायविशारदने तर्क भाषा की रचना की है । यह तर्क भाषा आनंद के लिए होती रहे ॥२॥

मूलश्लोकः-

तर्कं भाषामिमां कृत्वा मया यत्पुण्यमर्जितम् ।
प्राप्नुयां तेन विपुलां परमानंदसम्पदम् ॥३॥

अर्थः-इस तर्कभाषाकी रचना करके जो पुण्य मैंने प्राप्त किया है उसके द्वारा मैं परमानन्दकी विशाल संपत्ति को प्राप्त करूं ॥३॥

मूलश्लोकः-

पूर्वं न्यायविशारदत्वकिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम्
शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः
तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यात-
वान् ॥ ४ ॥

अर्थः-जिसको पूर्वकालमें पण्डितोंने काशीमें न्यायविशारद की उपाधि दी थी । उसके अनन्तर सौ ग्रन्थों की रचना कर चुकने पर न्यायाचार्य पद अर्पण किया। उत्कृष्ट पण्डित नयविजयजीके शिशु यशोविजय इस नामके धारण करनेवालेने शिष्योंकी प्रार्थनासे इस तत्त्वको संक्षेपसे कहा ॥४॥

मनः कामना

अध्यापन के काल में मुनो श्री रत्नभूषण विजयजी और मुनी श्री हेमभूषण विजयजी से प्रेरित होकर-

महा महोपाध्याय श्री यशो विजयजी गणिवरकृत

-जैन तर्क भाषा-

की

हिन्दी भाषा में विवेचन, सहित जिस टीका का आरंभ मौद्गल्य ईश्वर चन्द्र शर्मा ने किया था-वह समाप्त हुई।

"इस टीका के द्वारा तर्क प्रेमियों को जैन तर्क के तात्विक स्वरुप को समझने में सहायता मिले यह टीकाकार की कामना है"

-इति सविवेचना जैन तर्क भाषा-



अन्वीक्षण

आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या समस्त विद्याओं के लिये दीपक के समान उपकारक है । प्रमाणों और नयों का आश्रय लेकर अन्य विद्याएं अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण करती है । वे प्रमाण और नयों का निरूपण नहीं करती । अन्य विद्याओं के द्वारा जिन साम-दंड आदि का और कृषि आदि का प्रतिपादन होता है । उनमें भी न्याय विद्या उपाय है । न्याय विद्या जिन उपायों का प्रतिपादन करती है, उन उपायों के द्वारा समस्त विद्याएँ बुद्धिमानों को लाभदायक कार्यों में प्रवृत्त करती है, और हानिकारक कार्यों से निवृत्त करती है ।

इस लिये जीवन में तर्क का अभ्यास शरीर में प्राण के समान आवश्यक है । समस्त जीव तर्क के अभ्यास से आत्म - हित की साधना में प्रवृत्त हों - यही मंगल कामना..... ।

- आ. वि. रत्नभूषण सूरि

प्रमाण - नय - निक्षेप

जो अपने और अर्थ के स्वरूप का निश्चय कराता है - वह ज्ञान प्रमाण है ।

श्रुत प्रमाणसे जिस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन होता है उसके एक अंश का प्रतिपादन करनेवाले और अन्य अंशों का निषेध न करनेवाले जो ज्ञान विशेष हैं - वे नय हैं ।

प्रकरण में जो अर्थ प्रतिपाद्य रुपसे अभिमत है, उसका बोध कराने के लिये और जो अर्थ प्रकरण के अनुकूल नहीं है उसका निराकरण करने के लिये शब्द और अर्थ के जो विशिष्ट स्वरूप है- उसको निक्षेप कहा जाता है ।

प्रमाण-नय और निक्षेपों के द्वारा अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के अनेकान्त स्वभाव का ज्ञान प्राप्त होता है । एकान्तवाद से पदार्थ का स्वरूप विकृत हो जाता है, और वह राग-द्वेष का जनक बन जाता है ।

अनेकान्त का आश्रय करने पर व्यवहार में शान्ति और परमार्थ में सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति होती है - जो मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन है ।

आ. श्री विजय जिनमृगांक सूरीश्वरजी विनेय

- आ. वि. रत्नभूषण सूरि

MAHAVIR PRINTERS 9427104702